HINDI SAHITYETIHAS LEKHAN KI DRISHTIYAN: EK TULANATMAK ADHYAYAN

A Thesis submitted during (year) 2015 to the University of Hyderabad in partial fulfillment of the award of a Ph.D. degree in Department of Hindi, School of Humanities.

By

AVINASH K.

04HHPH06

2015

Department of Hindi
School of Humanities

University of Hyderabad
(P.O.) Central University,
Prof.C.R.Rao Road
Gachibowli
Telangana, India

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दृष्टियाँ: एक तुलनात्मक अध्ययन

हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी.(हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

शोधार्थी

अविनाश के.

04HHPH06

2015

हिन्दी विभाग

मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद - 500046

तेलंगाना, भारत

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled "**HINDI SAHITYETIHAS LEKHAN KI DRISHTIYAN: EK TULANATMAK ADHYAYAN"** (हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दृष्टियाँ: एक तुलनात्मक अध्ययन) submitted by **AVINASH K.** bearing **Regd.No.04HHPH06** in partial fulfillment of the requirement for the award of Doctor of Philosophy in Hindi is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance which is a plagiarism free thesis.

The thesis has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of Supervisor

Head of the Department

Dean of the school

DECLARATION

I, AVINASH K. hereby declare that this thesis entitled "**HINDI SAHITYETIHAS LEKHAN KI DRISTIYAN: EK TULANATMAK ADHYAYAN"** (हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दृष्टियाँ: एक तुलनात्मक अध्ययन) submitted by me under the guidance and supervision of **Prof. Sachidananda Chaturvedi**, is a bonafide research work which is also free from plagiarism. I also declare that this thesis has not been submitted previously in part or full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

I hereby agree that my thesis can be deposited in *Shodhganga/* INFLIBNET.

Date: 23/07/ 2015 (AVINASH K.)

भूमिका

प्रसिद्ध इतिहासकार ई.एच.कार ने लिखा है -"आधुनिक मनुष्य अन्य सभी युगों से ऐतिहासिकवादी है। आधुनिक मनुष्य अभूतपूर्वरूप से आत्मचेतन है और इसलिए इतिहास चेतना है, वह अपने पीछे की हल्की रोशनी में इस आशा से झाँकता हैं कि उसकी मद्धिम किरणें उसके गंतव्य के अंधेरे को रोशन करेंगी। और इसके विपरीत अपने गंतव्य के बारे में उसकी आकांक्षाओं और उद्वेगों से जो पीछे छूट गया है, उसमें उसकी अन्तर्दृष्टि और गहरे पैठती है। इतिहास की इस अनन्त श्रृंखला में अतीत, वर्तमान और भविष्य जुड़े हुए हैं।" अर्थात् इतिहास एक अविरल प्रवाह है, चाहे उसे एक 'वृत्त' में देखा जाए या एक 'रेखा' के रूप में। साहित्येतिहास साहित्यिक वस्तु और रूपों के विकास का इतिहास होने के अतिरिक्त समाज, संस्कृति एवं राजनीति का भी इतिहास होता है। साहित्य का विकास भी समाज के साथ होता है, कई बार साहित्यिक मानदंड़ों के आधार पर, किन्तु होता अविरल रूप में। ऐसे में यह संभव नहीं है कि प्रत्येक पीढ़ी की साहित्येतिहास दृष्टि एक-सी हो, उनके साहित्यिक मूल्यांकन के मानदण्ड एक हो। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा को इस दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा के विकास में साहित्येतिहासकार के पीढ़ियों का दृष्टिकोण, साहित्य-विषयक धारणाएँ, मूल्य, परम्परा के प्रति दृष्टिकोण आदि जाने-अनजाने अभिव्यक्त हुए हैं। इस रूप में साहित्येतिहासकार की भी अपनी वर्गीय चेतना होती है। इस बात का ध्यान रखकर प्रस्तुत अध्ययन में हिन्दी साहित्येतिहासकारों की दृष्टियों की तुलना प्रस्तुत की गई है।

इतिहास एवं साहित्येतिहास की अवधारणाओं में कई असमानताओं के बावजूद मूलभूत एकता है। साहित्येतिहास लेखन की परम्परा का अध्ययन कर साहित्येतिहासकारों की दृष्टियों की तुलना के लिए आवश्यक है कि साहित्येतिहास का अर्थ, उसका स्वरूप, उसकी व्याप्ति जान लें। साहित्येतिहास की अवधारणा को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम इतिहास को समझना चाहिए। इसी क्रम में इन दोनों के सम्बन्धों एवं इनमें आये मूलभूत अन्तर को समझने का प्रयास करें। **साहित्येतिहास की अवधारणा** शीर्षक प्रथम अध्याय में इतिहास एवं साहित्येतिहास की विभिन्न विद्वानों द्वारा की गई व्याख्याएँ, उसका अवधारणात्मक स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इतिहास एवं साहित्येतिहास की व्याख्याओं को प्रस्तुत करते समय इतिहास तथा साहित्येतिहास लेखकों के अतिरिक्त उसके सिद्धान्तकारों की व्याख्याओं को भी समुचित स्थान दिया गया है। इसके अनन्तर प्रस्तुत अध्याय में पश्चिम एवं भारत में

प्रायोगिक स्तर पर हुए ऐतिहासिक चेतना का विकास को भी संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में इतिहास, साहित्येतिहास की मूलभूत अवधारणाओं एवं उनके लेखन के आरंभिक प्रयासों तथा व्याख्याओं से हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में दृष्टिगत अध्ययन एवं तुलना करने के लिए विचारभूमि तैयार करने का प्रयास किया गया है।

आधुनिक अर्थों में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन का आरंभ गार्सा द तासी के इतिहास लेखन से होता है और उसे प्रौढ़ता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्येतिहास के रूप में प्राप्त होती है, किन्तु इतिहास का अध्ययन करते समय उसके लेखन के बीज रूपों का भी अध्ययन आवश्यक होता है। इस अर्थ में हमें अतीत में जाकर इस प्रकार के प्रयासों पर भी दृष्टिपात करनी पड़ती है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए हमने **शुक्लपूर्व हिन्दी साहित्येतिहास लेखन** शीर्षक द्वितीय अध्याय के आरंभ में ही 'हिन्दी साहित्येतिहास का अंकुरण काल' नामक उपशीर्षक की योजना की गई है। इसमें मध्यकालीन समझ के अनुसार जानबूझकर इतिहास लेखन का प्रयास न करते हुए भी इस दिशा में जिन भक्तों, सन्तों द्वारा 'कवि-वृत्त-संग्रहों' की रचना अथवा संग्रह हुआ, उनका अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह परम्परा नाभादास कृत 'भक्तमाल' से लेकर तासी पूर्व रचनाओं तक दिखाई गई है। इन ग्रंथों के सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल का मत अत्यन्त सारगर्भित एवं सही है, उन्होंने इन मध्यकालीन ग्रंथों को मात्र 'कवि-वृत्त-संग्रह' कहा था। आचार्य शुक्ल से पूर्व की हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा को मात्र कविवृत्त-संग्रह कहकर ठुकराया नहीं जा सकता है। साहित्येतिहास लेखन के ऐतिहासिक विकास में उनका भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। इससे भी पूर्व मध्यकाल से लिखे जा रहे एवं सम्पादित किए जा रहे, कवि-वृत्त संग्रहों को भी इसमें सम्मिलित किया जा सकता है। जैसे दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, भक्तमाल, आदिग्रंथ आदि। इनके महत्व को ध्यान में रखकर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में इसके महत्व को समझते हुए, चाहे वह सामग्री के रूप में हो या कविवृत्त संग्रहों के रूप में हो, अथवा सामग्री संकलन के रूप में हो, अथवा ऐतिहासिक चेतना से रहित ग्रंथों के रूप में ही क्यों न हो, इनके महत्व को समझना आवश्यक है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस अध्याय को दो भागों में बाँटा गया है। पहले का शीर्षक है - **हिन्दी साहित्येतिहास का अंकुरण काल** और दूसरे का शीर्षक है **शुक्लपूर्व आरंभिक हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के प्रयास।** हिन्दी साहित्येतिहास का अंकुरण काल, शीर्षक उप-बिन्दु के अन्तर्गत भक्तमाल, मूल गोसाईं चरित्, वार्ता साहित्य, परिचयी साहित्य, बीतक साहित्य, गुरुग्रंथ,

कविमाला, कालिदास हज़ारा और अन्य ग्रंथों को हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत अध्याय के दूसरे उप-शीर्षक 'शुक्लपूर्व आरंभिक हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के प्रयास' में गार्सा द तासी से लेकर आचार्य शुक्ल के ठीक पहले लिखित पण्डित बदरीनारायण भट्ट तक के साहित्येतिहासों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इन दो इतिहासों के अन्तराल में लिखित गार्सा द तासी के बाद मौलवी करीमुद्दीन का 'तजकीरा', शिवसिंह सरोज कृत 'शिवसिंह सरोज', जार्ज ग्रियर्सन कृत 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान', मिश्रबन्धु लिखित 'मिश्रबन्धु विनोद', ऐडबिन ग्रिब्ज़ कृत 'अ स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर' और फ्रैक ई.के.कृत 'अ हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर' ग्रंथों का सविस्तार अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आचार्य शुक्ल से पूर्व लिखित हिन्दी साहित्य के इतिहासों में इस स्तर पर भिन्नता देखने को मिलती है कि इस समय के इतिहासकार विभिन्न सामाजिक एवं राष्ट्रीय पृष्ठभूमि से आकर हिन्दी साहित्य का इतिहास लिख रहे थे। इसके अतिरिक्त कई इतिहास ग्रंथों में हिन्दी एवं उर्दू के साहित्यकारों को एक ही परम्परा में गिनाया गया है, जो आचार्य शुक्ल के बाद के इतिहास ग्रंथों में देखने नहीं मिलता है। सामग्री की अपूर्णता, साहित्येतिहास दृष्टि का समुचित विकास न होना, साहित्येतिहास लेखन की पद्धतियों का गलत चुनाव, आलोचनात्मक-दृष्टि की अपरिपक्वता आदि कई कारणों से, इस समय के इतिहास ग्रंथों में वह सम्पूर्णता नहीं आ पायी है, जो आचार्य शुक्ल के ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में देखने को मिलती है। तासी के यहाँ इतिहास के नाम पर मात्र कवि-वृत्त संग्रह किया गया। प्रायः यही बात शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन, मौलवी करीमुद्दीन, मिश्र बन्धु, ऐडविन ग्रिब्ज़, फ्रैंक ई.के. के यहाँ भी कुछ भेद के साथ दृष्टव्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सारे साहित्येतिहास एक की ढर्रे पर लिखे गए हैं। इनमें अन्तर तो है, किन्तु वह अन्तर साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में दृष्टिविषयक कोई मौलिक परिवर्तन के मानक नहीं बन पाए हैं।

आचार्य शुक्ल और तद्युगीन साहित्येतिहास लेखन शीर्षक तृतीय अध्याय में सन् 1920 से लेकर सन् 1940 ई. तक के साहित्येतिहास ग्रंथों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । इस समय-सीमा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के अतिरिक्त बाबू श्यामसुन्दर दास का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिन्दी भाषा और साहित्य', पंडित सूर्यकान्त शास्त्री का 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'हिन्दी भाषा

और साहित्य का विकास' तथा डॉ.रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में पहला सबसे बड़ा परिवर्तन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रस्तुत किया। कई मायनों में यह परिवर्तन था, केवल सफलता-असफलता के पैमाने पर इसे नापा नहीं जा सकता है। आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास की जो अच्छाइयाँ-बुराईयाँ गिनाई जाती है, उनकी जो आलोचना-प्रत्यालोचना की जाती है, जो प्रतिमान उससे निकाले जाते हैं, जिन प्रतिमानों पर उसे नापा-तौला जाता है, आदि का अधिकांश श्रेय उनकी, आचार्य शुक्ल की, साहित्येतिहास दृष्टि को जाता है। साहित्य को देखने की दृष्टि, इतिहास को देखने की दृष्टि, समाज एवं उसके परिवर्तन को देखने की दृष्टि, मूल्यांकन के मानदंड़ों के प्रति दृष्टि, आदि सभी दृष्टियों के मेल से आचार्य शुक्ल की साहित्येतिहास सम्बन्धी दृष्टि का निर्माण होता है। उनकी साहित्येतिहास दृष्टि भारतीय प्राचीन मानदण्डों, पाश्चात्य विचारधाराओं के साथ समकालीन साहित्य का भी प्रभाव देखा जा सकता है। आचार्य शुक्ल की साहित्येतिहास दृष्टि का प्रभाव कहिए या तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव, उनके बाद हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में शोध एवं साहित्येतिहास की चेतना सम्बन्धी विकास शीप्र गति से हुआ। आचार्य शुक्ल से हजारी प्रसाद द्विवेदी तक बाबू श्यामसुन्दर दास, रमाशंकर शुक्ल रसाल, पंडित सूर्यकान्त शास्त्री, हरिऔध, रामकुमार वर्मा आदि साहित्येतिहासकार हुए, जिन्होंने गाहे-बगाहे आचार्य शुक्ल की दृष्टि का या तो विरोध किया या तो पूर्ण समर्थन किया है। आचार्य शुक्ल के समकालीन समय में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में कई दिशाओं में वृद्धि हुई। साहित्येतिहास में भाषा, समाज, राजनीति, सौन्दर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, साहित्य के प्रतिमान आदि का भी साहित्येतिहास के अन्तर्गत विकास हुआ, जिसने साहित्येतिहासकारों की दृष्टि निर्माण में महती भूमिका का निर्वहन किया। इस आलोक में इनकी साहित्येतिहास दृष्टि को सूक्ष्मता से देखने से पता चलता है कि इन्होंने कई स्थानों पर महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ भी देने का प्रयास किया है, जिसने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दृष्टि का जाने-अनजाने में विकास किया। प्रस्तुत अध्याय में इन सारे इतिहासकारों की इतिहास दृष्टि, साहित्य-दृष्टि, साहित्य एवं समाज को देखने का उनका नज़रिया, भाषा के विकास के प्रति उनका दृष्टिकोण का क्रमवार अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि की सीमाओं के साथ उनका विकास आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास लेखन में देखने को मिलता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से सुमन राजे तक

चतुरसेन शास्त्री, बाबू गुलाबराय, रामअवध द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सत्यकाम वर्मा, राजकिशोर त्रिपाठी, गणपतिचन्द्र गुप्त, राजनाथ शर्मा, रामखेवालन पाण्डेय, पदमलाल पुन्नालाल बख्शी, मोहन अवस्थी, रामस्वरूप चतुर्वेदी और बच्चन सिंह से होते हुए हिन्दी साहित्येतिहास लेखन अपना विकास करता है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा के अध्ययन क्रम में चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है - **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और परवर्ती साहित्येतिहास लेखन** रखा गया है। आाचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्य दृष्टि कई मायनों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इतिहास-दृष्टि से द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध रखते हुए उसका विकास करती है। 'संग्रह बिनु न त्यागु' के अकुंठ भाव से। आचार्य चतुरसेन शास्त्री, बाबू गुलाबराय, रामअवध द्विवेदी का साहित्येतिहास लेखन बने-बनाए ढर्रे पर चलता देखा जा सकता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कुछ नवीन करने का सराहनीय प्रयास किया है। सत्यकाम वर्मा, राजकिशोर त्रिपाठी ने विकास के इसी चरण में अपना योगदान दिया, जो स्वयं इतिहास की वस्तु बन गया। गणपति चन्द्र गुप्त का 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' साहित्येतिहास से उस वैज्ञानिकता की माँग तो करता है, जो स्वयं उन्होंने परिभाषित करना उचित नहीं समझा। गणपतिचन्द्र गुप्त की साहित्येतिहास दृष्टि आचार्य शुक्ल बनाम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विवाद से हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को बाहर निकालने का प्रयास है। गणपति चन्द्र गुप्त के बाद राजनाथ शर्मा, पद्मलाल पुन्नालाल बक्शी और मोहन अवस्थी, इन इतिहासकारों ने इतिहास को गति देने का प्रयास किया। इनमें न तो दृष्टि सम्बन्धी ही बहुत बदलाव देखने को मिलता है और न ढाँचागत परिवर्तन करने में इन्होंने अधिक सफलता पायी है। छिटपुट स्थापनाओं को स्थापित करने के प्रयास में इनके इतिहास उलझकर रह गए हैं। रामस्वरूप चतुर्वेदी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में ढाँचागत अन्तर लानेवाले महत्त्वपूर्ण इतिहासकार हैं। उन्होंने अधिकतर आचार्य शुक्ल की साहित्येतिहास दृष्टि का व्यापक स्तर पर समर्थन किया है। इनमें तुलनात्मक पद्धति को नए शिखर तक पहुँचाने का सफल प्रयास देखा जा सकता है। इनके इतिहास का ढाँचा जहाँ आचार्य शुक्ल द्वारा अनदेखे किए गए कवियों को इतिहास में स्थान देता है, वहीं कईयों को नाम गिनाते हुए आग बढ़ जाता है। बच्चन सिंह ने नई स्थापनाओं के साथ दूसरा इतिहास लिखने का प्रयास किया। वैकल्पिक दृष्टि की तलाश। एक इतिहासकार बनाम दूसरे इतिहासकार के विवाद से बाहर निकलकर इतिहास लिखना, यही 'दूसरा' से अभिप्रेत है। तुलना तो होती है, लेकिन किसी एक ध्रुव पर न जाते हुए। सुमन राजे का इतिहास पूर्ववर्ती इतिहासकारों की दृष्टि एवं शोध की सीमाओं को उजागर करता है। शोध और दृष्टि की नवीनता इस इतिहास में देखी जा सकती है। आधा इतिहास हिन्दी साहित्येतिहास

लेखन की परम्परा को पूर्णता देने का प्रयास है। हमारे शोध-विषय की सीमा में आनेवाला यह अन्तिम इतिहास-ग्रंथ है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की प्रणालियाँ एवं पद्धतियाँ, शीर्षक पंचम् अध्याय में साहित्येतिहास लेखन की प्रणालियों एवं पद्धतियों पर सविस्तार चर्चा कर सोदाहरण यह देखने का प्रयास किया गया है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में किन पद्धतियों एवं प्रणालियों का प्रयोग होता आया है और उनका विकास किस रूप में होता आया है।

षष्ठम् अध्याय का शीर्षक है - **हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन।** प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी साहित्येतिहास की लेखन परम्परा में साहित्येतिहास की अवधारणा, काल-विभाजन एवं नामकरण, विभिन्न आन्दोलनों के उद्भव एवं विकास, युगीन परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के समन्वय, रचना-रचनाकार-मूल्य एवं साहित्य, आधुनिकता-आधुनिकीकरण-समाज और साहित्य, साहित्य रूप तथा हिन्दी आलोचना की सैद्धान्तिकी और हिन्दी साहित्येतिहास लेखन इन बिन्दुओं को आधार बनाकर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के आरंभ से सुमन राजे तक के इतिहासकारों की दृष्टियों की तुलना प्रस्तुत की गई है। जिस गति से हिन्दी साहित्येतिहास लेखकों की साहित्येतिहास की अवधारणा में परिवर्तन होते चले आये, उसी अनुपात में साहित्येतिहास लेखन की दृष्टियों में परिवर्तन-परिवर्द्धन होता चला गया। इसमें शोध-सामग्री का भी योगदान निःसंदेह रहा। साहित्य का विकास सामाजिक विकास के साथ होता है, किन्तु वह कई बार साहित्य के आन्तरिक अनुशासन पर भी निर्भर करता है, किन्तु होता वह अविरल रूप में ही विकसित है। साहित्येतिहास एक अविरल प्रक्रिया का नाम है। यह प्रक्रिया साहित्य की वस्तु, साहित्य के रूप, साहित्य और समाज एवं उसके विभिन्न अंगों बीच सम्बन्ध, साहित्य और पाठकों का सम्बन्ध, साहित्यकार की स्थिति-परिस्थिति, इतिहास-प्रवाह में साहित्यकार की स्थिति एवं उसकी प्रेरणाएँ आदि आदि कई के तारतम्य एवं द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों से निर्मित होती है। साहित्येतिहासकार भी एक सृजनात्मक लेखक की तरह वर्तमान एवं अतीत से प्रेरणा, भावधारा, विचारधारा ग्रहण करता है, किन्तु उसकी दृष्टि का विकास अतीत की ओर देखकर भी होता है । इस रूप में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में दृष्टियों के विकास, साहित्येतिहास लेखन की परम्परा का विकास आदि का अध्ययन किया जाना अपेक्षित है। प्रस्तुत अध्ययन में इन बिन्दुओं पर ध्यान देने का पूरा प्रयास किया गया है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में दृष्टियों की तुलना के लिए आवश्यक था कि या तो एक-एक इतिहास ग्रंथ लेकर उसकी साहित्येतिहास दृष्टि का विवेचना किया जाए। दूसरी पद्धति यह है कि एक-एक बिन्दु को लेकर सभी साहित्येतिहासकारों की उस सन्दर्भ में दृष्टि इतिहास क्रम में जाँची-परखी जाए। पहली पद्धति का प्रयोग द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्याय में किया गया है, जहाँ हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा को दिखाने के साथ सम्बन्धित साहित्येतिहास में साहित्येतिहासकार की दृष्टि का विवेचन किया गया है। अन्तिम षष्ठम् अध्याम में दूसरी पद्धति का उपयोग किया गया है। प्रश्न यह था कि हिन्दी साहित्येतिहासकारों की दृष्टियों की तुलना किन-किन बिन्दुओं पर की जाए। किसी साहित्येतिहासकार ने किसी विशिष्ट बिन्दु पर सविस्तार अपना मत प्रस्तुत किया है, तो किसी अन्य इतिहासकार ने उस पर अपनी कलम भी नहीं चलाई। कुछ इतिहास-ग्रंथ तो मध्यकाल तक के साहित्य का विवेचना करके ही थम जाते हैं, तो कुछ इतिहास ग्रंथ बहुत पहले लिखे गए हैं, जो अपने समय तक के साहित्य का विवेचन करते हैं। ऐसे में हमने सामान्यतः सभी इतिहास-ग्रंथों में उठाए गए आठ बिन्दुओं के आधार पर हिन्दी साहित्येतिहासकारों के दृष्टियों की तुलना की है। वे बिन्दु हैं -हिन्दी साहित्येतिहासकारों की साहित्येतिहास सम्बन्धी अवधारणा : तुलनात्मक विवेचन, काल-विभाजन एवं नामकरण सम्बन्धी दृष्टि : तुलनात्मक अध्ययन, विभिन्न साहित्यिक आन्दोलनों के उद्‌भव एवं विकास सम्बन्धी दृष्टिकोण, युगीन परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में दृष्टिकोण, रचना, रचनाकार, मूल्य एवं साहित्य-दृष्टि, आधुनिकता,आधुनिकीकरण,समाज और साहित्य, साहित्य रूप सम्बन्धी दृष्टिकोण और हिन्दी आलोचना की सैद्धान्तिकी और साहित्येतिहास लेखन। इन बिन्दुओं पर गहनता से अध्ययन कर हिन्दी साहित्येतिहासकारों की दृष्टि पर सविस्तार प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। इस अध्ययन में हिन्दी साहित्य के उन ग्रंथों को बाहर रखा गया है, जो सम्पादित हैं। इसके दो कारण हैं, एक तो ऐसे ग्रंथों के लेखन में कई लेखकों या इतिहासकारों का योगदान होने के कारण इसमें दृष्टि की एकता नहीं दिखाई देती है। दूसरा कारण है, ऐसे ग्रंथों का विशालकाय रूप एवं तथ्यों की अपेक्षा विश्लेषण तथा तुलना की अधिकता। ऐसे ग्रंथों में न तो साहित्येतिहासकारों की दृष्टि ही साफ हो पाती है और न वह आलोचना-दृष्टि की उभर पाती है, जिसकी आवश्यकता साहित्येतिहास-ग्रंथ में होती है। अकादमिक जगत् में ऐसे साहित्येतिहास-ग्रंथों की आवश्यकता पर संदेह नहीं किया जा सकता है, किन्तु प्रत्येक साहित्येतिहास

ग्रंथ में दृष्टि की एकता की अनिवार्यता होनी आवश्यक थी, यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के सम्पादित इतिहास-ग्रंथों को इस अध्ययन की सीमा से बाहर रखना ही हमने उचित समझा।

प्रस्तुत अध्ययन में गार्सा द तासी से लेकर डॉ.सुमन राजे तक के हिन्दी साहित्येतिहास-ग्रंथों की दृष्टि का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन विषय की व्यापकता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत शोधार्थी यह दावा बिल्कुल नहीं करता है कि यह इस क्षेत्र का सर्वव्यापी अध्ययन है, किन्तु पूरी अध्ययन शक्ति और प्रस्तुतीकरण में यही प्रयास रहा कि यथासंभव कोई कमी न आने पाए। शोध-कार्य विशिष्ट विषय को लेकर पीएच.डी. में प्रवेश के साथ आरंभ अवश्य होता है, किन्तु इसके पूरा करने में में कई हस्ताक्षरों, जीवन-साथियों, मित्रों से लेकर परिवारजनों का साथ और शिक्षा बहुत पहले से आरंभ हो चुकी होती है। जीवन के जिस मोड़ पर यह शोध-कार्य पूर्ण कर रहा हूँ, वहाँ आने तक 'संयम' और 'विश्वास' इन दो शब्दों पर मेरी आस्था बढ़ गयी। परिवारजनों के प्रति कृत्यज्ञता मेरे जीवन की पूँजी है। मेरी योग्यता पर विश्वास एवं उसको लेकर संयम ने माता-पिता एवं भाई-बहन ने जीवन के हर मोड़ पर आत्मविश्वास भरे शब्द कहे। जब पढ़ाई के लिए खाली जेब घर से बाहर निकला, तब माता-पिता के आशीर्वाद के अलावा मित्रों का ही सहारा था। उच्च स्तर की पढ़ाई की आर्थिक स्थिति न होते हुए भी पिता जी ने जिस विश्वास के साथ हैदराबाद भेजा और माता ने जी पर पत्थर रखकर विदा किया, आज भी आँखों के सामने वह दृश्य कौंध जाता है, जो आँखें भर देता है। जिस आयु में माता-पिता का सहारा बनना चाहिए, उस समय मैं मित्रों के साथ ज्ञानसंघर्ष कर रहा था, ऐसे में अनुज होते हुए भी अभय ने मेरे कंधों का भार अपने ऊपर वहन किया। बहन आरती के प्रेम के आगे मेरे शब्द बौने पड़ जाते हैं। उसने जो कुछ किया, उन्हें आजीवन न ही उतार पाउँ तो अपने-आप को धन्य मानूँगा। बहन ने प्रेम के खातिर इस भाई के लिए जो कुछ किया, वह कभी वापस किया भी नहीं जा सकता है। इसलिए यह भाई प्रेम से ही इसे लौटाने का प्रयास आजीवन करता रहेगा। जीजा मित्र भी रहे, सम्बन्धी भी। मेरी हृदयगत संवेदना पत्नि के प्रति – 'मेरी प्रगति की साँस में, कुछ मैं रहूँ कुछ तुम रहो'। परिवारजनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर सम्बन्धों को औपचारिक बनाना नहीं चाहता।

जायसी के शब्द उधार लेकर कहूँ तो आचार्य सच्चिदानन्द चतुर्वेदी जी का इस शोध-कार्य में ही नहीं, जीवन में योगदान कुछ ऐसा रहा - 'जेहि मोंहि पंथ दीन्ह उँजियारा ॥' उन्होंने जो प्रोत्साहन दिया और जो सहायता की, उन्हें आजीवन अपने साथ रखूँगा। एक शिक्षक ही नहीं, रचनात्मक लेखक के रूप

में भी उन्होंने मेरे साहित्य के अध्ययन से लेकर जीवन तक के भावों-विचारों को पढ़ना सिखाया। यह मेरा दुर्भाग्य ही रहा कि जब मेरे मित्र उनकी कक्षा की स्मृतियाँ सुनाते हैं, तो कक्षा में बैठकर उनसे पढ़ने का मौका न मिलने के कारण अब भी मैं मौन ही रह जाता हूँ। उनकी पढ़ाने की पद्धति में सबको साथ लेकर चलनेवाले भाव को एक सामान्य विद्यार्थी होने के नाते मैं महसूस कर सकता हूँ, किन्तु विधिवत् एम.ए. में उनसे काव्यशास्त्र और भाषा-विज्ञान न पढ़ पाने का खेद इसलिए जाता रहा, क्योंकि मैंने अनौपचारिक ढंग से कई प्रश्नों के माध्यम से वह सारा पढ़ लिया है, जिसे शायद कक्षाओं में नहीं पढ़ पाया। हर प्रश्न पर मुस्कराहट के साथ वह दीर्घ उत्तर, कभी नहीं भूल पाउँगा। अब इस घड़ी भाव-विभोर हूँ और वह सब बिजली की भाँति कौंध जाता है। उनका अब भी ज़मीन से जुड़ा होना, मुझे भी इस दिशा में हमेशा प्रेरित करता रहा है, करता रहेगा।

सम्पूर्ण जीवन जिससे भी मैंने सिखा, उन्हें गुरु मानने में मुझे हमेशा गर्व महसूस होता रहा है। प्रो.गोपेश्वर सिंह जी ने गुरु से बढ़कर मेंटॉर की तरह व्यवहार किया। कक्षा में पढ़ते समय हो या अनौपचारिक बात-चीत करते समय, हमेशा उनसे जो गर्माहट मिलती रही, जो ऊर्जा जाने-अनजाने पाता रहा, उसके आगे 'धन्यवाद' शब्द बहुत ही बौना है। हैदराबाद विश्वविद्यालय में आने से पूर्व ही मैं सुवास कुमार सर के नाम से उनकी ज्ञान-विस्तीर्णता की चर्चाओं और लेखन के माध्यम से परिचित था, जिसके कारण उनसे कक्षाओं में पढ़ने के बावजूद व्यक्तिगत रूप से मिलने में हमेशा डर लगता रहता था, लेकिन पहली बार ही उनके बात करने और मिलने के लहज़े ने सारे भ्रमों को मिटा दिया। उनसे ज्ञान के अतिरिक्त पूरी गंभीरता के साथ जो स्नेह मिलता रहा, आज भी उसे सीखने का प्रयास करता हूँ। एक प्रकार से साहित्य और उसके सामाजिक-ऐतिहासिक सम्बन्धों को जानने की कुँजी उन्होंने दी, उसके लिए सदैव उनका अभारी रहूँगा तथा साथ ही इस क्षेत्र में उनके द्वारा दिए गए ज्ञान का आजीवन प्रयोग करता रहूँगा। धन्यवाद सर। साहित्य का समाजशास्त्र पढ़ाते हुए प्रो.रवि रंजन जी ने साहित्य और अन्य रुपांकन कलाओं का समाज से जो सम्बन्ध जोड़ना सिखाया, उससे मेरा साहित्य और समाज को देखने का दृष्टिकोण अभूतपूर्व रूप से हमेशा के लिए बदल गया। प्रो.शशि मुदीराज, प्रो.आर.एस.सर्राजु, प्रो.वी.कृष्ण से भी साहित्य को समझने की दृष्टि मिली। डॉ.एम.श्यामराव,प्रो.गजेन्द्र पाठक, प्रो.गरिमा श्रीवास्तव, प्रो.आलोक पाण्डेय, डॉ.भीम सिंह से भले ही कक्षाओं में बैठकर पढ़ने का मौका न मिला हो, लेकिन कई विषयों पर हुई चर्चाओं के माध्यम से इनसे बहुत कुछ सीखने मिला। आप सभी का तहे दिल से शुक्रिया। सौभाग्य

से उस्मानिया विश्वविद्यालय में एम.ए. के दौरान प्रो.एम.व्यंकटेश्वर के रूप में बेहतरीन शिक्षक मिले। जिनसे मैंने हिन्दी भाषा का पहला सबक सीखा। अनुवाद और प्रयोजनमूलक हिन्दी पढ़ाते समय उन्होंने विषयेत्तर कई ज्ञानवर्धक बातें बताई और कई हिन्दी की रचनाओं से परिचित करवाया। धन्यवाद सर। सभी गुरुजनों का पुनः धन्यवाद। उनका भी धन्यवाद जिनसे जीवन में एक भी बात सीखी।

अनुज कुमार, चन्दु खन्दारे, सुरेश जगन्नाथम् और दिनेश कुमार प्रसाद। तुम चारों को सहपाठी कहूँ, मित्र कहूँ या यार, अब तक तय नहीं कर पाया। कुछ चीज़ें तय न हो तो ही कितना अच्छा है न ! ठीक वैसे ही, जैसे घमासान बहसों के बाद, कितनी तनातनी के बाद, चाय का नाम याद आते ही, विवादित मुद्दे को छोड़कर उसी जोश के साथ हम चल देते थे। अनुज कुमार ने साहित्य पढ़ाया ही नहीं, पढ़ना सिखाया भी। बोलना ही नहीं सिखाया, साहित्य पर विवाद करना भी सिखाया। भाषा में आदमी होने की तमीज भी सीखने की कोशिश उसी के बतर्ज़ कर रहा हूँ। साईनाथ चपले, मोबिन जहोरोद्दीन, अवधेश झा, आदित्य विक्रम सिंह, मोहम्मद शफ़ी, किशोर कुमार रेड्डी, आंजनेयलू, यासेर अराफ़ात, निशात अहमद, सामन्त साहू, प्रमोद कुमार, धनंजय, कल्पना पंत, बिजय प्रसाद, हितेन्द्र कुमार, स्पार्टकस, ताजुद्दीन, शशिकान्त, श्रीकान्त, जाहिदुल हक, बुद्धप्रकाश, रामेन्द्र नारायण मिश्रा 'बच्चन', निलेश, अता उर्र रहमान, गणेश दास, खलीक उर्र रहमान, सिराज़ बाशा इन सभी मित्रों का शुक्रिया। शुक्रिया आप सभी के आप होने के लिए, जीवन की सभी व्यस्तताओं में भी साथ बनाए रखने के लिए। सभी का पुनः धन्यवाद। धन्यवाद आपका मेरे जीवन में होने के लिए और अपने जीवन का हिस्सा बनाने के लिए। धन्यवाद ।

तिथि : 23/07/2015 अविनाश के.

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय : **1-28**

साहित्येतिहास की अवधारणा

१.१ इतिहास एवं साहित्येतिहास : अर्थ एवं अन्तर्संबंध

१.१.१ इतिहास : व्याख्या एवं अवधारणाएँ

१.१.२ पश्चिम में इतिहास एवं ऐतिहासिक चेतना का विकास

१.१.३ भारत में इतिहास एवं ऐतिहासिक चेतना का विकास

१.२ साहित्येतिहास : व्याख्या एवं अवधारणाएँ

१.२.१ इतिहास एवं साहित्येतिहास : अन्तर्संबंध

द्वितीय अध्याय **29-63**

शुक्ल पूर्व हिन्दी साहित्येतिहास लेखन

२.१ हिन्दी साहित्येतिहास का अंकुरण काल

२.१.१ नाभादास कृत 'भक्तमाल'

२.१.२ बेनीमाधव कृत 'मूलगोसाईं चरित'

२.१.३ वार्ता साहित्य

२.१.४ परिचयी साहित्य

२.१.५ बीतक साहित्य

२.१.६ आदिग्रंथ/गुरुग्रंथ

२.१.७ तुलसी कृत 'कविमाला'

२.१.८ कालिदास त्रिवेदी कृत 'कालिदास हजारा'

२.१.९ अन्य परवर्ती ग्रंथ

२.२ शुक्लपूर्व आरंभिक हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के प्रयास

२.२.१ गार्सा द तासी कृत 'इस्त्वार द-ला-लितरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी'

२.२.२ मौलवी करीमुद्दीन कृत 'तबकातुश्शुअरा'

२.२.३ शिवसिंह सेंगर कृत ‘शिवसिंह सरोज’
२.२.४ जार्ज ग्रियर्सन कृत 'द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान'
२.२.५ मिश्रबन्धु कृत ‘मिश्रबन्धु विनोद’
२.२.६ ऐडविन ग्रिब्ज़ कृत ‘अ स्केच ऑफ़ हिन्दी लिटरेचर’
२.२.७ फ्रैंक ई.की. कृत ‘अ हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दी लिटरेचर’
२.२.८ पण्डित बदरीनाथ भट्ट कृत 'हिन्दी'

तृतीय अध्याय **64-90**

आचार्य शुक्ल और तद्युगीन साहित्येतिहास लेखन (सन् १९२०-१९४० ई.)

३.१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'
३.२ बाबू श्यामसुन्दर दास कृत ‘हिन्दी भाषा और साहित्य’
३.३ रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' कृत ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’
३.४ पंडित सूर्यकान्त शास्त्री कृत ‘हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास’
३.५ आयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत ‘हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास’
३.६ डॉ.रामकुमार वर्मा कृत ‘हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास’

चतुर्थ अध्याय **91-145**

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और परवर्ती साहित्येतिहास लेखन

४.१ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्येतिहास लेखन
४.२ आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत ‘हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास’
४.३ बाबू गुलाबराय कृत ‘हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास’
४.४ डॉ.रामअवध द्विवेदी कृत ‘हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा’
४.५ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का साहित्येतिहास लेखन
४.६ सत्यकाम वर्मा कृत ‘हिन्दी साहित्यानुशीलन’
४.७ राजकिशोर त्रिपाठी कृत ‘हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास’
४.८ डॉ.गणपतिचन्द्र गुप्त कृत ‘हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास’

४.९ राजनाथ शर्मा कृत 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास'
४.१० रामखेलावन पाण्डेय कृत 'हिन्दी साहित्य का नया इतिहास'
४.११ पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कृत 'हिन्दी साहित्य : एक ऐतिहासिक समीक्षा'
४.१२ डॉ.मोहन अवस्थी कृत 'हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास'
४.१३ रामस्वरूप चतुर्वेदी का साहित्येतिहास लेखन
४.१४ डॉ.बच्चन सिंह कृत 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास'
४.१५ डॉ. सुमन राजे कृत 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास'

पंचम् अध्याय **146-166**

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की प्रणालियाँ एवं पद्धतियाँ

५.१. साहित्येतिहास लेखन की प्रणालियों एवं पद्धतियों में अन्तर

५.२ साहित्येतिहास लेखन की प्रणालियाँ

५.२.१. वर्णानुक्रम प्रणाली
५.२.२. कालानुक्रम प्रणाली
५.२.३. विधेयवादी प्रणाली
५.२.४. वैज्ञानिक प्रणाली
५.२.५. समाजशास्त्रीय प्रणाली

५.३ साहित्येतिहास लेखन की पद्धतियाँ

५.३.१. विधा-केन्द्रित इतिहास
५.३.२. काल-केन्द्रित इतिहास
५.३.३. रचनाकार-केन्द्रित इतिहास
५.३.४. भाषा-केन्द्रित इतिहास
५.३.५. प्रवृत्ति-केन्द्रित इतिहास
५.३.६. विमर्श-केन्द्रित इतिहास

षष्ठम् अध्याय **167-253**

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन

६.१ हिन्दी साहित्येतिहासकारों की साहित्येतिहास सम्बन्धी अवधारणा : तुलनात्मक अध्ययन

६.२ काल-विभाजन एवं नामकरण सम्बन्धी दृष्टि : तुलनात्मक अध्ययन

६.२.१ आदिकाल

६.२.२ भक्तिकाल या पूर्व मध्यकाल

६.२.३ रीतिकाल अथवा उत्तर-मध्यकाल

६.२.४ आधुनिक काल

६.३ विभिन्न साहित्यिक आन्दोलनों के उद्‌भव एवं विकास सम्बन्धी दृष्टिकोण

६.४ युगीन परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के समन्वय सम्बन्धी दृष्टिकोण

६.५ रचना, रचनाकार, मूल्य एवं साहित्य-दृष्टि

६.६ आधुनिकता, आधुनिकीकरण, समाज और साहित्य

६.७ साहित्यिक रूप सम्बन्धी दृष्टिकोण

६.८ हिन्दी आलोचना की सैद्धान्तिकी और साहित्येतिहास लेखन

उपसंहार **254-269**

सन्दर्भ ग्रंथ सूची **270-277**

प्रथम अध्याय

साहित्येतिहास की अवधारणा

आधुनिक मनुष्य-समाज ने इतिहास की आवश्यकता को जीवन में आनेवाली मूल्यहीनता एवं नवीन मूल्यों के कारण महसूस किया। अपने आरंभिक रूप में इतिहास केवल तथ्यों का प्रस्तोता बनकर ही प्रस्तुत नहीं हुआ, बल्कि उसका कार्य आधुनिक समाज में हो रहे मूल्यपरिवर्तनों को अतीत के झरोके में समझाने का भी निर्वहन किया। आदिम मनुष्य की गुफाओं में की गई अभिव्यक्ति से लेकर इतिहास लेखन की दक्षता पाने तक का मनुष्य-समाज का इतिहास सम्पूर्णतः तथ्यों के साथ आज तक भी नहीं लिखा जा सका है। आधुनिक अर्थों में ज्ञानशाखा के रूप में उदय के बाद इतिहास का भी इतिहास खोजा जाने लगा। किन्तु आज तक के ऐतिहासिक विमर्श के बाद निर्बाध रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिक अर्थों में जिसे हम इतिहास कहते हैं, उसका उदय आधुनिक काल से ही संभव हो सका है। इसके कई कारण गिनाए जा सकते हैं।

इतिहास के साथ ऐतिहासिक चेतना का भी होना आवश्यक है और ऐतिहासिक चेतना चिन्तन से सम्बन्धित होती है, जो स्वयं आधुनिकता से सम्बन्धित है। इसी क्रम में इतिहास का सम्बन्ध तथ्यों एवं उसकी व्याख्या से होता है। इतिहास के लिए आवश्यक शोध का आरंभ भी आधुनिक समय में ही संभव हो सका, जब आधुनिक मनुष्य-समाज को अपने अतीत से कुछ सीखने का अवसर एवं आवश्यकता महसूस हुई। इतिहास तथ्यों का प्रस्तुतीकरण मात्र नहीं होता है, उसका सम्बन्ध व्याख्या से भी होता है। व्याख्या अपने आप में लोकतांत्रिक प्रक्रिया होती है। इतिहास किसी खास विचारधारा-भावधारा से बँधा नहीं होता है। इतिहासकार प्रत्येक तथ्य की व्याख्या करने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र होता है, किन्तु उससे इतनी तो अपेक्षा रहती है कि जिस समय-समाज के लिए वह इतिहास लिख रहा है, उसका लेखन उस समय-समाज का हित साधन बनकर भविष्य के लिए मार्ग प्रदर्शित करे।

जैसे-जैसे इतिहास की अवधारणा में विकास होता गया, उसी अनुपात में तथ्यों का शोध भी किया जाने लगा। इतिहास की अवधारणा जिस गति से बदलती गई, उसी गति से इतिहास में उपस्थित तथ्यों को देखने की दृष्टि का भी विकास होता गया। आरंभिक समय में इतिहास को मात्र राजा-रानियों की कहानी के रूप में प्रचिलित किया गया, किन्तु बाद में इतिहास का सम्बन्ध व्यापक समाज-संस्कृति से जोड़ा गया। नायक की संकल्पना के स्थान पर नायक बनानेवालों को भी इतिहास में स्थान दिया जाने लगा। यह इतिहास की अवधारणा में आया ऐतिहासिक परिवर्तन था। इसी प्रकार पहले

इतिहास मात्र एक जाति अथवा राष्ट्र का लिखा जाने लगा था बाद के समय में वैश्विक इतिहास की परिकल्पना की गई। जैसे इतिहासकार एक जाति का इतिहास लिखते समय उस जाति-राष्ट्र का हितसाध्य करने का लक्ष्य अपने सामने रखता था, उसी प्रकार विश्व इतिहास की परिकल्पना में मानवता का हितसाध्य सामने आने लगा। यह इतिहास का 'सर्वे सुखिन: भवन्तु' के पास पहुँचने का प्रयास था। यहाँ आकर इतिहास और इतिहास लेखन सभी ज्ञान शाखाओं से ऊपर उठ जाता है, कई मायनों में विज्ञान से भी। आज प्रत्येक ज्ञान की शाखा का अपना इतिहास है, इतिहास के अन्त की घोषणा करनेवालों का भी अपना २५-३० वर्ष पुराना इतिहास बन गया है। इस प्रकार इतिहास केवल सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक होकर ही सीमित नहीं रह गया है, अपितु प्रत्येक ज्ञान की शाखा का वह अंग बन गया है। प्रत्येक स्थान पर इतिहास है। अतः हमें यहाँ क्रमशः इतिहास और साहित्येतिहास का अर्थ जान लेना आवश्यक है, तत्पश्चात दोनों में हुए विभेदों एवं सम्बन्धों पर चर्चा अनिवार्य रूप से कर सकते हैं ।

१.१ इतिहास एवं साहित्येतिहास : अर्थ एवं अन्तर्संबंध

सामान्यतः 'इतिहास' शब्द की व्याख्या 'इति+हास' अर्थात 'ऐसा घटित हुआ था' के रूप में की जाती है । शब्दार्थ से तो यही सिद्ध होता है, किन्तु आज 'इतिहास' शब्द का अपने –आप में अर्थ विस्तार हो चुका है, हो रहा है । इतिहास अब शब्द मात्र नहीं रह गया है, वह एक अवधारणा (Concept) का रूप धारण कर चुका है । इतिहास अपने-आप में एक स्वतंत्र ज्ञान शाखा ही नहीं, अन्य ज्ञान शाखाओं का आधार भी है । ऐसे में हमें 'इतिहास' को समझने - समझाने के लिए केवल उसके शब्दार्थ पर ही नहीं, अपितु उससे सम्बन्धित अवधारणाओं को जानना भी अनिवार्य हो जाता है ।

१.१.१ इतिहास : व्याख्या एवं अवधारणाएँ

इतिहास की अवधारणा को कई विद्वानों ने व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। इसमें से कोई भी व्याख्या पूर्ण इसलिए नहीं कही जा सकती है, क्योंकि इतिहास की अवधारणा अत्यन्त गतिशील रही है। जिन विद्वानों ने इतिहास को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है, उनकी व्याख्याओं में अपने समय के इतिहास की अवधारणा समा पायी है। चूँकि इतिहास की अवधारणा का जन्म पाश्चात्य देशों में हुआ था, इसलिए आधुनिक अर्थों में इतिहास की पहले व्याख्याएँ वहीं से आती हैं, किन्तु बाद के समय में इतिहास को व्याख्यायित करने का प्रयास भारत में भी किया गया। अतः हम क्रमशः पहले पाश्चात्य विद्वानों के मतों को प्रस्तुत करेंगें, तद्नंतर भारतीय विद्वानों के मतों को।

पाश्चिम में जिस हिरोदोतस को पहली बार इतिहास लेखन का श्रेय दिया जाता है, उन्होंने ग्रीक भाषा में अपनी पुस्तक लिखी थी। किन्तु उनकी पुस्तक में उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द 'हिस्तोरे', का सम्बन्ध न तो वर्तमान में इतिहास से सम्बन्धित 'इतिहास' से था और न ही भविष्य से। उन्होंने जो पुस्तक लिखी है, उसका सम्बन्ध आँखों देखी वर्तमान घटनाओं से था, जिसमें उन्होंने अपने व्दारा देखे युद्ध आदि का वर्णन किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त 'हिस्तोरे' अर्थ भी कहानी या रिपोतार्ज के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अतः यहाँ से इतिहास लेखन का आरंभ आज के दृष्टिकोण से तो माना जा सकता है, क्योंकि वह हमें इतिहास की एक विशिष्ट घटना की जानकारी देता है, किन्तु वहाँ ऐतिहासिक चेतना अथवा वैसी अवधारणा का नितान्त अभाव देखा जा सकता है। संभवतः हिरोदोतस से ही प्रभावित होकर बेनिदेत्तो क्रोचे ने इतिहास को परिभाषित करते हुए कहा था, "समग्र इतिहास समसामायिक इतिहास है। इतिहास का सम्बन्ध मानव जीवन की गतिशीलता से है, अतः उसका सम्बन्ध घट रही वस्तु से है, न कि घटित वस्तु से।" इसे एक प्रकार से पाश्चात्य जगत् में क्लासिकवाद का प्रभाव भी माना जा सकता है क्योंकि क्रोचे की व्याख्या हिरोदोतस के मत को या उनकी संकल्पना को ज्यों-का-त्यों प्रसुत कर रही है।

एक प्रकार से प्रो.गालब्रेथ द्वारा दी गई व्याख्या ऊपर उल्लेखित दोनों विद्वानों की व्याख्याओं को ठीक विपरीत जाती दिखाई देती है। उन्होंने लिखा है - "मेरा अनुमान है कि इतिहास भूतकाल है, जहाँ तक उसे हम जानते हैं।"[1] अर्थात इतिहास में शोध की संभावना को यहाँ निराशावादी दृष्टि से देखा गया है। 'जहाँ तक हम जानते हैं' से तो यही सिद्ध होता है। किन्तु इतिहास 'जहाँ तक हम जानते हैं' से आगे 'जिसे हम नहीं जानते' उसे भी खोजने का प्रयास करता है। यह भी पूर्णतः सही नहीं है कि उसका सम्बन्ध केवल भूतकाल से ही है, वह वर्तमान को समझने-देखने और भविष्य के सम्बन्ध में दृष्टि देने का भी कार्य करता है। इतना ही नहीं, वह भूत को वर्तमान के आलोक में व्याख्यायित भी करता है। संभवतः इसी कारण कॉलिंगवुड़ ने इतिहास को व्याख्यायित करते हुए हुए कहा था - "मेरे विचार में इतिहास एक प्रकार की गवेषणा अथवा जाँच-पड़ताल है।"[2]

सुप्रसिद्ध इतिहासकार ई.एच.कार का मानना है कि इतिहास का सम्बन्ध मानव के देश-काल में परिवर्तनशील जीवन से ही नहीं, अपितु इतिहासकार की तत्सम्बन्धी व्याख्या से भी है। उनका कहना है, "इतिहास क्या है? इस प्रश्न का मेरा सर्वप्रथम उत्तर है कि यह इतिहासकार तथा उसके तथ्यों

---

[1].व्हाय वी रीड़ हिस्ट्री-प्रो.गालब्रेथ, पृ.१३१

[2].दी आयडिया ऑफ हिस्ट्री-आर.जी.कॉलिंगवुड, पृ.०९

के मध्य होनेवाली अन्यान्य क्रिया की सतत प्रक्रिया है एवं वर्तमान तथा अतीत का एक अविच्छिन्न संवाद है।"[3] स्पष्टतः ई. एच. कार के मत में भूतकाल के साथ-साथ वर्तमान के तथ्यों के साथ-साथ उसकी व्याख्या को भी महत्व दिया गया है। उन्होंने इतिहास को किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित मानने की अपेक्षा उसे सतत प्रक्रिया का अंग बनाया है। स्पष्ट रूप में यह उन तमाम लोगों के लिए उत्तर के रूप में दिया गया है, जिन उत्तर-आधुनिकतावादियों ने इतिहास के अन्त की घोषणा कर दी थी। वैसे इतिहास का अन्त का नारा लगानेवालों का भी अपना एक इतिहास बन चुका है। कार ने इतिहास के महत्व को अपने लेखन में बार-बार एवं समय-समय पर रेखांकित किया है, जो निर्विवाद रूप से आगे बढ़ाने योग्य है।

इतिहास लेखन या उसकी अवधारणा में इतिहासकार को केन्द्रिय रूप देने के कारण कई बार इतिहास लेखन के व्यक्तिनिष्ठ व्याख्याओं का शिकार बन जाने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता है। ऐसे में इतिहास लेखन को लेकर विचारधारा का प्रश्न उपस्थित होता है। किन्तु इसे पूर्णतः अनदेखा कर देने से मानवीय चिन्तन एवं सतत हो रहे दार्शनिक-वैचारिक विकास का; इतिहास में आना तथा इतिहास का उससे अप्रभावित रह जाना संभव है। जेम्स हार्वे रॉबिन्सन ने इतिहास को भूतकाल की विस्तृत जानकारी माना है। उनके अनुसार - "अपने वस्तुगत अर्थ में इतिहास उन सबकी जानकारी है, जो मनुष्य द्वारा निर्मित या फलित, चिन्तित, आकांक्षित एवं अनुभूत है।"[4] इतिहास की वस्तुनिष्ठता एवं उसका आकांक्षित तथा अनुभूत दोनों एक साथ होने की संभवना को देखना ही 'विरोधों का सामंजस्य' है। अनिवार्य रूप से इतिहासकार की दृष्टि, उसकी विचारधारा-भावधारा का इतिहास लेखन तथा तथ्यों को देखने की दृष्टि पर प्रभाव पड़ता है। इसे इतिहास की अवधारणा को व्याख्यायित करते समय ध्यान में रखना अनिवार्य हो जाता है, जो इतिहासकारों में लम्बे समय से विवाद का मुद्दा रहा है। एक प्रकार से रॉबिन्सन की यह व्याख्या इतिहास की विषय-वस्तु का निर्धारण करने का प्रयास करती है। इसी प्रकार विष्णुपुराण में भी इतिहास की विषय-सामग्री का निर्धारण करते हुए देखा जा सकता है। वहाँ लिखा गया है -

"आर्ष्यादि बहु व्याख्यानं देवर्षिचरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद् भूत धर्मयुक्त॥"[5]

वैसे देखा जाए तो प्रकृति को छोड़कर मानव सृष्टि की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। ऐसे में इतिहास केवल मानव जाति का इतिहास बनकर कैसे रह सकता है? अनिवार्य रूप से इसी भी समय

---

[3].व्हाट इज़ हिस्ट्री-ई.एच.कार, पृ.३०

[4].एन्साक्लोपिडिया ऑफ ब्रिटानिका-जिल्द-२, पृ.५९४

[5].साहित्य का इतिहास दर्शन-आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, पृ.०२

का इतिहास लिखते समय उस समय की प्रकृति, पशु-पक्षी आदि का भी समावेश अनिवार्य हो जाता है । वैदिक समय का इतिहास लिखने के लिए हमें उस समय की नदियों, वनों आदि पर भी ध्यान देना पड़ता है, जिसके अंक में यह सभ्यताएँ विकसित होकर पली-बढ़ी थी । ऐसे में रेमण्ड विलियम्स द्वारा की गई इतिहास की यह व्याख्या इतिहास को अधिक व्यापक दृष्टिकोण देने में सहायक होती है। उन्होंने लिखा है - "इतिहास अपने संकुचित अर्थ में मानव के भूतकाल का विज्ञान है, अपने व्यापक रूप में यह धरती, आकाश, नक्षत्रों, जीवों तथा सभ्यता के विकास का अध्ययन है, ठोस रूप में इतिहास का तात्पर्य निश्चित तथ्य से है तथा अपने औपचारिक अर्थ में उस तथ्य का ज्ञान है ।"[6] वैसे तथ्यों का सम्बन्ध अन्वेषण से अपने आप जुड़ जाता है, किन्तु तथ्य स्वयं प्रकाश्य नहीं होते हैं, उन्हें प्रकाश में लाना पड़ता है । इसके अतिरिक्त तथ्यों को देखने के कई दृष्टिकोण होते हैं । सत्य को देखने का एवं उसे प्रस्तुत करने के कई प्रकार एवं नज़रिए हो सकते हैं।

भारत में इतिहास को देखने की समझ आरंभ से सतही रही है । वैसे प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में अथर्ववेद में 'इतिहास' शब्द सर्वप्रथम देखने को मिलता है, उसके बाद शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय, वृहदारण्यक तथा छान्दोग्योपनिषद में भी इस शब्द का प्रयोग देखा जा सकता है । जिस प्रकार अन्य कलाएँ एवं ज्ञान की शाखाएँ हमारे यहाँ धर्म की परिसीमा में रहकर उसकी सहायता में कार्य किया करती थी, उसी की अपेक्षा इतिहास से भी की गई, जिसे संभवतः इतिहास ने पूर्ण भी किया। इसी कारण हमारे यहाँ लिखित अधिकांश इतिहास धर्मग्रंथों अथवा उस प्रकार के साहित्य में समन्वित हो चुका है । इनमें से आधुनिक अर्थों में इतिहास को खोजकर निकालना दूभर कार्य है । महाभारत में जो इतिहास की व्याख्या की गई है, वह भी इसी अर्थ में है कि इतिहास द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की स्थापना एवं सुरक्षा में सहायता प्राप्त हो । महाभारतकार ने कहा है -

"धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेश समन्वितम् ।
पूर्ववृत्त कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ।।"[7]

अर्थात् इतिहास ऐसा पूर्ववृत्त है जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की शिक्षा दी जा सके । यही कारण है कि हमारे यहाँ राजाओं एवं उनके द्वारा किए गए कार्यों की कथाएँ धार्मिक जामा पहनाकर प्रस्तुत की गई । अथवा इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि ऊपर उल्लेखित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए यह कथाएँ कही गई हैं, जिनमें इतिहस लुप्त हो गया है । यह व्याख्या भले ही आधुनिक इतिहास की अवधारणा से मेल नहीं खाती हो, किन्तु वहाँ उसके बीज तत्व अवश्य देखे जा सकते हैं और इसी

---

[6].इन्ट्रोडक्शन टू दी फ़िलॉसफ़ी ऑफ हिस्ट्री-रेमण्ड एरेन, पृ.०९

[7].साहित्य का इतिहास दर्शन-आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, पृ.०२

रूप में इन्हें देखा जाना चाहिए।

वैसे हमारे यहाँ की आरंभिक आधुनिक व्याख्याएँ भी इन दुराग्रहों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पायी थीं। उनमें से कईयों में इतिहास का सम्बन्ध केवल भूतकाल से ही माना गया एवं उसकी वर्तमान उपयोगिता को रिक्त छोड़ दिया गया। इसी क्रम में 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी विश्वकोश' की व्याख्या को देखा जा सकता है। व्याख्याकार ने लिखा है - "इतिहास शब्द का प्रयोग विशेषतः दो अर्थों में होता है। एक प्राचीन अथवा विगत काल की घटनाएँ और दूसरा उन घटनाओं के विषय में धारणा।"[8] यहाँ धारणा से अभिप्राय दृष्टिकोण से है, जिसके साथ विचारधारा एवं भावधारा का प्रश्न जुड़ जाता है।

डॉ.पी.एल.शर्मा ने भी अपनी व्याख्या में इतिहास की सामग्री को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार, "वास्तव में इतिहास मनुष्य के संगठित सामाजिक समूहों का, चाहे वह कितने भी प्रगतिशील या पिछड़े हों, उनके आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के सभी पहलूओं का अध्ययन है।"[9] ध्यातव्य है कि इतिहास मात्र अध्ययन नहीं होता, उस अध्ययन का प्रस्तुतीकरण और उससे पूर्व अध्ययन की शैली भी होता है। वह भी इतिहास लेखन का अंग हैं। यदि इतिहास का सम्बन्ध इतिहासकार की तटस्थता से लिया जाए तो, उसके लिए कोई समाज न प्रगतिशील होता है और न पिछड़ा। इस व्याख्या को ध्यान में रखा जाए तो उसकी परिसीमाओं में रहकर इतिहास लेखक एक माध्यम मात्र बनकर रह जाएगा।

साहित्येतिहास लेखन में विचारधारा एवं भावधारा का प्रश्न इसलिए इतना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इससे अतीत एवं उससे जुड़े तथ्यों को देखने का इतिहासकार का दृष्टिकोण निर्धारित होता है। इसी कारण इतिहास लेखन में आगे चलकर विभिन्न दृष्टियों का विकास संभव हो सका। इसी ने इस प्रश्न को भी उपस्थित किया कि इतिहास कला है अथवा विज्ञान? इतिहास से न तो कला जितनी कलाकारी की अपेक्षा होती है और न इतिहास जितनी तथ्यात्मकता की। वैसे इन दोनों की अपेक्षा इसमें बनी रहती है। तथ्यों के अभाव में वह मृत हो जाएगा और कला के अभाव में वह तथ्यों की सूची बनकर रह जाएगा। इन दोनों के समन्वित संतुलन से इतिहास की अवधारणा को पूर्णत्व प्रदान किया जाता है। दृष्टिकोण के अभाव में भी वह सूची मात्र बनकर रह जाएगा। प्रो.डी.डी.कोसाम्बी ने इतिहास के सम्बन्ध में कहा है, "उत्पादन के संसाधनों एवं संबंधों में उत्तरोत्तर परिवर्तनों का तिथिक्रमानुसार प्रस्तुतिकरण ही इतिहास है।"[10]

---

[8].हिन्दी विश्वकोश, नागरी प्रचारिणी सभा, खण्ड-१, पृ.५२३

[9].इतिहास और राजनीतिशास्त्र के निबंध-डॉ.पी.एल.शर्मा, पृ.२-३

[10].कल्चन ऐण्ड सिविलाइज़ेशन-प्रो.डी.डी.कोसाम्बी, पृ.१०

किन्तु उत्पादन के संसाधनों एवं उससे जुड़े तथ्यों को प्रस्तुत कर देना तभी संभव है, जब वह उस मात्रा में उपलब्ध हों, जिस मात्रा में उस समय मौजूद रहे हों। क्या हमारे पास वैदिक काल जैसे समयों के वैसे आँकड़े उपलब्ध हैं? इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि यह मनुष्य मात्र का इतिहास बन जाएगा। तीसरी बात यह है कि संस्कृति का इतिहास हमेशा उत्पादन संबंधों से निर्धारित नहीं होता है। कई बार वह अखण्डित चलता रहता है। जैसे भारत में स्वातंत्र्योत्तर काल में सन १९६० ई. तक जमींदारी निर्मूलन के कई असफल प्रयास हुए और बाद के समय में औद्योगिकीकरण के चलते उत्पादन के सम्बन्धों में कई बदलाव देखने को मिले किन्तु क्या सन् ६० तक सांस्कृतिक परिदृश्य में वैसे बदलाव देखने को मिले, जिसे प्रस्तुत करने की बात की जा रही थी? कई स्थानों पर जमींदारी प्रथा के निर्मूलन के बावजूद उसके कई मूल्यों को सामंतवादी विचारधारा के रूप में प्रस्तुत होते देखा जा सकता है। अतः किसी मतवाद विशेष के आलोक में इतिहास को व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इतिहास की संक्षेप में व्याख्या करना एक दुरुह कार्य है, क्योंकि इतिहास व्याख्या से परे जाकर एक अवधारणा का रूप ग्रहण कर चुका है। इसके अतिरिक्त इतिहास में इतनी धाराओं का विकास हो चुका है कि उन सबको एक व्याख्या में समेटना लगभग असंभव है। जैसे 'सबाल्टर्न हिस्ट्री' नाम से लिखे जा रहे इतिहास केवल राजा-रानी के इतिहास को इतिहास लेखन मानते ही नहीं। यह इतिहास लेखन की सूक्ष्म विधि कही जा सकती है, जिसमें सामान्य मनुष्य एवं उसके समाज का इतिहास लिखा जाता है। राजनीति या राजनैतिक इतिहास (Political History) अपने किस्म की पारम्पारिक इतिहास-लेखन-विधि होते हुए भी इसमें उत्तरोतर विकास होता गया। पहले यह राजाओं के शौर्य प्रदर्शनों का इतिहास हुआ करता था, रानियाँ युद्ध का कारण अथवा राजाओं को जन्म देनेवाली मात्र हुआ करती थीं, किन्तु आधुनिक इतिहास में स्त्री भी राजकाज कर सकती है और उनका भी इतिहास लिखा जाता है। यदि वह राजनीति से सीधे-सीधे सम्बन्धित न होकर भी अपना कार्य करती है, तब भी वह इतिहास के दायरे में आती है। संभवतः इसी कारण जेम्स हारवे ने 'मानवजाति के भूतकाल की विस्तृत जानकारी'[11] को इतिहास की संज्ञा दी है। किन्तु इस सन्दर्भ में ई.एच.कार द्वारा किये गए व्यंग्य को भी हमें ध्यान में रखना होगा। कार ने लिखा है, "व्यवहारवादियों के अनुसार, इतिहासकार तथ्यों का संग्रह करता है, घर ले जाता है, उन्हें पकाता है तथा स्वेच्छित ढंग से उसे परोस देता है।"[12] यहाँ इतिहास को केवल तथ्यों के प्रस्तुतिकरण से आगे

---

[11].इंसाक्लोपीडिया ब्रिटानिका, जिल्द-२, पृ.५९४

[12].व्हाट इज़ हिस्ट्री-ई.एच.कार, पृ.०९

देखा गया है । जिसे हम जानते हैं, से आगे बढ़कर इतिहास लेखन जिसे हमें जानना चाहिए का भी प्रयास करता है । केवल तथ्यों के प्रस्तुतिकरण से आगे वह उसे समुचित दृष्टिकोण से व्याख्यायित-विश्लेषित करता है । वह वर्तमान के आलोक में भूत को देखता है और भूतकाल की व्याख्या प्रस्तुत करता है । वह भूतकाल को तत्कालीन मूल्यों के आधार पर भी समझने-समझाने का प्रयास करता है। इतिहास लेखन मानव जाति तक ही सीमित नहीं होता, वह उससे जुड़े तमाम पहलुओं, विचारों एवं स्थावर-जंगम जगत् की व्याख्या करता है, उन्हें प्रस्तुत करता है ।

सारांशत: कहा जा सकता है कि 'इतिहास' शब्द की व्याख्या 'इति+हास' अर्थात 'ऐसा घटित हुआ था' के रूप में की जाती है । इतिहास एक अवधारणा (Concept) का रूप धारण कर चुका है। इतिहास की अवधारणा को कई विद्वानों ने व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। इसमें से कोई भी व्याख्या पूर्ण इसलिए नहीं कही जा सकती है, क्योंकि इतिहास की अवधारणा अत्यन्त गतिशील रही है।

पश्चिम में जिस हिरोदोतस को पहली बार इतिहास लेखन का श्रेय दिया जाता है, उनके अनुसार इतिहास का सम्बन्ध आँखों देखी वर्तमान घटनाओं से था, जिसमें उन्होंने अपने देखे युद्ध आदि का वर्णन किया है । संभवतः हिरोदोतस से ही प्रभावित होकर बेनिदेतो क्रोंचे ने इतिहास को परिभाषित करते हुए उसका सम्बन्ध मानव जीवन की गतिशीलता एवं उसमें घटित वस्तु से माना है। किन्तु प्रो.गालब्रेथ द्वारा दी गई व्याख्या इन दोनों विद्वानों की व्याख्याओं के ठीक विपरित जाती दिखाई देती है । उनके अनुसार इतिहास का सम्बन्ध ज्ञात भूतकाल से है। इस व्याख्या में व्याप्त शोध की संभावना को जिस नकारवादी दृष्टि से देखा गया है, उसे दूर करने के क्रम में इतिहास को व्याख्यायित करते हुए कॉलिंगवुड़ ने गवेषणा या जाँच-पड़ताल कहा है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार ई.एच. कार ने इतिहास की व्याख्या को व्यापकता प्रदान करते हुए, इसे मानव के देश-काल में परिवर्तन के अतिरिक्त इतिहासकार की तत्सम्बन्धी व्याख्या से भी जोड़ने का प्रयास किया। इसी व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए जेम्स हार्वे रॉबिन्सन ने इतिहास को भूतकाल की विस्तृत जानकारी माना है । इन सभी व्याख्याओं को अत्यन्त व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए रेमण्ड विलियम्स ने इतिहास को मात्र भूतकाल मानना संकुचित कहा और इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण सृष्टि के ज्ञान और जानकारी से जोडा। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई इतिहास की व्याख्याएँ युगानुरूप परिवर्तित-परिवर्द्धित होती रही है, जैसे-जैसे उसकी अवधारणा में बदलाव आते गए।

भारत में इतिहास को देखने की समझ आरंभ में सतही रही है । प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय वृहदारण्यक तथा छन्दोग्योपनिषद में भी इस शब्द का प्रयोग देखा

जा सकता है। महाभारतकार के अनुसार इतिहास द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की स्थापना एवं सुरक्षा में सहायता प्राप्त हो। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी विश्वकोश' के अनुसार इतिहास का सम्बन्ध विगत काल की घटनाओं एवं उसके सम्बन्धी दृष्टिकोण से है। डॉ.पी.एल.शर्मा ने इतिहास को मनुष्य के संगठित जीवन के सभी पहलुओं से जोड़कर देखा है। प्रो.डी.डी.कोसाम्बी ने इतिहास को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उत्पादन के संसाधनों एवं उसके परिवर्तनों की प्रस्तुति से जोड़कर देखा है।

इसके अतिरिक्त इतिहास में इतनी धाराओं का विकास हुआ है कि उन सबको एक व्याख्या में समेटना लगभग असंभव है। जैसे सबाल्टर्न हिस्ट्री नाम से लिखे जा रहे इतिहास केवल राजा-रानी के इतिहास को इतिहास लेखन मानते ही नहीं। केवल तथ्यों के प्रस्तुतिकरण से आगे इतिहास उसे समुचित दृष्टिकोण से व्याख्यायित-विश्लेषित करता है। वह वर्तमान के आलोक में भूत को देखता है और भूतकाल की व्याख्या तथ्यों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। इतिहास लेखन मानव जाति तक ही सीमित नहीं होता, वह उससे जुड़े तमाम पहलूओं, विचारों एवं स्थावर-जंगम जगत् की व्याख्या करता है, उन्हें प्रस्तुत करता है। इसे इतिहास की व्यापक रूप में विकसित होनेवाली अवधारणाओं में शामिल कर, उसे फिर से व्याख्यायित करने की आवश्यकता है।

१.१.२ पश्चिम में इतिहास एवं ऐतिहासिक चेतना का विकास

पश्चिम की इतिहास विषयक अवधारणा आरंभ से ही कुछ भिन्न रही है। वहाँ के इतिहास के लिए प्रयुक्त शब्द का पर्याय 'हिस्ट्री' का सर्वप्रथम प्रयोग हिरोदोतस (४५६-४५५ ई.पू.) ने किया था। वे पहले पाश्चात्य इतिहासकार थे, जिन्होंने यूनान और ईरान के संघर्ष का वृत्तान्त लिपिबद्ध किया था। हिरोदोतस के अनुसार हिस्ट्री के चार लक्षण हैं - १.यह वैज्ञानिक विधा है, अर्थात् इसकी पद्धति आलोचनात्मक है। २.यह मानवीय विधा है, अर्थात् इसका उद्देश्य मानव कार्य-कलापों का अध्ययन करना है। ३.यह तर्कसंगत विधा है, अर्थात् इसके निष्कर्ष और तथ्य साक्ष्य पर आधारित हैं। ४. यह शिक्षाप्रद विधा है, अर्थात् इसका कार्य अतीत के आलोक में भविष्य की खोज करना और मनुष्य को मार्ग दिखाना है।[13] स्पष्टतः हिरोदोतस के प्रथम तीन लक्षण इतिहास को यथार्थवादी धरातल तो अन्तिम उसे आदर्शवादी खाँचे में कैद कर देता है। उन्होंने अपने लेखन में हिन्दी के चारण कवियों की भाँति आखों देखी का वर्णन किया है, अतीत में जाने का उन्होंने कष्ट ही नहीं किया और भविष्य के सन्दर्भ में काव्यात्मक हो उठे हैं।

---

[13].इतिहासदर्शन-डॉबुद्धप्रकाश, पृ६८-६९

हिरोदोतस के उपरान्त दूसरे प्रमुख यूनानी इतिहासकार मिसीदाईदिस (४५४-३९९ई.पू.) हैं। वे एथेन्स और स्पार्टा के बीच एक युद्ध का जिसमें स्वयं उन्होंने टुकड़ी का नेतृत्व किया था, वृतान्त लिखा है। उन्होंने घटनाओं के वर्णन तक अपने-आप को सीमित न करते हुए उन घटनाओं की तह तक जाने का प्रयास किया है। वे हिरोदोतस से अधिक नैतिक एवं आदर्शवादी थे, जिससे उनका लेखन भी स्वाभाविक रूप में प्रभावित हुआ है। वे भी आँखों देखी के ही रचनाकार थे, भूत के इतिहासकार नहीं।

यूनान के बाद रोम में इतिहास लेखन की विशेष प्रगति हुई। रोमनों ने यूनानियों से ही इतिहास लेखन की कला सीखी। रोमन इतिहास लेखकों में साल्लुस्त, लिवी और तेसिरस् के नाम उल्लेखनीय हैं। साल्लुस्त (८६-३४ ई.पू.) की दो पुस्तकें 'केतलीन का षड्यत्र' और 'जुगरथिन का युद्ध' हैं। लिवी (५६-७१ ई.) ने रोम साम्राज्य का विस्तृत इतिहास लिखने का प्रयास किया। लिवी की शैली अत्यधिक अलंकृत और साहित्यिक गुणों से सम्पन्न है। उनके अनुसार इतिहास का उद्देश्य नैतिक आदर्शों की शिक्षा देना और देश प्रेम के भावों को दृढ़ करना है।[14] तेसिरस् (५५-१२ ई.) ने रोम और जर्मनी के युद्धों का इतिहास लिखा। इनका इतिहास लेखन वैयक्तिक पूर्वाग्रहों से प्रभावित है। साथ ही उनकी शैली नाटकीय है, जिसे वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन की दृष्टि से दोषपूर्ण माना जा सकता है। तेसिरस के साथ रोमन इतिहास लेखन का स्वर्णयुग समाप्त होता है।

पाँचवीं शताब्दी में जर्मनों ने रोमन साम्राज्य को नष्ट कर दिया। यहीं से यूरोपीय इतिहास के मध्यकाल का आरंभ होता है। यह काल यूरोप में पोप के आतंक से अंधकारमय था। इस काल के साहित्य और इतिहास लेखन, दोनों में धार्मिक आग्रह की प्रधानता है और तरह-तरह की रुढ़ियों, अंधविश्वासों और चमत्कारपूर्ण घटनाओं को इतिहास के नाम पर चलाया गया है। इस दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया १६वीं शताब्दी में पुनर्जागरण के साथ हुई। नवीन इतिहास लेखन के अग्रदूत मैक्यावली और विको थे। मैक्यावली ने धर्म और नीति के अनुशान से इतिहास को पूर्णतः मुक्त कर उसे पुनः यथार्थ के कठोर और रुक्ष धरातल पर प्रतिष्ठित किया। विको ने इतिहास को अतीत से ही संबंध न मानकर उसे वर्तमान से भी जोड़ने का आयोजन किया। इनके ही यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास हमें १९वीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहास लेखन में देखने को मिलता है, इतिहासकार ई.एच.कार[15] का भी लगभग यही मत है। "१९ वीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहास की धारा को हार्ड टाइम्स के मिस्टर ग्रैडग्रिण्ड के इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है - जो कुछ मैं चाहता हूँ वह केवल तथ्य

---

[14].वही, पृ.८२

[15].वही.पृ.८२

है....जीवन में केवल तथ्यों की आवश्यकता है ।"[16] विधेयवादी इतिहासकार मानते थे कि इतिहास लेखन का काम केवल तथ्यों का संकलन है, उसे इसके अतिरिक्त किसी नैतिक अथवा राजनैतिक पूर्वाग्रहों से आक्रान्त नहीं होना चाहिए । वे इतिहास को कोरा तथ्यपरक और नीतिनिरपेक्ष बनाने के आग्रही थे । पर कालान्तर में वहाँ भी इस दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया आरंभ हुई और समझा जाने लगा कि - यथातथ्यता एक कर्तव्य है, इतिहाकार का गुण नहीं । वस्तुनिष्ठता के लिए किसी इतिहासकार की सराहना बहुत कुछ वैसी ही है, जैसे किसी वस्तुकार की इसलिए प्रशंसा की जाए कि उसने काग़ज़ पर सीधी रेखा खींच दी ।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक चेतना का आरंभ पश्चिम में पहले लिखित रूप में देखने को मिलता है, जहाँ यूनानी लेखक हिरोदोतस ने इसे वैज्ञानिक विधा, मानवीय विधा, तर्कसंगत विधा एवं शिक्षाप्रद विधा के रूप में रेखांकित करते हुए अपनी पुस्तक लिखी थी। मिसीदाईदिस (४५४-३९९ई.पू.) ने युद्धों के वर्णन को इतिहास माना। रोमन इतिहास लेखकों में साल्लुस्त, लिवी और तेसिरस् के नाम उल्लेखनीय हैं । तेसिरस के साथ रोमन इतिहास लेखन का स्वर्णयुग समाप्त होता है ।

पुनर्जागरण काल के जर्मन इतिहासकार मैक्यावली और विको थे,जो कि नवीन इतिहास लेखन के अग्रदूत थे। मैक्यावली ने धर्म और नीति के अनुशान से इतिहास को पूर्णतः मुक्त कर उसे पुनः यथार्थ के कठोर और रुक्ष धरातल पर प्रतिष्टित किया । विको ने इतिहास को अतीत से ही संबंधन मानकर उसे वर्तमान से भी जोड़ने का आयोजन किया । विधेयवादी इतिहासकार इतिहास को कोरा तथ्यपरक और नीतिनिरपेक्ष बनाने के आग्रही थे । इनके ही यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास हमें १९वीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहास लेखन में देखने को मिलता है, इतिहासकार ई.एच.कार[17] का भी लगभग यही मंतव्य है ।

१.१.३ भारत में इतिहास एवं ऐतिहासिक चेतना का विकास

भारतीय इतिहास लेखन का प्रारंभिक रूप हमें वैदिक साहित्य में दिखाई देता है । वैदिक साहित्य में उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही कवि-नाटककार जयशंकर प्रसाद ने 'आर्यवर्त और उनका प्रथम सम्राट इन्द्र' शीर्षक गवेषणापूर्ण प्रबंध तैयार किया था ।[18] वेदों से भारत में आर्य संस्कृति का प्रसार, अनार्यों के साथ उनका संघर्ष, उनके धार्मिक-सामाजिक संगठन, दास-प्रथा आदि के

---

[16].वही, पृ.वही

[17].वही.पृ.८२

[18].हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन-आनन्द नारायण शर्मा, पृ.०८

सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त होती है। वैदिक साहित्य के उपरान्त बौद्ध पिटक, निकाय और जातकों तथा जैनों के यद्यपि श्रद्धा तत्व के अतिरेक एवं अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करने की ईच्छाओं ने कल्पनाओं में पर बाँध दिए थे। तथापि इनके साहित्य का सावधानी से अध्ययन कर इतिहास लेखन में इनकी सहायता ली जा सकती है, जो इधर के समय में काफी प्रचलित हो रही है।

मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, भविष्य, भागवत और गरुड़ पुराण में विभिन्न वंशों की कथाएँ दी गई हैं। इनमें से कुछेक में गुप्तकाल तक के समय का उल्लेख है। पुराणों में भारत की प्राचीन परिपाटी के अनुसार तिथि निर्देश का तो अभाव है ही, किन्तु घटना क्रम को एकरेखीय रूप में लिपिबद्ध होते हुए देखा जा सकता है। महाभारत में ऐतिहासिक सामग्री की विपुलता को देखकर तो उसे अनेक बार इतिहास की उपाधि प्रदान की गई है। अपने मूल रूप में यह 'जय काव्य' के नाम से विख्यात है। 'जय-काव्य' ही क्रमशः विकसित होता हुआ 'भारत' और 'महाभारत' की स्थिति तक पहुँचा। महाभारत के मूल प्रणेता व्यासमुनि के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ.भागवतशरण उपाध्याय ने लिखा है, "भारत के लिए यह कुछ कम गौरव की बात नहीं है कि जब संसार कबीले बाँधकर रोटी और चरागाहों की खोज में दर-ब-दर फिर रहा था, सभ्यता के उस उषःकाल में तब यह देश सभ्यता के अनेक दैदीप्यमान युग समाप्त कर चुका था और उसका प्रातः स्मरण करने के लिए ब्रह्मचारी-सदृश्य वह ध्यानासान मार बैठे थे।"[19]

आनेवाली कई शताब्दियों तक यह महान ग्रंथ कई नाटककारों, कवियों की विशाल साहित्यिक परम्परा का उपजीव्य बना। संभवतः विश्व के किसी भी ग्रंथ से साहित्यकारों और इतिहासज्ञों को इतनी प्रेरणा न मिली और न उस प्रकार उनका दोहन हुआ, जिस प्रकार इस विशाल महाभारत शीर्षक कृति का। इसलिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे 'उज्ज्वल चरित्रों का वन' और वाचस्पति गौराल ने 'भारतीय जीवन का विश्वकोष' कहा है। यद्यपि अपने वृहद चरित्र चित्रण, आध्यात्मिक-नैतिक दृष्टिकोण एवं काव्यात्मक शैली के कारण महाभारत को वर्तमान किसी भी मानदंड के आधार पर इतिहास नहीं कहा जा सकता है। फिर भी इससे इतिहास की विपुल सामग्री संकलित की जा सकती है और की गई है।

ऐतिहासिक दृष्टि से उत्तरकालीन ग्रंथों में बाणभट्ट का 'हर्षचरित' उल्लेखनीय है। सातवीं सदी में हुए बाण अपने समय के प्रसिद्ध कवि हर्षवर्द्धन के समकालीन थे, जो उन्हीं की तरह प्रसिद्ध हुए।

---

[19].वही, पृ.०९

तत्कालीन काव्य-परिपाटी के अनुसार उन्होंने 'हर्षचरित' नायक का उत्कर्ष दिखाने के लिए कुछ अलौकिकता का भी समावेश किया है। तथापि इस ग्रंथ की अधिकांश घटनाएँ इतिहास सम्मत हैं। बाणभट्ट ने जहाँ 'कादम्बरी' में अपनी कल्पना को विकास का उन्मुक्त क्षेत्र प्रदान किया, वहीं 'हर्षचरित' में उसे ऐतिहासिक पुट द्वारा अनुशासित रखने का बराबर प्रयास किया गया। यह स्वयं इस बात का प्रमाण है कि इतिहास अथवा ऐतिहासिक काव्य-लेखन की परिपाटी, इस देश के लिए सर्वथा अपरिचित नहीं थी। किन्तु भारत के जिस काव्य-ग्रंथ की ऐतिहासिकता की पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्त कंठ से सराहना की है, वह है कश्मीरी कवि कल्हण की 'राजतरंगिणी'। इसी ग्रंथ से ज्ञात होता है कि कश्मीर में इतिहास लेखन की सुदीर्घ परम्परा थी। कल्हण ने अपने ग्यारह पूर्ववर्ती इतिहासकारों के होने का उल्लेख किया है, जिनमें से पाँच के नाम ग्रंथ में दिए गए हैं। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' की रचना में प्राचीन इतिवृत्तों के अतिरिक्त शिलालेखों, प्रशस्तिपट्टों, दानपत्रों आदि से भी सहायता ली थी। कल्हण की इतिहास-दृष्टि इतनी स्वच्छ और पैनी थी, इसका अनुमान उनके इस काव्य से भी किया जा सकता है-"वही कवि स्तुत्य है, जो राग द्वेष से पृथक रहकर केवल तथ्यों के निरुपण के लिए अपनी भाषा का प्रयोग करे"[20]।

कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में महाभारत के युग से लेकर अपने समय तक के राजवंशों का वर्णन किया है। इसमें प्राचीन काल के राजवंशों का कालनिर्णय विवादास्पद है, किन्तु ७वीं शताब्दी और उसके बाद की घटनाओं से संबंधित वर्णन में आशंकाओं की बहुत कम संभावनाएँ हैं। राजकवि होते हुए भी कल्हण अपने आश्रयदाताओं की आलोचना करने से नहीं चुके। इसी प्रकार उन्होंने कुछ शासकों और मंत्रियों द्वारा किए गए प्रजा के हितों की रक्षा की सराहना की। कल्हण की 'राजतरंगिणी' अतीत के इतिवृत्तों के साथ समसामायिक जीवन का विस्तृत और विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करती है।

"कल्हण की 'राजतरंगिणी' की परम्परा को जोनराज, श्रीवर, प्राज्यभट्ट आदि कवि-इतिहासकारों ने आगे बढ़ाया। जोनराज सुल्तान जैनुल आबेदीन (१४११-१४६३ ई.) के समकालीन थे। उन्होंने 'द्वितीय राजतरंगिणी' की रचना की, जिसमें १५वीं शताब्दी के मध्य तक का इतिहास वर्णित है। इसी प्रकार श्रीवर और प्राज्यभट्ट ने १५वीं शताब्दी तक के उत्तरार्द्ध तक का वृतान्त लिखा है। संभवतः भारतीय लेखकों में सर्वप्रथम श्रीवर ने युद्ध में प्रयोग होनेवाले गोला-बारूद की चर्चा की।"[21]

---

[20].इतिहासदर्शन-डॉ.बुद्धप्रकाश, पृ.६८-६९

[21].हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन-आनन्द नारायण शर्मा, पृ.११

कश्मीर के समान ही गुजरात में भी इतिहास अथवा ऐतिहासिक काव्य लेखन की समृद्ध परम्परा थी । सोमेश्वर का 'कीर्तिकौमुदी', अरीसिंह का 'सुकृतसंकीर्तन', मेरुतुंग का 'प्रबंध चिन्तामणि', राजशेखर का 'प्रबंधकोष', जयसिंह का 'हम्मीर मरदेन' तथा 'वस्तुपालःतेजपाल प्रशस्ति', उदयप्रभ का 'सुकृतकीर्तिकल्लोलिणी', बालचन्द्र का 'वसन्तविलास', हेमचन्द्र का 'कुमारपालचरित' इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं । इसी प्रकार वाक्पतिराज का 'गउड़बहो', विल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित', नयचन्द्र का 'हम्मीरकाव्य', पद्मगुप्त का 'नवसाहसांक चरित' और वल्लाल का 'भोजप्रबंध' भी उल्लेखनीय है। इधर बिहार में ज्योतीश्वर ठाकुर 'वर्णरत्नाकर' सामाजिक इतिहास की ओर और विद्यापति की 'कीर्तिलता' राजनैतिक इतिहास काव्य की अनूठी कृतियाँ हैं । इसी क्रम में उन कतिपय तमिल ग्रंथों का भी उल्लेख किया जा सकता है, जिनसे तत्कालीन इतिहास के विस्मृत पृष्ठों पर प्रकाश डाला जा सकता है । जैसे नन्दिक्कलंवम्, ओट्टक्कूतन का 'कुल्लौत्तुंगण-पिल्लेतमिल', जयगोंड़ार कृत 'राजराजशोलनङ्ला', 'चोलवंशचरितम्' आदि ।

भारत में इस्लामी शासन प्रतिष्ठित हो जाने के बाद मुसलमान इतिहासकारों ने भी अपेक्षाकृत आधुनिक दृष्टि सम्पन्न, यद्यपि प्रायः अपने राजाओं की योजनाओं के प्रशंसा में इतिहास लेखन किया। किन्तु इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि मुगलों के यहाँ आने और बस जाने के बाद से जिस प्रकार का इतिहास लेखन हुआ,वह आधुनिक इतिहास लेखन की विधि से लगभग मिलता-जुलता था। चूँकि मुगल ख़ानाबदोशों-सा जीवन व्यतीत करते थे और इसके लिए उन्हें जीवन-संघर्ष प्रकृति और बाह्य शत्रुओं से करना पड़ता था। ऐसे में वीरों को जन्म देने के लिए या वीरता जगाने के लिए कई कहानियों की आवश्यकता महसूस होती थी, अतः उन्होंने अपने पूर्वजों की कहानियाँ लिखनी आरंभ कर दीं, जिनमें तिथियों, स्थानों आदि का भी उल्लेख हुआ करता था, जिसका अभाव इससे पूर्व के इतिहासनुमा ग्रंथों में देखा जा सकता है। संभवतः उन्होंने लेखन की यह विधि अरबों या तुर्कों से सीखी होगी। मुगलों का तुर्कों से सम्बन्ध जोड़ा भी जाता है। इसे हम भारतीय इतिहास लेखन में आधुनिक अर्थों में इतिहास लेखन का प्रस्थान बिन्दु मान सकते हैं, जिसे बाद के इतिहासकारों, साहित्यकारों ने प्रयोग में लाने का प्रयास किया है। ऐसे इतिहासकारों में अल्बरुनी, अमीर खसरो, फरिश्ता, अबुल फज़ल उल्लेखनीय हैं । 'शाहे वक्त' की प्रशंसा की परिपाटी भी हमारे यहाँ के महाकाव्यात्मक ढ़ाँचे में नहीं हुआ करती थी, यह भी मसनवी शैली के साथ हमारे यहाँ आकर इतिहास की एक सामग्री बनी। इस सन्दर्भ में सूफ़ियों ने भी अपने महाकाव्यों में इतिहास के संकेत छोड़े हैं, अन्यथा हमारे महाकवि तो स्वयं के बारे में प्रायः मौन ही रहा करते थे और साथ ही अपने समकालीन समाज के सन्दर्भ में उन्होंने सीधे-सीधे प्रायः कुछ नहीं लिखा है।

सारांशत: कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास लेखन का प्रारंभिक रूप हमें वैदिक साहित्य में दिखाई देता है। बौद्ध पीटक, निकाय और जातकों तथा जैनों के ग्रंथों में भी इसके चिन्ह मिलते हैं। मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, भविष्य, भागवत और गरुड़ पुराण में विभिन्न वंशों की कथाएँ दी गई हैं। महाभारत में ऐतिहासिक सामग्री की विपुलता को देखकर तो उसे अनेक बार इतिहास की उपाधि प्रदान की गई है। बाणभट्ट ने जहाँ 'कादम्बरी' में अपनी कल्पना को विकास का उन्मुक्त क्षेत्र प्रदान किया, वहीं 'हर्षचरित' में उसे ऐतिहासिक पुट द्वारा अनुशासित रखने का प्रयास किया। कल्हण ने राजतरंगिणी की रचना में प्राचीन इतिवृत्तों के अतिरिक्त शिलालेखों, प्रशस्तिपट्टों, दानपत्रों आदि से भी सहायता ली थी, जिसमें उन्होंने महाभारत के युग से लेकर अपने समय तक के राजवंशों का वर्णन किया है। सोमेश्वर का 'कीर्तिकौमुदी', अरिसिंह का 'सुकृतसंकीर्त्म', मेरुतुंग का 'प्रबंध चिन्तामणि', राजशेखर का 'प्रबंधकोष', जयसिंह का 'हम्मीर मरदेन' तथा 'वस्तुपालःतेजपाल प्रशस्ति', उदयप्रभ का 'सुकृतकीर्तिकल्लोलिणी', बालचन्द्र का 'वसन्तविलास', हेमचन्द्र का 'कुमारपालचरित' इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। ज्योतिश्वर ठाकुर 'वर्णरत्नाकर' सामाजिक इतिहास और विद्यापति की 'कीर्तिलता' राजनैतिक इतिहास काव्य की अनूठी कृतियाँ हैं।

मुसलमान इतिहासकारों ने अपेक्षाकृत आधुनिक दृष्टि सम्पन्न राजाओं की योजनाओं के प्रशंसा में इतिहास लेखन किया। इस काल के इतिहासकारों में अल्बरुनी, अमीर खसरो, फरिश्ता, अबुल फज़ल उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काल में भारतीय इतिहास लेखन कई दिशाओं में प्रगति कर रहा है, कहीं वह विचारधारा के तो कहीं विमर्शों के अनुसार प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका अकादमी रूप भी अपने चरम पर है। इसके विश्व स्तर पर प्रचलित कई रूप भारत के वर्तमान इतिहास लेखन में देखने को मिलते हैं।

१.२ साहित्येतिहास : व्याख्या एवं अवधारणाएँ

साहित्य एवं इतिहास, इन दो अवधारणाओं के योग से 'साहित्येतिहास' की अवधारणा बनी है अथवा बनती है। यह न तो उस अर्थ में इतिहास होता है, जिस अर्थ में इतिहास को विद्वानों ने प्रस्तुत किया है और न तो साहित्य ही होता है, जिस अर्थ में विभिन्न युगों में प्रत्येक पीढ़ी ने साहित्य को परिभाषित करने का प्रयास किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है, "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का

इतिहास कहलाता है।"[22] इसका यह सीधा तात्पर्य है कि सामाजिक-साहित्यिक एवं जनता की चित्तवृत्तियों का आदि से अन्त तक प्रस्तुतिकरण ही साहित्य का इतिहास कहलाता है । किन्तु रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसकी अपेक्षा साहित्य को संवेदनाओं से जोड़कर देखा और उन्होंने साहित्येतिहास की अपनी पद्धति से व्याख्या प्रस्तुत की। उनके अनुसार, "कवि का काम यदि 'दुनिया में ईश्वर के कामों को न्यायोचित ठहराना है' तो साहित्य के इतिहासकार का काम है कवि के कामों को साहित्येतिहास की विकास-प्रक्रिया में न्यायोचित ठहराना।"[23]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं रामस्वरूप चतुर्वेदी के साहित्येतिहास संबंधी व्याख्याओं की तुलना की जाए तो स्पष्ट है कि सन १९२९ से लेकर १९८६ के बीच साहित्येतिहास को लेकर जो अवधारणा रही है, उसमें काफी अन्तर आ गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने साहित्येतिहास में पाठक (जिसे वे जनता कहते हैं), पाठक की चित्तवृत्तियाँ, समाज की चित्तवृत्तियाँ, साहित्यिक परम्परा, सामाजिक परम्परा, उनका संचित रूप अर्थात् समाज, साहित्य में जनता की चित्तवृत्तियों का अनिवार्यतः अभिव्यक्त होना, तथा साहित्यिक परम्परा में उसे दिखाना साहित्येतिहास था । किन्तु रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कवि (या साहित्यकार) और उसके समाज में न्यायोचित कार्यों, ईश्वर के कार्यों और साहित्येतिहास की विकास प्रक्रिया तक अपने आप को सीमित कर लिया है । किन्तु यह अवधारणा एकमात्र अवधारणा नहीं मानी जानी चाहिए । क्योंकि शुक्लोत्तर कई साहित्येतिहासकारों एवं साहित्येतिहास सिद्धान्तकारों ने भी इसे व्याख्यायित करने का प्रयास किया है । जिन्हें क्रमशः देखना सुविधाजनक होगा।

'जन' और 'लोक' शब्द को लेकर भी साहित्येतिहास को देखने का दृष्टिकोण विकसित हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के यहाँ 'जन' का प्रयोग देखने मिलता है, वहीं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के यहाँ हमें 'लोक' का प्रयोग मिलता है। वास्तव में ये केवल शब्द नहीं, अपितु साहित्येतिहास एवं साहित्य को देखने की दो भिन्न दृष्टियाँ हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट शब्दों में साहित्येतिहास को एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है, "साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादि काल प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवित की ही विकास कथा है। ग्रंथ और ग्रंथकार, कवि और काव्य, सम्प्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ़ इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं, मुख्य है मनुष्य, जो प्राणधारा की अनुकूल-प्रतिकूल अवस्था में बहती हुई हमारे भीतर प्रवाहित

---

[22].हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.१५

[23].हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.४०

हो रही है । उसको समझने के लिए हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं ।"[24] अर्थात् साहित्य में अनिवार्यतः अभिव्यक्त मानव जीवन को रेखांकित करना साहित्येतिहास का मूल उद्देश्य है । उसे सही या गलत सिद्ध करना नहीं, जैसा कि रामस्वरूप चतुर्वेदी को लगता है । आचार्य द्विवेदी यह मानकर चलते हैं कि अनिवार्यतः साहित्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति होती है, चाहे वह व्यक्तिवादी साहित्य ही क्यों न हो । तभी उन्होंने कवि-साहित्यकार से ऊपर मनुष्य को माना है । मनुष्य को अर्थात् मनुष्य की विचारधारा एवं भावधारा को समझने के लिए साहित्येतिहास पढ़ा जाता है, यानि कि साहित्येतिहास में, साहित्य में, अभिव्यक्त जीवन को रेखांकित करना अनिवार्य हो जाता है । उनकी यह साहित्येतिहास की व्याख्या, इतिहास की व्याख्या से पूर्णतः प्रेरित है, क्योंकि इसमें तथ्यों से ऊपर साहित्येतिहास के केन्द्र में मनुष्य को माना गया है, न उसके तथ्यात्मक प्रस्तुतीकरण को ।

साहित्येतिहासकारों का एक ऐसा बड़ा वर्ग है, जो साहित्यतेहास को क्रमानुसार युग विशेष की प्रवृत्तियों का ब्यौर मानता है या उसका आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना । डॉ.सुमन राजे के अनुसार, "साहित्येतिहास में एक सुनिश्चित ऐतिहासिक बोध होता है । राष्ट्रीय भाषागत विशेषताओं का उल्लेख होता है । युग और प्रवृत्तियों के विकास की चेतना का अनुसंधान होता है ।"[25] ऊपरी तौर पर देखने से ही पता चल जाता है कि यह साहित्येतिहास की व्याख्या अव्याप्ति दोष से युक्त है । इसमें भाषा पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है । ऐतिहासिक बोध तो इतिहास की अनिवार्यता है, विशेषता नहीं । इसके अतिरिक्त साहित्य के साथ उसका सांस्कृतिक पक्ष अनिवार्य रूप से जुड़ा होता है, जिस पर यहाँ ध्यान नहीं दिया गया है । जैसा कि लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने साहित्येतिहास को परिभाषित करते हुए लिखा है, "साहित्येतिहास ज्ञान की ऐसी शाखा है जिसका प्रधान उद्देश्य मानव संस्कृति के अध्ययन से जुड़ा हुआ है ।"[26] अर्थात् साहित्य संस्कृति का अभिन्न अंग है और संस्कृति के माध्यम से साहित्येतिहास सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु वार्ष्णेय ने साहित्येतिहास के विषय के सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत नहीं किया । इसकी पद्धति कैसी होना चाहिए या किस प्रकार यह प्रस्तुतीकरण होना चाहिए, जैसा कि आचार्य शुक्ल और द्विवेदी जी ने अपनी व्याख्याओं में इस ओर इंगित किया है ।

सुमन राजे ने अपनी एक और व्याख्या में साहित्येतिहास को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । उनके अनुसार, "साहित्येतिहास युग विशेष की समूहगत कृतियों का समन्वित अध्ययन है । इसमें एक

---

[24].हिन्दी साहित्य-हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.०५

[25].साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप-डॉ.सुमन राजे, पृ.९५

[26].आधुनिक हिन्दी साहित्य-लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ.१०

सुनिश्चित ऐतिहासिक बोध होता है ।"[27] उनकी पहली व्याख्या का ही यह विस्तारित रूप कहा जा सकता है । किन्तु साहित्येतिहास में युग विशेष का नहीं, अपितु भाषा विशेष के सम्पूर्ण साहित्य का विकासक्रम अपेक्षित होता है । उनकी यह व्याख्या इधर प्रचलित युग विशेष पर लिखित साहित्येतिहासों पर लागू हो सकती है । इसी क्रम में डॉ.शिवकुमार के अनुसार, "साहित्य के इतिहास से तात्पर्य देश-काल के आयाम में विकसित साहित्य की समग्रता से तथा भाषा द्वारा उसके व्याख्यात्मक विवरण से भी ।"[28] यह आयाम किस सन्दर्भ में होना चाहिए? इसका क्या उत्तर हो? क्योंकि साहित्येतिहास में अतीत के साहित्य को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखा जाए अथवा सम्बन्धित युग विशेष के? यह प्रश्न शेष रह जाता है ।

इस क्रम में रैनेवेलेक ने लिखा था, "मानव समाज के इतिहास की हमें जरूरत है, क्योंकि वह उन घटनाओं से जुड़ा हुआ है जो अतीत से सम्बद्ध हैं, किन्तु साहित्य के इतिहास की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि विषय-वस्तु सार्वकालिक रूप से विद्यमान है । वे हमारे अतीत का विषय न हो वर्तमान का विषय है ।"[29] संभवतः रैनेवेलेक कहना चाहते हैं कि साहित्येतिहास हमारे युगीन सन्दर्भों से जुड़ी हुई कड़ी है, जो अतीत और भविष्य को एक साथ बाँधती है और उनकी व्याख्या को एक-साथ संभव कर भविष्य की ओर बढ़ने के लिए मार्ग प्रशस्त करती है, वह मात्र घटनाओं का पुंज नहीं है और यदि है तो इसकी आवश्यकता नहीं रह जाती है । किन्तु इसकी आवश्यकता नहीं है, कहने का अभिधार्थ में अर्थ लेना समझदारी न होगी ।

इस विकास क्रम में मैनेजर पाण्डेय की साहित्येतिहास सम्बन्धी यह व्याख्या देखना अनिवार्य है । उन्होंने लिखा है, "साहित्येतिहास का आधार है साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा । साहित्य की प्रगति, निरन्तरता और आस्था के बिना साहित्य का इतिहास असंभव है ।"[30] आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने साहित्येतिहास को व्याख्यायित करते हुए लिखा है, "साहित्येतिहास अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह कुछ विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास न होकर युग विशेष के लेखकों व समूह की कृति समष्टि का इतिहास हो सकता है ।"[31] इन दोनों व्याख्याओं में साहित्येतिहास के लिए साहित्य की निरन्तरता को केन्द्र में रखा गया है । समष्टि में सम्पूर्णता को

---

[27].साहित्येतिहास : सरचना और स्वरूप-सुमन राजे, पृ.९२

[28].हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन-शिवकुमार, पृ.६४

[29].साहित्य सिद्धान्त-रैनेवेलेक वॉरेन ऑस्टेन, पृ.२५४

[30].ऐलमरे हैकिस के साहित्यिक विकास सम्बन्धी सात नियमों का विवेचन-मैनेजर पाण्डेय, आलोचना, नवांक-३६, सम्पा.नामवर सिंह, जनवरी-मार्च-१९७६, पृ.७

[31].साहित्य का इतिहास दर्शन-आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, पृ.४६

व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त इतिहास दृष्टि एवं इतिहास दर्शन के रूप में भी इन व्याख्याओं में निरन्तरता एवं समष्टि को देखा जा सकता है। साहित्य की अखण्डता का दर्शन यहाँ देखा जा सकता है। किन्तु साहित्य के युग विशेष में ही कई प्रवृत्तियाँ देखने को मिल सकती हैं, कभी-कभी तो वे एक-दूसरे के धुर विरोधी भी हो सकती हैं, ऐसे में साहित्य में संबंध किस प्रकार दिखाया जा सकता है? जैसे छायावाद युग की कविता में, एक ओर कविता में कल्पना विलास का अधिक्य था तो दूसरी ओर उसी समय में गद्य साहित्य यथार्थवाद एवं आदर्शवाद का पुट भी देखने को मिलता है, तो तीसरी प्रवृत्ति देशभक्ति के काव्य की थी तो चौथी ओर कविता में हालावाद का दर्शन देखने को मिलता है। ऐसे में साहित्य की निरन्तरता कैसे दिखाई जाए? यह सवाल शेष रह जाता है।

मैनेजर पाण्डेय ने आगे इन्हीं प्रश्नों से जूझते हुए साहित्येतिहास में बौद्धिक अनुशीलन के मुद्दे को भी उठाया है। वे कहते हैं, "साहित्येतिहास को ऐतिहासिक आलोचना से स्वतंत्र एक बौद्धिक अनुशासन के रूप में विकसित करने के लिए यह अत्यावश्यक है कि रचना, रचनात्मक प्रवृत्तियों और कलात्मक बोध के उदय तथा द्वन्द्वात्मक विकास की एक गतिशील प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले ऐतिहासिक यथार्थ से विकास प्रक्रिया के सम्बन्ध की बात की जाए.....। ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि और आलोचनात्मक चेतना के संयोग के कारण ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास एक क्लासिक कृति है, जबकि ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि और आलोचनात्मक चेतना के सामंजस्य के आभाव के कारण हिन्दी साहित्य के अनेक दूसरे इतिहासों में इतिहास और आलोचना का पार्थक्य देखा जा सकता है।"[32] यह निश्चित है कि आलोचना दृष्टि, इतिहास दृष्टि और बौद्धिक अनुशासन साहित्येतिहास के लिए अनिवार्य तत्व हैं। साहित्येतिहास केवल रचनाओं-रचनाकारों का क्रम-युगानुरूप ब्यौरा प्रस्तुत कर देना नहीं होता है, जैसा कि शुक्लपूर्व हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने किया था। इन तत्वों का आवश्यकतानुसार सामंजस्य ही साहित्य का इतिहास कहलाने योग्य कृति बनता है। इन्हीं तत्वों के चलते साहित्येतिहास साहित्य की एक स्वतंत्र विधा के रूप में विद्यमान हो सकता है।

ऊपर्युक्त व्याख्याओं एवं मतों के आलोक में **सारांशतः** कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास की अवधारणा को विभिन्न युगों में प्रत्येक पीढ़ी ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल के पूर्व किसी भी हिन्दी साहित्येतिहासकार ने साहित्येतिहास को व्याख्यायित करने का प्रयास नहीं किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसका सम्बन्ध जनता की बदलती हुई संचित चित्तवृत्तियों के युगीन परिस्थतियों से सामंजस्य बैठाने से जोड़ा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्येतिहास को अनादि काल प्रवाह में निरन्तर प्रवाहमान जीवित की ही विकास कथा कहा है। डॉ.सुमन राजे के

---

[32].साहित्य और इतिहास-दृष्टि-मैनेजर पाण्डेय, पृ.११-१२

अनुसार युग और प्रवृत्तियों के विकास की चेतना का अनुसंधानसाहित्येतिहास में होता है। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने साहित्येतिहास को मानव संस्कृति के अध्ययन का माध्यम माना। डॉ.शिवकुमार ने साहित्येतिहास को साहित्य की क्रमवार व्याख्या कहा है। मैनेजर पाण्डेय ने साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा से साहित्येतिहास को समझने का प्रयास किया है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने साहित्येतिहास को लेखकों व समूह की कृति समष्टि का इतिहास कहा है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसकी अपेक्षा साहित्य को संवेदनाओं के विकास से जोड़कर देखा है।

१.२.१ इतिहास एवं साहित्येतिहास : अन्तर्संबंध

इतिहास एवं साहित्येतिहास दोनों का सम्बन्ध मानव सृष्टि एवं उससे जुड़े समाज से ही है। दोनों के लेखन की अपनी निश्चित पद्धतियाँ, विधियाँ एवं सिद्धान्त होते हैं। जैसे समाज का प्रत्येक व्यक्ति रूढ़ अर्थ में इतिहासकार नहीं होता है, उसी प्रकार प्रत्येक साहित्यकार भी साहित्येतिहास लेखक नहीं होता है। सूक्ष्म रूप में देखा जाए तो प्रत्येक साहित्यकार अपने युग का सामाजिक इतिहास लिखता है, किन्तु उसे उस रूप में इतिहास की मान्यता नहीं दी जा सकती है या नहीं दी जाती है, जिस अर्थ में इतिहास को इतिहास माना जाता है। एक निश्चित समय तक सामान्यतः इतिहास का सम्बन्ध राजा-रानी की कहानियों से माना जाता था, किन्तु इस धारणा में अब काफी बदलाव आ गए हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास एवं सबाल्टर्न इतिहास के माध्यम से सामान्य-से-सामान्य को भी इतिहास का विषय माना गया है। साहित्य तो सामान्य व्यक्ति की कथा कहने में अपने जन्म से प्रतिबद्ध रहा है। किन्तु यह कथा उस रूप में नहीं कहता, जिस रूप में इतिहास कहता है। साहित्य में इतिहास की भाँति तथ्यों, तिथियों, स्थानों के ब्यौरे नहीं होते, जैसे इतिहास में होते हैं। साहित्येतिहास इस साहित्य का कुछ ऐसा इतिहास होता है, जो साहित्य संवेदनाओं, भावधाराओं एवं विचारधाराओं को साहित्यिक कृति के युगीन एवं अपने समकालीन मूल्यों से परखते हुए उसे परम्परा में मूल्यांकित करता है। ऐसे में साहित्येतिहास साहित्य के इतिहास के साथ-साथ साहित्यिक कृतियों के माध्यम से उसमें अभिव्यक्त इन भावधाराओं, संवेदनाओं एवं विचारधाराओं का भी मूल्यांकन परम्परा के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें वह इतिहास लेखन के कई साधनों का भी प्रयोग तो करता है, किन्तु वह उसी अर्थ में नहीं करता, जिस अर्थ में इतिहास लेखन में प्रयुक्त होते हैं, अथवा होते आए हैं।

इतिहास अपने साधनों में युग विशेष की तिथियों, परिस्थितियों एवं स्थानों को ब्यौरेवार तथ्यों के आलोक में प्रस्तुत करता है। साहित्येतिहास इन्हें साहित्यिक कृतियों में चित्रित स्थानों, चरित्रों, चरित्रों के बर्ताव आदि के माध्यम से समाज को देखने-दिखाने का उपक्रम करता है। यहाँ ध्यान देने

की बात है कि साहित्य भी समाज का एक प्रमुख अंग है और इतिहास भी तथा साहित्येतिहास इतिहास के कई साधनों का प्रयोग करता है, किन्तु इन दोनों में अंग-अंगी सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। क्योंकि इतिहास एवं साहित्येतिहास में अंग-अंगी सम्बन्ध नहीं होता है। इतिहास में कई बार साहित्य का विवेचन भी किया जाता है, किन्तु साहित्येतिहास में इतिहास की तरह समाज और परिस्थितियों का उस प्रकार विवेचन नहीं किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि साहित्येतिहास इतिहास का एक भाग मात्र है। साहित्येतिहास इतिहास से भिन्न स्वतंत्र विधारूप है। क्योंकि इतिहास लेखन साहित्य का प्रयोग स्रोत के रूप में करता है, किन्तु वह साहित्येतिहास का मुख्य आधार-विषय होता है। उसके लिए वह साधन मात्र नहीं होता है, अपितु साहित्यिक परम्पराओं का विवेचन दृष्टि विशेष से करना साहित्येतिहास का साध्य होता है।

साहित्येतिहास कला के इतिहास का भी अंग नहीं होता है। क्योंकि कला के इतिहास में अधिकतर रुपांकन कलाओं के इतिहास को सम्मिलित किया जाता है, यथा, नाटक, चित्रकला, मूर्तिकला इत्यादि। साहित्य कला होते हुए भी वह रूपांकन कला नहीं है। लिखित नाटक एवं मंचित नाटक के अन्तर द्वारा इसे समझा जा सकता है। साहित्यकार भी कलाकार तो होता है, किन्तु कला के इतिहास में उसे उस रूप में स्थान नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह रुपांकन कला के क्षेत्र में नहीं आता। भले ही कुछ मंचीय कवि इसे रुपांकन कला बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ते हों। किन्तु ऐसे कवियों की कविताओं को कितनी मात्रा में कविता कहा जाए, यह स्पष्ट नहीं है। इस प्रकार साहित्येतिहास काल के इतिहास से भी भिन्न स्वतंत्र विधा है। कई बार नाटकों को कला के इतिहास में स्थान दिए जाने के कारण साहित्येतिहास एवं साहित्य को भी कला के इतिहास में सम्मिलित करने का प्रयास किया जाता है और उसे उस प्रकार से व्याख्यायित किया जाता है, जो नितान्त भूल है। जहाँ तक नाटकों को कला के इतिहास में स्थान देने का सम्बन्ध है, तो यहाँ इतना ही कहना अनिवार्य है कि नाटक भी रुपांकन कला का एक अभिन्न अंग होते हैं। इस रूप में उन्हें साहित्येतिहास एवं कला के इतिहास दोनों में स्थान देने से कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इतिहास एवं साहित्येतिहास दोनों में अध्ययन की सुविधा हेतु साहित्यिक प्रवाह को कालों में विभाजित किया जाता है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र से आधार चुनते हैं। कई बार साहित्येतिहास राजनैतिक/राजनीतिक इतिहास को आधार बनाकर साहित्यिक युगों का निर्धारण करते हुए देखे जा सकते हैं। जैसा कि अंग्रेजी साहित्येतिहास लेखन में होता है, यथा विक्टोरिया युग, पोप युग आदि। कई भारतीय भाषाओं के साहित्येतिहास भी इसी प्रकार का काल विभाजन एवं नामकरण करते देखे जा सकते हैं। यथा मराठी, तमिल आदि में इसका प्रचलन देखा जा सकता है। हिन्दी में भी राजनैतिक

गतिविधि को ध्यान में रखकर 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य' अथवा 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता' आदि नामकरण देखे जा सकते हैं। विशेषतः हिन्दी साहित्य और सामान्यतः सभी साहित्येतिहासों के लिए आगे चलकर अधिकांशत: समय ऐसे नामकरण भ्रान्ति सिद्ध होते हैं। राजनीति कभी साहित्यिक युग अथवा साहित्यिक कृति की प्रवृत्तियों अथवा रूप रचना का निर्धारण नहीं करती हैं। प्रेमचन्द के शब्दों में 'साहित्य तो राजनीति के आगे चलनेवाली मशाल होती है'[33], ऐसे में इतिहास के कालों, यथा आदि, मध्य, आधुनिक आदि का, प्रयोग साहित्येतिहास में अन्ततः गलत ही सिद्ध होता है।

साहित्येतिहास साहित्यिक कृतियों के प्रकाशन वर्ष, उसके रचनाकार आदि के सन्दर्भ में तथ्यात्मक हो सकता है, किन्तु उसके मूल्यांकन के सन्दर्भ में उसमें वैसी वैज्ञानिकता का समावेश नहीं किया जा सकता है, जैसी विज्ञान से अपेक्षा होती है। इतिहास में भी तिथियों, स्थानों के सन्दर्भ में तथ्यों की दरकार होती है, किन्तु इन तथ्यों की व्याख्या प्रत्येक इतिहासकार अपनी दृष्टि के अनुसार देखा जा सकता है।

साहित्य को इतिहास लेखन अथवा अतीत के सामाजिक अध्ययन का विषय बनाया जाए या नहीं इस सम्बन्ध में काफी विवाद हैं। वैसे अन्य सभी सामाजिक विज्ञानों की तरह इतिहास भी साहित्य का उपयोग करने के पक्ष में नहीं है, किन्तु कई इतिहासकारों ने इसका बखूबी प्रयोग किया है। जैसे वैदिक कालीन समाज-व्यवस्था के अध्ययन के लिए वेदों से सामग्री लेना अथवा मध्यकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के लिए भक्तिकालीन कवियों की कविताओं से सहायता प्राप्त करना आदि। किन्तु साहित्येतिहास लेखन का मुख्य आधार साहित्य ही होता है। व्यापक अर्थ में देखा जाए तो साहित्येतिहास भी इतिहास का स्थानापन्न हो सकता है। किन्तु साहित्येतिहास केवल राजनीतिक इतिहास बनकर नहीं रह सकता है, उसे अनिवार्यतः सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास होना अनिवार्य है। साहित्य का सम्बन्ध राजनीति से भी होता है, किन्तु केवल राजनीति से नहीं। इस अर्थ में सबाल्टर्न इतिहास एवं सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास की बहुत बड़ी एवं महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति साहित्येतिहास करता है। उधर अपने कई अंशों में इतिहास भी साहित्य का इतिहास लिखता है, किन्तु वहाँ दृष्टिभेद देखा जा सकता है। इतिहास में साहित्य के सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष की प्रायः अवहेलना होती है। साहित्य वहाँ महज़ माध्यम होता है।

इतिहास एक प्रकार से अतीत का तथ्यों के माध्यम से ज्ञान होता है, किन्तु साहित्येतिहास अतीत की संवेदनाओं के विकास का लेखा-जोखा होता है। इस प्रकार से साहित्येतिहास सूक्ष्मतम रूप में इतिहास लेखन ही है। कई बार साहित्येतिहासों में भी सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक

---

[33].साहित्य का उद्देश्य-प्रेमचन्द, प्रगतिशील लेखक संघ का अध्यक्षीय भाषण, 1936, http://www.debateonline.in/310712/

परिस्थितियों का ब्यौरा दिया जाता है। यह ब्यौरा प्रायः इतिहास की जानकारी से लिया जाता है या आधृत होता है, जो कि गलत है। साहित्येतिहास में इतिहास की भाँति ब्यौरेवार वर्णन की अपेक्षा साहित्य के माध्यम से युग विशेष की जानकारी दी जाए तो बेहतर होगा। उसी प्रकार साहित्य में उस प्रकार तथ्यात्मकता न होने के कारण इतिहास में उसकी संदिग्धता बनी रहती है। जैसे होरी किस प्रदेश विशेष का किसान था, उसे किस व्यक्ति विशेष ने 'गोदान' करने पर विवश किया था, किस व्यक्ति विशेष के कारण वह किसान से दिहाड़ी मज़दूर बनने पर विवश हुआ था, इसकी तथ्यात्मक जानकारी भले ही 'गोदान'[34] में न दी गई हो, किन्तु उसमें किसान का सामान्यीकरण कर दिया गया है, जो इतिहास की दृष्टि से लेने लायक सामग्री प्रस्तुत नहीं करता है। इतिहास में भी पृथ्वीराज के समय, आदि की जानकारी तो होती है, 'पृथ्वीराज रासो' के अध्ययन में उसका उपयोग भी होता है, किन्तु प्रस्तुत ग्रंथ को हम केवल इतिहास के मानदंडों पर ही नहीं तौल सकते हैं। साहित्येतिहास में हमारे लिए पृथ्वीराज की कथा से आनेवाला 'संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन'[35] आवश्यक होता है। इस प्रकार उद्देश्यों की भिन्नता साहित्येतिहास एवं इतिहास में देखी जा सकती है, आधारों की समानता के बावजूद।

साहित्येतिहास विचारों एवं उसके विकास का इतिहास भी होता है। इसके साथ वह साहित्यिक रूपों, विधाओं के विकास का भी इतिहास होता है। इतिहास में विचारों के युद्धों का तो वर्णन होता है, किन्तु प्रायः उनमें विचारों के इतिहास को अनदेखा किया जाता रहा है। इधर के इतिहास लेखन में वैचारिक प्रतिबद्धता के चलते, विचारों को भी महत्व दिया जाने लगा है, जिससे साहित्येतिहास एवं इतिहास में नजदीकियाँ बढ़ी हैं। जैसे स्त्री के सम्बन्ध में विचारों के विकास को इतिहास में स्थान मिलता जा रहा है, उसी प्रकार साहित्येतिहास भी स्त्री के सम्बन्ध में दृष्टिकोण का इतिहास साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत करने पर आमादा हैं। इसके उदाहरण स्वरूप हम मीरा के काव्य का स्त्रीवादी दृष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकनकिया गया, सम्पूर्ण आदि या भक्ति काल में स्त्री सम्बन्धी दृष्टिकोण की चर्चा की जा रही ही। सुमन राजे का इतिहास तो इसी पर आधृत है। इसी प्रकार इतिहास में अतीत की कई घटनाओं को स्त्रीवादी नज़रिए से देखा जाने लगा, जिससे अतीत के कई स्त्री पात्र उभरकर सामने आने लगे हैं।

इस प्रकार सहित्येतिहास और इतिहास में मूलभूत समानताएँ होते हुए भी दोनों को एक ही नहीं माना जा सकता है। दोनों एक-दूसरे का स्थानापन्न नहीं हो सकते हैं, किन्तु दोनों एक-दूसरे के

---

[34].इस सन्दर्भ में आप एम.एन.श्रीनिवासन द्वारा लिखित गोदान की समीक्षा देख सकते हैं, जहाँ उन्होंने इसका समाजशास्त्रीय ग्रंथ लिखने आधार लिया है।

[35].एक साहित्यिक की डायरी-मुक्तिबोध, पृ.२३

बिना अपूर्ण भी होते हैं। एक के अध्ययन में दूसरा तो दूसरे के लिए पहला सहायक होता है। लेखन के लिए भी यह बात उतनी ही सही है। इतिहास का वृत्त अपेक्षाकृत विस्तृत है तो साहित्येतिहास का वृत्त अपनी में सीमित होते हुए भी इतिहास की अपेक्षा उसमें गहराई की गुंजाइश अधिक देखने को मिलती है। साहित्येतिहास भाषा विशेष के साहित्य तक सीमित हो जाते हैं, किन्तु इतिहास जातीय होते हुए भी, अपने मनःस्थल में अन्य इतिहासों से तुलना की अपेक्षा सदा रखता है। साहित्य में अन्य जातीय साहित्य के दाय के माध्यम से तुलना का यह कार्य किया जाता है। इतिहास में भी ग्रहण-दाय होता है, किन्तु उसे आसानी से रेखांकित नहीं किया जा सकता है। साहित्य में आगम कला-रूपों को आसानी से चिन्हित किया जा सकता है, किन्तु इतिहास में किसी अन्य जातीय दाय को आसानी से संस्कृति में चिन्हित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार के अन्तर्संबंधों के होने के बावजूद साहित्येतिहास एवं इतिहास अपने में आदान-प्रदान की प्रक्रिया को अंजाम देते हुए अपने अस्तित्वों को आगे बढ़ा रहे हैं, इतिहास के अन्त के खोखले नारों को इतिहास में दर्ज करते हुए।

इतिहास एवं साहित्येतिहास के अन्तर्संबधों के सन्दर्भ में संक्षेपत: कहा जा सकता है कि सूक्ष्म रूप में देखा जाए तो प्रत्येक साहित्यकार अपने युग का सामाजिक इतिहास लिखता है, किन्तु उसे उस रूप में इतिहास की मान्यता नहीं दी जा सकती है। साहित्य सामान्य व्यक्ति की कथा कहता है, किन्तु उस रूप में नहीं, जिस रूप में इतिहास कहता है। साहित्य में इतिहास की भाँति तथ्यों, तिथियों, स्थानों के ब्यौरे नहीं होते। साहित्येतिहास साहित्य संवेदनाओं, भावधाराओं एवं विचारधाराओं को साहित्यिक कृति के युगीन एवं अपने समकालीन मूल्यों से परखते हुए उसे परम्परा में मूल्यांकित करता है। इतिहास अपने साधनों में युग विशेष की तिथियों, परिस्थितियों एवं स्थानों को ब्यौरेवार तथ्यों के आलोक में प्रस्तुत करता है। साहित्येतिहास इन्हें साहित्यिक कृतियों में चित्रित स्थानों, चरित्रों, चरित्रों के बर्ताव आदि के माध्यम से समाज को देखने-दिखाने का उपक्रम करता है। इतिहास एवं साहित्येतिहास दोनों में अध्ययन की सुविधा हेतु साहित्यिक प्रवाह को कालों में विभाजित किया जाता है। इतिहास में भी तिथियों, स्थानों के सन्दर्भ में तथ्यों की दरकार होती है, किन्तु इन तथ्यों की व्याख्या प्रत्येक इतिहासकार अपनी दृष्टि के अनुसार करता हुआ देखा जा सकता है। इतिहास एक प्रकार से अतीत का तथ्यों के माध्यम से ज्ञान होता है, किन्तु साहित्येतिहास अतीत की संवेदनाओं के विकास का लेखा-जोखा होता है। साहित्येतिहास विचारों एवं उसके विकास का इतिहास भी होता है। इसके साथ वह साहित्यिक रूपों, विधाओं के विकास भी इतिहास होता है। इतिहास में विचारों के युद्धों का तो वर्णन होता है, किन्तु प्रायः उनमें विचारों के इतिहास को अनदेखा किया जाता रहा है। इस प्रकार के अन्तर्संबंधों के होने के बावजूद साहित्येतिहास एवं इतिहास अपने में आदान-प्रदान

की प्रक्रिया को अंजाम देते हुए अपने अस्तित्वों को आगे बढ़ा रहे हैं।

इतिहास एवं साहित्येतिहास : अर्थ एवं अन्तर्संबन्ध, इतिहास : व्याख्या एवं अवधारणाएँ, पश्चिम में इतिहास एवं ऐतिहासिक चेतना का विकास, भारत में इतिहास एवं ऐतिहासिक चेतना का विकास और साहित्येतिहास : व्याख्या एवं अवधारणाएँ इन बिन्दुओं पर गहराई से विवेचन करने के पश्चात सारांश रूप में कहा जा सकता है कि 'इतिहास' शब्द की व्याख्या 'इति+हास' अर्थात 'ऐसा घटित हुआ था' के रूप में की जाती है । इतिहास एक अवधारणा का रूप धारण कर चुका है । इतिहास की अवधारणा को कई विद्वानों ने व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। इसमें से कोई भी व्याख्या पूर्ण इसलिए नहीं कही जा सकती है, क्योंकि इतिहास की अवधारणा अत्यन्त गतिशील रही है।

पश्चिम में जिस हिरोदोतस को पहली बार इतिहास लेखन का श्रेय दिया जाता है, उनकी अनुसार इतिहास का सम्बन्ध आँखों देखी वर्तमान घटनाओं से था, जिसमें उन्होंने अपने व्दारा देखे युद्ध आदि का वर्णन किया है । संभवतः हिरोदोतस से ही प्रभावित होकर बेनिदेतो क्रोंचे ने इतिहास को परिभाषित करते हुए उसका सम्बन्ध मानव जीवन की गतिशीलता एवं उसमें घटित वस्तु से माना है। किन्तु प्रो.गालब्रेथ द्वारा दी गई व्याख्या इन दोनों विद्वानों की व्याख्याओं के ठीक विपरित जाती दिखाई देती है । उनके अनुसार इतिहास का सम्बन्ध ज्ञात भूतकाल से है। इस व्याख्या में व्याप्त शोध की संभावना को जिस नकारवादी दृष्टि से देखा गया है, उसे दूर करने के क्रम में इतिहास को व्याख्यायित करते हुए कॉलिंगवुड़ ने गवेषणा या जाँच-पड़ताल कहा है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार ई.एच. कार ने इतिहास की व्याख्या को व्यापकता प्रदान करते हुए इसे मानव के देश-काल में परिवर्तन के अतिरिक्त इतिहासकार की तत्सम्बन्धी व्याख्या से भी जोड़ने का प्रयास किया। इसी व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए जेम्स हार्वे रॉबिन्सन ने इतिहास को भूतकाल की विस्तृत जानकारी माना है । इन सभी व्याख्याओं को अत्यन्त व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए रेमण्ड विलियम्स ने इतिहास को मात्र भूतकाल मानना संकुचित कहा और इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण सृष्टि के ज्ञान और जानकारी से जोड़ा। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई इतिहास की व्याख्याएँ युगानुरूप परिवर्तित-परिवर्द्धित होती रही है, जैसे-जैसे उसकी अवधारणा में बदलाव आते गए।

भारत में इतिहास को देखने की समझ आरंभ में सतही रही है । प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय वृहदारण्यक तथा छन्दोग्योपनिषद में भी इस शब्द का प्रयोग देखा जा सकता है । महाभारतकार के अनुसार इतिहास द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की स्थापना एवं सुरक्षा में सहायता प्राप्त हो । नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी विश्वकोश' के अनुसार इतिहास का

सम्बन्ध विगत काल की घटनाओं एवं उसके सम्बन्धी दृष्टिकोण से है। डॉ.पी.एल.शर्मा ने इतिहास को मनुष्य के संगठित जीवन के सभी पहलुओं से जोड़कर देखा है। प्रो.डी.डी.कोसाम्बी ने इतिहास को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उत्पादन के संसाधनों एवं उसके परिवर्तनों की प्रस्तुति से जोड़कर देखा है।

इसके अतिरिक्त इतिहास में इतनी धाराओं का विकास हुआ है कि उन सबको एक व्याख्या में समेटना लगभग असंभव है। जैसे सबाल्टर्न हिस्ट्री नाम से लिखे जा रहे इतिहास केवल राजा-रानी के इतिहास को इतिहास लेखन मानते ही नहीं। केवल तथ्यों के प्रस्तुतिकरण से आगे इतिहास उसे समुचित दृष्टिकोण से व्याख्यायित-विश्लेषित करता है। वह वर्तमान के आलोक में भूत को देखता है और भूतकाल की व्याख्या तथ्यों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। इतिहास लेखन मानव जाति तक ही सीमित नहीं होता, वह उससे जुड़े तमाम पहलूओं, विचारों एवं स्थावर-जंगम जगत् की व्याख्या करता है, उन्हें प्रस्तुत करता है। इसे इतिहास की व्यापक रूप में विकसित होनेवाली अवधारणाओं में शामिल कर, उसे फिर से व्याख्यायित करने की आवश्यकता है।

ऐतिहासिक चेतना का आरंभ पश्चिम में पहले लिखित रूप में देखने को मिलता है, जहाँ यूनानी लेखक हिरोदोतस ने इसे वैज्ञानिक विधा, मानवीय विधा, तर्कसंगत विधा एवं शिक्षाप्रद विधा के रूप में रेखांकित करते हुए अपनी पुस्तक लिखी थी। मिसीदाईदिस (४५४-३९९ई.पू.) ने युद्धों के वर्णन को इतिहास माना। रोमन इतिहास लेखकों में साल्लुस्त, लिवी और तेसिरस् के नाम उल्लेखनीय हैं। तेसिरस के साथ रोमन इतिहास लेखन का स्वर्णयुग समाप्त होता है।

पुनर्जागरण काल के जर्मन इतिहासकार मैक्यावली और विको नवीन इतिहास लेखन के अग्रदूत थे। मैक्यावली ने धर्म और नीति के अनुशान से इतिहास को पूर्णतः मुक्त कर उसे पुनः यथार्थ के कठोर और रुक्ष धरातल पर प्रतिष्ठित किया। विको ने इतिहास को अतीत से ही संबंध न मानकर उसे वर्तमान से भी जोड़ने का आयोजन किया। विदेहवादी इतिहासकार इतिहास को कोरा तथ्यपरक और नीतिनिरपेक्ष बनाने के आग्रही थे। इनके ही यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास हमें १९वीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहास लेखन में देखने को मिलता है, इतिहासकार ई.एच.कार[36] का भी लगभग यही मत है।

भारतीय इतिहास लेखन का प्रारंभिक रूप हमें वैदिक साहित्य में दिखाई देता है। बौद्ध पीटक, निकाय और जातकों तथा जैनों के ग्रंथों में भी इसके चिन्ह मिलते हैं। मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, भविष्य, भागवत और गरुड़ पुराण में विभिन्न वंशों की कथाएँ दी गई हैं। महाभारत में ऐतिहासिक सामग्री की विपुलता को देखकर तो उसे अनेक बार इतिहास की उपाधि प्रदान की गई है। बाणभट्ट ने जहाँ

---

[36].वही.पृ.८२

'कादम्बरी' में अपनी कल्पना को विकास का उन्मुक्त क्षेत्र प्रदान किया, वहीं 'हर्षचरित' में उसे ऐतिहासिक पुट द्वारा अनुशासित रखने का प्रयास किया। कल्हण ने राजतरंगिणी की रचना में प्राचीन इतिवृत्तों के अतिरिक्त शिलालेखों, प्रशस्तिपट्टों, दानपत्रों आदि से भी सहायता ली थी, जिसमें उन्होंने महाभारत के युग से लेकर अपने समय तक के राजवंशों का वर्णन किया है। सोमेश्वर का 'कीर्तिकौमुदी', अरिसिंह का 'सुकृतसंकीर्तन', मेरुतुंग का 'प्रबंध चिन्तामणि', राजशेखर का 'प्रबंधकोष', जयसिंह का 'हम्मीर मरदेन' तथा 'वस्तुपालःतेजपाल प्रशस्ती', उदयप्रभ का 'सुकृतकीर्तिकल्लोलिणी', बालचन्द्र का 'वसन्तविलास', हेमचन्द्र का 'कुमारपालचरित' इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। ज्योतिरीश्वर ठाकुर 'वर्णरत्नाकर' सामाजिक इतिहास और विद्यापति की 'कीर्तिलता' राजनैतिक इतिहास काव्य की अनूठी कृतियाँ हैं।

मुसलमान इतिहासकारों ने अपेक्षाकृत आधुनिक दृष्टि सम्पन्न राजाओं की योजनाओं के प्रशंसा में इतिहास लेखन किया। इस काल के इतिहासकारों में अल्बरुनी, अमीर खसरो, फरिश्ता, अबुल फज़ल उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काल में भारतीय इतिहास लेखन कई दिशाओं में प्रगति कर रहा है, कहीं वह विचारधारा के तो कहीं विमर्शों के अनुसार प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका अकादमी रूप भी अपने चरम पर है। इसके विश्व स्तर पर प्रचलित कई रूप भारत के वर्तमान इतिहास लेखन में देखने को मिलते हैं।

साहित्येतिहास की अवधारणा को विभिन्न युगों में प्रत्येक पीढ़ी ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल के पूर्व किसी भी हिन्दी साहित्येतिहासकार ने साहित्येतिहास को व्याख्यायित करने का प्रयास नहीं किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसका सम्बन्ध जनता की बदलती हुई संचित चित्तवृत्तियों के युगीन परिस्थतियों से सामंजस्य बैठाने से जोड़ा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्येतिहास को अनादि काल प्रवाह में निरन्तर प्रवाहमान जीवित की ही विकास कथा कहा है। डॉ.सुमन राजे के अनुसार युग और प्रवृत्तियों के विकास की चेतना का अनुसंधान साहित्येतिहास में होता है। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने साहित्येतिहास को मानव संस्कृति के अध्ययन का माध्यम माना। डॉ.शिवकुमार ने साहित्येतिहास को साहित्य की क्रमवार व्याख्या कहा है। मैनेजर पाण्डेय ने साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा से साहित्येतिहास को समझने का प्रयास किया है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने साहित्येतिहास को लेखकों व समूह की कृति समष्टि का इतिहास कहा है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसकी अपेक्षा साहित्य को संवेदनाओं के विकास से जोड़कर देखा है।

सूक्ष्म रूप में देखा जाए तो प्रत्येक साहित्यकार अपने युग का सामाजिक इतिहास लिखता है, किन्तु उसे उस रूप में इतिहास की मान्यता नहीं दी जा सकती है। साहित्य सामान्य व्यक्ति की कथा कहता है, किन्तु उस रूप में नहीं, जिस रूप में इतिहास कहता है। साहित्य में इतिहास की भाँति

तथ्यों, तिथियों, स्थानों के ब्यौरे नहीं होते। साहित्येतिहास साहित्य संवेदनाओं, भावधाराओं एवं विचारधाराओं को साहित्यिक कृति के युगीन एवं अपने समकालीन मूल्यों से परखते हुए उसे परम्परा में मूल्यांकित करता है। इतिहास अपने साधनों में युग विशेष की तिथियों, परिस्थितियों एवं स्थानों को ब्यौरेवार तथ्यों के आलोक में प्रस्तुत करता है। साहित्येतिहास इन्हें साहित्यिक कृतियों में चित्रित स्थानों, चरित्रों, चरित्रों के बर्ताव आदि के माध्यम से समाज को देखने-दिखाने का उपक्रम करता है। इतिहास एवं साहित्येतिहास दोनों में अध्ययन की सुविधा हेतु साहित्यिक प्रवाह को कालों में विभाजित किया जाता है। इतिहास में भी तिथियों, स्थानों के सन्दर्भ में तथ्यों की दरकार होती है, किन्तु इन तथ्यों की व्याख्या प्रत्येक इतिहासकार अपनी दृष्टि के अनुसार करता हुआ देखा जा सकता है। इतिहास एक प्रकार से अतीत का तथ्यों के माध्यम से ज्ञान होता है, किन्तु साहित्येतिहास अतीत की संवेदनाओं के विकास का लेखा-जोखा होता है। साहित्येतिहास विचारों एवं उसके विकास का इतिहास भी होता है। इसके साथ वह साहित्यिक रूपों, विधाओं के विकास भी इतिहास होता है। इतिहास में विचारों के युद्धों का तो वर्णन होता है, किन्तु प्रायः उनमें विचारों के इतिहास को अनदेखा किया जाता रहा है। इस प्रकार के अन्तर्संबंधों के बावजूद साहित्येतिहास एवं इतिहास अपने में आदान-प्रदान की प्रक्रिया को अंजाम देते हुए अपने अस्तित्व को आगे बढ़ा रहे हैं।

द्वितीय अध्याय
शुक्ल पूर्व हिन्दी साहित्येतिहास लेखन

२.१ हिन्दी साहित्येतिहास का अंकुरण काल

इतिहास लेखन की ही भाँति 'साहित्येतिहास लेखन' आधुनिकता की एक देन है। होता यह है कि किसी नवीन धारणा, अवधारणा अथवा कला-तकनीक के आने के बाद, कोई भी समाज अपनी परम्परा में उसे खोजने का प्रयास करता है । साहित्येतिहास लेखन के सन्दर्भ में भी ठीक यही हुआ। डॉ.शिवकुमार ने इसी ओर इंगित करते हुए ठीक ही लिखा है कि "हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन तो दूर रहा, साहित्य की सामग्री का संग्रह भी आधुनिक काल से पूर्व नाममात्र ही हुआ।"[1] नाभादस कृत 'भक्तमाल', बेनीमाधव कृत 'मूल गोसाँईं चरित', ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली', गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' एवं 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', परिचयी साहित्य, बीतक साहित्य, आचार्य तुलसी कृत 'कविमाला', कालिदास कृत 'कालिदास हज़ारा', आचार्य भिखारीदास कृत 'काव्य निर्णय' आदि कई ग्रंथो का उल्लेख साहित्येतिहास ग्रंथों के आरंभिक रूप में किया जाता है। वैसे इन ग्रंथों को आधुनिक साहित्येतिहास लेखन के समक्ष उस प्रकार इतिहास ग्रंथ नहीं कहा जा सकता है, किन्तु इसमें इसके अंकुरण के बीज अवश्य मिलते हैं। इनमें से किसी भी ग्रंथ में साहित्येतिहास लेखन की कोई भी शर्त पूर्ण होती हुई नहीं दिखाई देती है, किन्तु इन्हें परम्परा के रूप में अवश्य प्रस्तुत किया जा सकता है। इन्हें एक प्रकार से इतिहास-बोध के आभाव में लिखित साहित्येतिहास भी कहा जा सकता है। अतः गार्सा द तासी के पूर्व साहित्येतिहास लेखन का सजग प्रयास हमारे यहाँ देखने को नहीं मिलता है। इससे पूर्व के ग्रंथों में अपनी परम्परा का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु उनके यहाँ इतिहास-बोध, मूल्यांकन के लिए आवश्यक आलोचनात्मक चेतना तथा साहित्यिक बोध का पूर्ण अभाव देखने को मिलता है। वहाँ मूल्यांकन के आधार मूल्य चेतना या सम्प्रदायगत विचार आदि हैं। इन ग्रंथों को इन कारणों से साहित्येतिहास भले ही न कहा जा सकता हो, किन्तु परम्परा को जानने हेतु यहाँ इनका संक्षेप में परिचय प्राप्त करना आवश्य है।

---

[1].हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन-डॉ.शिवकुमार, पृ.१२८

२.१.१ नाभादास कृत 'भक्तमाल' (१५९२ ई.)

'भक्तमाल' एवं उसके रचनाकार के सन्दर्भ में जानकारी देते हुए डॉ.रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में लिखा है - "इनका वास्तविक नाम नारायणदास था। ये जाति के डोम थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १५५७ माना जाता है। ये स्वामी अग्रदास के शिष्य थे। ये भी रामोपासक थे और रामभक्ति के सम्बन्ध में इन्होंने बहुत ही सुन्दर पद लिखे हैं, किन्तु उन पदों की अपेक्षा इनका 'भक्तमाल' अधिक प्रसिद्ध है, जिसमें २०० भक्तों का परिचय ३१६ छप्पयों में दिया गया है। इन छप्पयों में किसी तिथि आदि का निर्देश नहीं है। भक्तों की कुछ प्रधान और प्रसिद्ध बातों का ही वर्णन किया गया है। यह ज्ञात होता है कि इस पुस्तक द्वारा नाभादास कवियों और भक्तों के यश का प्रचार करना चाहते थे। इसी 'भक्तमाल' की टीका प्रियादास इस प्रकार देते हैं- "संवत् प्रसिद्ध दस सात सतउनहत्तर। फागु मास बदी सप्तमी बताय कै।।"[2]

हिन्दी साहित्य के आरंभिक इतिहास लेखन में कवि-वृत्तसंग्रहों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिनमें 'भक्तमाल' सर्वोच्च है। यह हिन्दी साहित्येतिहास लेखन का आदि-स्रोत है। साहित्य और साहित्येतिहास दोनों दृष्टियों से 'भक्तमाल' के महत्व को इतिहासकारों-आलोचकों-साहित्येतिहासकारों ने स्वीकार किया है। इसकी अमाप लोकप्रियता का आधार इसका भक्ति एवं भक्तों के जीवन पर आधृत होना है। यह रचना इतनी लोकप्रिय हुई कि इसके कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुए, इसकी देखा-देखी बंगाली, मराठी आदि भाषाओं में भी भक्तमाल लिखे गए और इसकी कई टीकाएँ भी हिन्दी-ब्रज में लिखी गई। इस आदि-स्रोत से हिन्दी के मध्यकालीन सन्त साहित्यकारों के जीवन की जानकारी देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। इस महत्ता को स्पष्ट करते हुए डॉ.शिवकुमार ने लिखा है - "हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन तो दूर रहा, साहित्य की सामग्री का संग्रह भी आधुनिक काल से पूर्व नाममात्र ही हुआ। यदि भक्तमाल आदि ग्रंथो में भक्त कवियों का विवरण दिया भी गया हो, धार्मिक दृष्टिकोण श्रद्धातिरेक के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक न बन पाया।"[3] इस प्रकार ऐतिहासिक महत्व होते हुए भी इसे आरंभिक इतिहास नहीं माना जा सकता । इतिहास-बोध के स्थान पर इसमें श्रद्धा-भाव का आधिक्य दिखाई देता है, जैसे-'कलि कुटिल जीव निस्तार हित, बाल्मीकि तुलसी भयो।।' इसमें रचना की नहीं रचनाकार के व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया गया है।

---

[2].हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-डॉ.रामकुमार वर्मा, पृ.४७३

[3].हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन-डॉ.शिवकुमार, पृ.१२९

२.१.२ बेनीमाधव कृत 'मूलगोसाईं चरित'

जॉर्ज ग्रियर्सन ने इसका रचनाकाल संवत् १६८७ (सन १६३० ई.) माना है। तुलसीदास का महत्व जानने में उन्हें इस ग्रंथ से काफी सहायता मिली थी। बेनीमाधव गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य माने जाते हैं। इस शिष्य ने अपने गुरु के जीवन का लेखा-जोखा त्रोटक, दोहा-चापाई शैली में अलौकिक ढंग से प्रस्तुत ग्रंथ में लिखा है। अधिकांश विद्वान इसे एक अप्रमाणिक अथवा बाद की लिखित रचना मानते हैं, किन्तु अनेक इतिहासकारों ने इस ग्रंथ को तुलसीदास की जीवन-घटनाओं को जानने का आधार बनाया था। इतना ही नहीं हिन्दी के प्रथम परिपूर्ण इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी इस ग्रंथ के ऋणी हैं।

२.१.३ वार्ता साहित्य

ये दोनों कृतियाँ जहाँ ब्रज और हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए प्रमुख आधार हैं, वहीं भाषा के विकास का आदि स्वरूप भी इनमें को देखने को मिलता है। यहाँ हमें साहित्येतिहास के आधारभूत सूत्र देखने को मिलते हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' कृतियों में नाभादास ने ब्रज गद्य शैली में क्रमशः ८४ तथा २५२ वैष्णवभक्तों का परिचय दिया है। इन ग्रंथों में पुष्टिमार्गीय अष्टछापी कवियों के अतिरिक्त अन्य भक्त कवि भी सम्मिलित किए गए हैं। सूरदास का परिचय इसी में सर्वप्रथम सविस्तार पाया जाता है, जिसमें कहा गया है, "सो गऊघाट ऊपर सूरदास जी को स्थल हुतौ सो सूरदासजी स्वामी हैं आप सेवक करते। सूरदासजी भवदीय हैं, गान बहुत आछौ करते। ताते बहुत लोक सूरदासजी के सेवक हुते।"[4]

तुलसीदास का परिचय देते समय कवि ने अनेक त्रुटियाँ की हैं। इसमें अप्राणिक सन्दर्भों में से यह एक है। इसमें तुलसीदास को नंददास का बड़ा भाई बतलाया गया है, जो किसी भी कीमत पर इतिहाससम्मत नहीं है। इसी कारण कई विद्वानों ने इन रचनाओं की प्रामाणिकता पर संदेह किया है। वार्ता एवं भक्तमाल को डॉ.रूपचन्द पारिक एक बहिर्साक्ष्य के रूप में आवश्यक बताते हुए लिखते हैं, "ये बहिर्साक्ष्य अन्तर्साक्ष्य की पुष्टि के लिए तो उपयोगी हैं ही साथ-ही-साथ स्वतंत्र रूप से कुछ नवीन सामग्री भी देते हैं। विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से इस सामग्री के महत्व के सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं और जिसका होना स्वाभाविक है परन्तु साहित्येतिहास निर्माण में इनकी उपोयगिता अस्विकार नहीं की जा

---

[4].चौरासी वैष्णवन की वार्ता-गोकुलनाथा, पृ.२७२

सकती ।"[5]

२.१.४ परिचयी साहित्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में भक्तों-सन्तों का परिचय पाने की दृष्टि से लिखा गया परिचयी साहित्य भी प्राप्त होता है। १४ सन्तों का परिचय देनेवाला डॉ.त्रिलोकीनारायण दीक्षित द्वारा सम्पादित 'परिचयी साहित्य' अत्यन्त उपयोग ग्रंथ है। इस परिचयी साहित्य में मध्यकालीन सन्तों का जीवन-वृत्त ही अधिकांशतः मिलता है। अनन्तदास, त्रिलोचन, रंका बंका, धन्ना, रैदास, कबीर, नामदेव और पीपा की परिचयी प्रसिद्ध है। डॉ.दीक्षित के इस संपादन ग्रंथ के अतिरिक्त सेउसमन परिचई, भरथरी परिचई भी मिलती हैं। यह परिचयी १७वीं से लेकर १९वीं शताब्दी के बीच लिखी गई मालुम पड़ती है।

भक्तों की बोधगम्यता के लिए इन परिचयी साहित्यों की भाषा सरल व सामान्य है। इन समस्त परिचयी रचनाओं में निर्गुणी कवियों की जीवनियाँ हैं, किन्तु इनमें से कुछ का सम्बन्ध सगुण कवियों से भी है। 'भक्तमाल' में प्रतिपाद्य विषय-वस्तु के समान परिचई साहित्य में भी भक्तों के चरित् गायन को महत्व दिया गया है। कहीं-कहीं साहित्य का उल्लेख मात्र किया गया है । अतः साहित्येतिहास लेखन में इनका जीवनियों को चमत्कृत रूप में जानने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है, इतना ही।

२.१.५ बीतक साहित्य

बीतक का अर्थ होता है - वृत्त या वृत्तान्त । बीतक साहित्य प्रणामी सम्प्रदाय का जीवनी साहित्य है, जिसमें प्राणनाथ स्वामी तथा उनके गुरु का वर्णन है। इनमें आनेवाले प्रमुख बीतकों में स्वामी लालादास, ब्रजभूषण और हंसराज स्वामी द्वारा लिखित बीतक विशेष उल्लेखनीय हैं। कृतियों के काल निर्धारण, कवियों के जीवन-वृत्त के निर्माण, मूल रचनाओं के निर्धारण के सम्बन्ध में इनका सहयोग लिया जा सकता है। वर्ता, भक्तमाल, परिचयी और बीतक के लेखन की परम्परा के महत्व को बताते हुए सुमन राजे ने कहा है, "सबसे पहली बात तो यही है कि जिन भक्तों के वृतान्त उपलब्ध होते हैं, उनमें से साहित्य रचना करने वाले कम ही हैं। अतः केवल कुछ चरित्रों से ही सहायता ली जा सकती है। दूसरी सीमा है - सम्प्रदाय बद्धता। इन ग्रंथों से कुछ विशिष्ट सम्प्रदाय के कवियों के सम्बन्ध में ही सूचनाएँ प्राप्त की जा

---

[5].हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन-डॉ.रूपचन्द पारिक, पृ.५१

सकती हैं। इन ग्रंथों का उद्देश्य इतिहास का आकलन न होकर आदर्श की स्थापना, चरित्रांकन में श्रद्धा और भक्ति का समावेश, अपने सम्प्रदाय का मुख्यतः एवं अन्य सम्प्रदायों का गौण रूप में कीर्तन तथा यथार्थ के स्थान पर अलौकिक घटनाओं एवं अतिरंजित चरित्रों की प्रधानता इत्यादि है।"[6]

२.१.६ आदिग्रंथ/गुरुग्रंथ

मध्यकालीन कवि-वृत्त संग्रहों में इसका अधिक महत्व है, क्योंकि यह भक्तिकाल के विभिन्न सन्तों, भक्तों और गुरुओं की बाणियों का संकलन और प्रथम सम्पादन कार्य है। कवि-वृत्त संग्रहों में किस कवि को स्थान दिया जाना चाहिए और क्यों दिया जाना चाहिए, इसकी कोई निश्चित व्याख्या अथवा पद्धति निश्चित नहीं की जा सकती है। यह संकलनकर्ता पर निर्भर करता है कि वह किस कवि की रचनाएँ अपने संकलन में सम्मिलित करता है। कई संकलनों में समकालीन कवियों पर ही दृष्टिपात किया गया है तो किसी में पूर्ववर्ती कवियों पर भी नजर दौड़ाई गई है और किसी संग्रह में सात-आठ शताब्दियों पूर्व के कवियों की कविताओं को भी स्वीकृत किया गया है। इसी पद्धति को ध्यान में रखकर कई मध्यकालीन कवि-वृत्त संग्रहों की तरह आदिग्रंथ में भी कई सन्त-भक्त कवियों की रचनाओं को सम्मिलित किया गया है।

इसके संग्रहकर्ता सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने सन् १६०४ ई. में इसका सम्पादन कार्य पूर्ण किया, किन्तु कहा जाता है कि आदिगुरु नानक के समय से ही इसका संग्रह आरंभ हो गया था । बाद के समय में इसमें कई रचनाकारों की कविताएँ जुड़ती गई, जिसका सिलसिला गुरु तेगबहादुर एवं गुरु गोविन्दसिंह तक चलता रहा। फलतः इसमें छः-साथ शताब्दियों के कवियों की प्रातिनिधिक रचनाएँ संकलित होती गईं।[7] साहित्यिक दृष्टि से इसे कविताओं की प्रामाणिकता और कवियों की जानकारी देनेवाला ग्रंथ कहा जा सकता है, जिसे साहित्येतिहास का आधार बनाया गया है।

२.१.७ तुलसी कृत 'कविमाला'

गोस्वामी तुलसीदास से भिन्न आचार्य तुलसी ने १६५५ ई. में 'कविमाला' में कुल ७५ कवियों की कविताओं का संकलन किया। जिसका रचना विस्तार १४४३ ई.से १६४३ ई. तक है । ग्रियर्सन ने

---

[6].साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप-डॉ.सुमन राजे, पृ.२९१

[7].आदिग्रंथ में संगृहित सन्त कवि-महीप सिंह, की पुस्तक पर आधृत विश्लेषण

इसका संग्रहकाल १६५५ ई. ही बताया है तथा इन्होंने अपने इतिहास में, इससे छः कवियों के उल्लेख करने का आधार बताया है। इसी भाँति शिवसिंह सेंगर ने भी अपने 'शिवसिंह सरोज' के लेखन में इसके कई कवियों को आधार रूप में स्वीकार किया था। इन्होंने 'सरोज' की भूमिका में इसे बताया है। किन्तु आज यह ग्रंथ विलुप्त है। अतः कौन कवि थे और कितने कवियों का संकलन हुआ है, इसकी अनुपलब्धता के कारण जानना असंभव है, किन्तु सेंगर ने अपने ग्रंथ में इसका उल्लेख 'कविनाममाला संग्रह' शीर्षक से किया है।

२.१.८ कालिदास त्रिवेदी कृत 'कालिदास हजारा'

कालिदास त्रिवेदी द्वारा १७१८ में संग्रहीत 'कालिदास हजारा' में १४२८ ई. से लेकर १५१९ ई.तक के २१२ कवियों की एक हजार कविताओं का संग्रह किया गया है, जिसमें ऐतिहासिक तथ्यों के विशेष तथ्य मिलते हैं। 'शिवसिंह सरोज' की प्रेरणा कृति 'कालिदास हजारा' ही है। शिवसिंह सेंगर ने ८५ कवियों का विवरणात्मक परिचय सर्वप्रथम इसी से प्रस्तुत किया था तथा सम्मानपूर्वक उल्लेख करते हुए धन्यवाद भी ज्ञापित भी किया है।[8] ग्रियर्सन ने इस कृति को 'हजारा' नाम से उल्लेखित किया है और अपने इतिहास की सामग्री का आधार बताया है। उन्होंने कबीर, ग्वाल, ठाकुर, तोष और नन्दलाल का परिचय तथा विवरण इसी से ग्रहण किया था। सेंगर ने ४८ कवियों का हजारा में होने का उल्लेख किया है, परन्तु खण्डित प्रति मिलने से शेष अज्ञात ही रह जाते हैं, तथापि आज खण्डित प्रति में १५६ कवियों का विवरण मिलता है। कहा जाता है कि इसमें हजार कवियों की कविताओं का उल्लेख मिलता है। पूर्ण कृति के अभाव में कुछ कहा नहीं जा सकता है।

२.१.९ अन्य परवर्ती ग्रंथ

रीतिकाल के उत्तरकालीन आचार्य भिखारीदास के ग्रंथ का उल्लेख करना भी आवश्यक है। उनके 'काव्यनिर्णय' ग्रंथ के एक पद में काव्य भाषा पर विचार करते समय ब्रज भाषा के कुछ कवियों की रचनाओं को उद्धृत किया गया है जो साहित्येतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। 'काव्यनिर्णय' में उत्कृष्ट ब्रज भाषा के २२ कवियों का उल्लेख मिलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस ग्रंथ के प्रणयन का समय १८०६ संवत् बताया है।

---

[8].शिवसिंह सरोज-(भूमिका)-शिवसिंह सेंगर, पृ.२१

केवल आठ-वर्ष के आग-पीछे रची हुई दो रचनाओं का उल्लेख 'मिश्रबन्धु विनोद' की भूमिका से ज्ञात होता है कि दलपतिराय वंशीधर कृत 'अलंकार रत्नाकर' का संकलन १७३५ ई. में हुआ है[9] तथा प्रवीण कवि द्वारा संकलित 'सारसंग्रह' १७४६ ई. में संकलित किया गया जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त ४४ कवियों का उपयोग मिश्रबन्धुओं ने किया है, जिसमें ४५ कुल संग्रहीत हैं।

वृन्दावन के गोविन्दानन्द घन ने 'रसिकगोविन्दानन्द घन' नामक रीतिकाव्य का संग्रह किया था, जिसमें चार प्रबंध मिलते हैं - नवरस, नायक-नायिका भेद, दोष और अलंकार। इसमें दुर्लभ उदाहरणों के साथ अज्ञात कवियों की कृतियाँ भी हैं।

श्रीधर उपनाम से रचना करनेवाले ओयल नरेश सुब्बा सिंह द्वारा १८१७ ई. में सम्पादित 'विद्वन्मोदतरंगिनी' है। इसका उल्लेख शिवसिंह सेंगर, जॉर्ज ग्रियर्सन और मिश्र बन्धुओं ने अपने इतिहास लेखन में प्रस्तुत किया है। यह ४५ कवियों का काव्य संग्रह है, जिसमें श्रीधर स्वयं एक कवि के रूप में संग्रहीत हैं।

इस प्रकार मध्यकाल तक के कवि-वृत्त संग्रहों में कवियों की कविताएँ एवं उनके सन्दर्भ में प्रायः चमत्कृत कर देनेवाली सामग्री उपलब्ध होती है। इस सामग्री को इतिहास नहीं कहा जा सकता है और ऐसा इन संग्रकर्ताओं को अपेक्षित भी नहीं रहा होगा। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दी साहित्य का आरंभिक इतिहास लेखन इनके अभाव में असंभव-सा होता। इनमें से कई ग्रंथों ने आरंभिक हिन्दी साहित्येतिहास लेखन ही नहीं, अपितु वर्तमान साहित्येतिहास लेखन के लिए भी सामग्री उपलब्ध करवायी है। संभव है कि और भी ऐसे कवि-वृत्त संग्रह एवं कवि-नामावलियाँ तथा वार्ता साहित्य जैसे ग्रंथ लिखे या सम्पादित किए गए हों, किन्तु वे काल की गर्त में समा गए होंगे। उनकी उपलब्धता से हिन्दी साहित्येतिहास लेखन और भी लाभान्वित होता।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के अंकुरण काल के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के रूप में हम नाभादस कृत 'भक्तमाल', बेनीमाधव कृत 'मूल गोसाँईं चरित', ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली', गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' एवं 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', परिचयी साहित्य, बीतक साहित्य, आचार्य तुलसी कृत 'कविमाला', कालिदास कृत 'कालिदास हज़ारा', आचार्य भिखारीदास कृत 'काव्य निर्णय' आदि कई ग्रंथो का उल्लेख कर सकते हैं। इन ग्रंथों को आधुनिक

---

[9].मिश्रबन्धु विनोद (भूमिका)-मिश्रबन्धु, पृ.०८-०९

साहित्येतिहास लेखन के समक्ष उस प्रकार इतिहास ग्रंथ नहीं कहा जा सकता है, किन्तु इसमें इसके अंकुरण के बीज आवश्य मिलते हैं।

'भक्तमाल' हिन्दी साहित्येतिहास लेखन का आदि-स्रोत है। इसमें हिन्दी के मध्यकालीन सन्त साहित्यकारों के जीवन की जानकारी मिलती है। इतिहास-बोध के स्थान पर इसमें श्रद्धा-भाव का आधिक्य दिखाई देता है। अनेक इतिहासकारों ने बेनीमाधव कृत मूल 'गोसाईंचरित' को तुलसीदास की जीवन-घटनाओं को जानने का आधार बनाया। अधिकांश विद्वान इसे एक अप्रमाणिक अथवा बाद की लिखित रचना मानते हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' कृतियों में नाभादास ने ब्रज गद्य शैली में क्रमशः ८४ तथा २५२ वैष्णवभक्तों का परिचय दिया है। इसके भी वर्णन प्रायः श्रद्धायुक्त हैं। परिचयी साहित्य में अनन्ददास, त्रिलोचन, रंका बंका, धन्ना, रैदास, कबीर, नामदेव और पीपा की परिचयी प्रसिद्ध है। साहित्येतिहास लेखन में इन्हें सन्तों के जीवन से सम्बन्धित चमत्कारों को जानने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। बीतक साहित्य में स्वामी लालादास, ब्रजभूषण और हंसराज स्वामी द्वारा लिखित बीतक विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनका कृतियों के काल निर्धारण, कवियों के जीवन-वृत्त के निर्माण, मूल रचनाओं के निर्धारण के सम्बन्ध में इनका सहयोग लिया जा सकता है। गुरु अर्जुनदेव द्वारा सन् १६०४ ई. में सम्पादित 'आदिग्रंथ' में कई मध्यकाल तक के कवियों की कविताओं का मूल पाठ मिलता है। साहित्यिक दृष्टि से इसे कविताओं की प्रामाणिकता और कवियों की जानकारी देनेवाला ग्रंथ कहा जा सकता है, जिसे साहित्येतिहास का आधार बनाया गया है। तुलसी कृत 'कविमाला' में ७५ कवियों की कविताओं का संकलन किया गया है, जिसका उपयोग करने का उल्लेख शिवसिंह सेंगर ने किया है, किन्तु आज यह ग्रंथ अनुपलब्ध है। 'कालिदास हजारा' में १५६ कवियों का विवरण मिलता है। कहा जाता है कि इसमें हजार कवियों की कविताओं का उल्लेख मिलता है। पूर्ण कृति के अभाव में कुछ कहा नहीं जा सकता है। भिखारीदास के 'काव्यनिर्णय' में उत्कृष्ट ब्रज भाषा के २२ कवियों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त रीतिकाल में अनेक कवि-वृत्त संग्रह सम्पादित किए गए हैं, जिनसे तत्कालीन कवियों की प्रामाणिक रचनाओं का पता चलता है। इस प्रकार यह सामग्री इतिहास के लिए आधार तो बन सकती है, किन्तु स्वयं इतिहास नहीं कही जा सकती है। इन ग्रंथों का उपयोग हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में आरंभ से ही होता आया है, सामग्री के रूप में इनका महत्व निर्विवाद है।

२.२ शुक्लपूर्व आरंभिक हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के प्रयास

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पूर्व लिखित अधिकांश इतिहास ग्रंथ इतिहास लेखन के प्रयास मात्र कहे जा सकते हैं, जिसे हम विस्तारपूर्वक जानने का प्रयास करेंगे। इन ग्रंथों के अधिकांश लेखक विदेश हैं और उन्होंने अपनी भाषाओं में हिन्दी ही नहीं उर्दू को भी साथ में लेकर हिन्दुस्तानी भाषा के साहित्य का इतिहास लिखने का प्रयास किया। ध्यान देने की बात है कि इन विदेशी विद्वानों की दृष्टि में लिपिभेद के लिए कोई स्थान नहीं था, उन्होंने एक प्रकार से भाषा-साम्य को लक्ष्य करके इतिहास ग्रंथ लिखने के प्रयास किये थे। इनका क्रमशः परिचय निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है-

२.२.१ गार्सा द तासी कृत 'इस्त्वार द-ला-लितरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी'

जोसेफ़ हेलीडोर गार्सा दे तासी (Joseph Héliodore Sagesse Vertu Garcin de Tassy) द्वारा 'इस्त्वार द-ला-लितरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी' (मूल फ्रान्सीसी नाम - 'Histoire de la littérature hindoue e hindoustani') शीर्षक फ्रेंच भाषा में लिखित इतिहास का पहला भाग सन १८३९ में तथा दूसरा भाग १८४६ ई. में महारानी व्हिक्टोरिया को समर्पित कर प्रकाशित हुआ था। इसका दूसरा संस्करण सन १८६९ ई. में तीन भागों में प्रकाशित हुआ, जिसमें १४ पृष्ठों की भूमिका सहित हिन्दी-उर्दू के कवियों के विवरण में सबसे पहले जीवनी अर्थात व्यक्तित्व परिचय दिया गया है। यह ग्रंथ कुल १८३४ पृष्ठों एवं तीन भागों में पूर्ण होनेवाला, कवियों के नाम के अकारादि क्रम में लिखा गया है। फ्रेंच भाषा में होने के कारण इसका पता अनुवादों के माध्यम से बहुत बाद में चल सका, जिसके चलते ग्रियर्सन द्वारा लिखित साहित्येतिहास ही हिन्दी का प्रथम साहित्येतिहास माना जाता रहा। वैसे १८४८ में ही करीमुद्दीन ने इसका उर्दू में अनुवाद कर दिया था। हिन्दी में इसके एक अंश का अनुवाद डॉ.उदयनारायण तिवारी नें १९३६ में, इसके अन्य अंश का अनुवाद सन १९५३ में महादेव साहा और श्रीनारायण ने और सम्पूर्ण ग्रंथ का अनुवाद १९५३ में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' शीर्षक से किया। यह अनुवाद क्रमशः 'सुधा', 'कल्पना' पत्रिकाओं में एवं अन्तिम पूर्ण पुस्तक का अनुवाद हिन्दुस्तानी अकाडेमी, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। इसके प्रकाशकीय में तीन बातों पर प्रकाश डाला गया है - १) हिन्दी साहित्य का सबसे पुराना इतिहास फ्रांसीसी विद्वान गार्सा द तासी कृत 'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी' है। २) हिन्दी में लिखा हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास शिवसिंह सेंगर कृत शिवसिंह सरोज है। ३) अंग्रेजी में लिखा हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास जार्ज ग्रियर्सन कृत 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ़

हिन्दुस्तान' १८८६ ई. में प्रकाशित हुआ था।[10] इसके आगे पुनः लिखा गया है "डॉ.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित अंश का हिन्दी अनुवाद मूल ग्रंथ के आधार पर किया है। ग्रंथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।"[11]

तासी के ग्रंथ को हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास मानने के सन्दर्भ में विद्वानों में भले ही मतभेद हों, किन्तु उन्होंने अपने ग्रंथ लेखन के लिए ४० वर्षों तक अध्ययन-अनुसंधान करके सीमित सामग्री में इसे प्रस्तुत किया था। तासी ने स्वयं इसकी भूमिका में लिखा है, "३००० भारतीय लेखकों में से २२०० से अधिक मुसलमान लेखक हैं तो हिन्दू लेखक ८०० और इन पिछले में से भी केवल २५० के लगभग हैं जिन्होंने हिन्दी में लिखा है।"[12] हिन्दुई साहित्य का इतिहास, डॉ.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के आधार पर इसमें ३५८ कवि, अंगददेव से लेकर हेमन्तपंत तक उल्लिखित हैं, जिनमें से ४७ कवि संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी और उर्दू आदि अन्य भाषाओं के भी हैं। १४ ऐसे कवियों को भी तासी ने सम्मिलित किया है, जिनका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इनमें से ७७ ऐसे भी रचनाकार सम्मिलित हुए, जो विशुद्ध साहित्य की परिगणना से बहिष्कृत हो सकते हैं तथा पाठ्य ग्रंथ, धार्मिक खण्डन-मण्डन, ज्योतिष, आयुर्वेदिक ग्रंथ रचयिता, साधारण अनुवादक, पत्र सम्पादक, इतिहास लेखक तथा प्रकाशक भी सम्मिलित हैं। इनके अलावा २२० रचनाकार विशुद्ध साहित्यकारों की श्रेणी में आते हैं जिनमें ६० नगण्य कोटि के हैं तथा १६० सुप्रसिद्ध साहित्यकार भी हैं। यद्यपि इन्हीं १६० रचनाकारों को दृष्टि में रखकर इस साहित्येतिहास का निर्माण हुआ था। 'हिन्दी साहित्य कोश' के अनुसार, "इस ग्रंथ ने हिन्दी साहित्य की दीर्घकालीन परम्परा के बिखराव को सूत्रबद्ध किया है।"[13]

तासी साहित्येतिहास के अर्थ को भली-भाँति समझते थे, इसलिए उन्होंने इसे विस्तृत रूप में समझाते हुए लिखा है, "मौलिक जीवनियाँ जो मेरे ग्रंथ का मूलाधार हैं, सब अकारादि क्रम से रखी गई हैं। मैंने यही पद्धति ग्रहण की है, यद्यपि शुरु में मेरा विचार कालक्रम ग्रहण करने का था और मैं यह बात छिपाना नहीं चाहता था कि यह क्रम अधिक अच्छा रहता या कम-से-कम जो शीर्षक मैंने अपने ग्रंथ को दिया है उससे अधिक उपयुक्त होता, किन्तु मेरे पास अपूर्ण रचनाएँ होने के कारण उसे ग्रहण करना कठीन

---

[10].ऐन्दुई साहित्य का इतिहास -प्रकाशकीय-अनु.डॉ.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

[11].वही-प्रकाशकीय

[12].इन्दुई साहित्य का इतिहास (भूमिका) - अनु.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ.११८

[13]. हिन्दी साहित्य कोश-भाग-२-सम्पा.धीरेन्द्र वर्मा, पृ.१२८

ही था। वास्तव में मैं जब अपने सम्बन्ध में कहना चाहता हूँ, मौलिक जीवनियाँ हमें यह नहीं बताती कि उल्लिखित कवियों ने उन्हें किस काल में लिखा, और यद्यपि उनमें प्रायः काफी अवतरण दिए गए हैं, तो वो भी उनसे शैली के सम्बन्ध में बहुत अधिक विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रतिलिपि करते समय उनमें ऐसे पाठ सम्बन्धी परिवर्तन हो गए हैं, जो इन्हें आधुनिक रूप प्रदान कर देते हैं, चाहे कभी-कभी वे प्राचीन ही हों। जहाँ तक हिन्दुई लेखकों से सम्बन्ध है, उनकी भी अधिकांश रचनाओं की निर्माण तिथियाँ निश्चित नहीं हैं। यदि मैंने कालक्रम वाली पद्धति ग्रहण की होती तो अनेक विभाग स्थापित करने पड़ते। पहले में, मैं उन लेखकों का पता रखता जिनका काल अच्छी तरह ज्ञा है, दूसरे उनको, जिनका काल सन्देहास्पद है, अन्त में, तीसरे उन्हें जिनका काल अज्ञात है। यही विभाजन उन रचनाओं के लिए भी करना पड़ता, जिन्हें इस अंश के प्रधान अंश में स्थान नहीं मिल सका। अपना कार्य सरल बनाने और पाठक की सहूलियत दोनों दृष्टियों से मुझे ये पद्धति छोड़े के लिए बाध्य होना पड़ा।"[14]

यहाँ स्पष्ट है कि तासी इतिहास बोध से युक्त इतिहास का अर्थ जानते थे तथा साहित्येतिहास में काल विभाजन एवं काल निर्णय की आवश्यकता को भी महसूस कर रहे थे, किन्तु सामग्री की अनुपलब्धता एवं कमी को उन्होंने यहाँ रेखांकित करते हुए अपनी विवशता जाहिर की है। यदि उन्हें और सामग्री मिलती तो संभवतः उन्हें यह इतिहास आचार्य शुक्ल की भाँति लिखने में अधिक सफल बनाने में सहायता मिलती। तासी ने अपने ग्रंथ को अत्यन्त महत्वाकांक्षापूर्ण 'इतिहास' शब्द से अभिहित किया है, इस विषय में किशोरीलाल गुप्त का कथन दृष्टव्य है, "तासी की रचना कालक्रमानुसार न होकर लेखकों के नामों के वर्णनानुक्रम से है और इतिहास के लिए कालक्रमानुसारिता पहली शर्त है। वर्णानुक्रम का अनुकरण ग्रंथ को कवि-कोश बना देता है और इतिहास के पद से उसे वंचित कर देता है।"[15] जब तासी अपने ग्रंथ को कालक्रमानुसार प्रस्तुत नहीं कर सके तब उसने अपने इतिहास के विभिन्न रचनाओं का विभाजन करके वर्णानुक्रम में प्रसुत किया।

उन्होंने अपने इतिहास ग्रंथ में हिन्दुई रचनाओं को १)आख्यान, कहानी, किस्सा, २)आदिकाव्य अथवा प्राचीन काव्य, ३)इतिहास, गाथा, वर्णन और ४) अन्य काव्य के रूप में विभाजित किया। जिस प्रकार उन्होंने अपने इतिहास का विभाजन साहित्यिक दृष्टि से किया, उसी प्रकार साहित्यिक रूपों को लेकर भी साहित्य का विभाजन करने का प्रयास किया है। यथा उन्होंने छन्दों, लोकगीतों आदि में लिखित

---

[14].हिन्दुई साहित्य का इतिहास-भूमिका-अनु.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ.१२

[15].हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास-डॉ.किशोरीलाल गुप्त, पूरोवाक्, पृ.०१-०२

कविताओं के स्वतंत्र वर्ग बनाए। इसके अतिरिक्त वीरकाव्य, शोक कविताएँ, नीति एवं उपदेश की कविताएँ, श्रृंगारिक कविताएँ, प्रशंसा और यशगान की कविताएँ, व्यंग्य कविताएँ और वर्णनात्मक कविताएँ, यह प्रवृत्तिमूलक वर्गीकरण भी करने का उन्होंने प्रयास किया। निश्चित रूप से उनकी दृष्टि हिन्दुस्तानी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों की ओर भी गई है। जैसाकि अधिकांश रूप में माना जाता है, यह केवल कालानुक्रम में लिखित साहित्यकारों के जीवनियों की सूची मात्र नहीं है। आचार्य नलीन विलोचन शर्मा ने तासी की सूक्ष्म प्रतिभा तथा वर्गीकरण क्षमता की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "वर्गीकरण के इस प्रयत्न के पीछे फ्रेंच वैदुष्य स्पष्ट ही अनुमेय है। यह दूसरी बात है कि हिन्दी कृतियों के कामचलाउ विवरण तक के अभाव में वर्गीकरण का कोई सम्यक प्रयास संभव नहीं था और तासी को वर्णक्रमानुसार विवरण से ही सन्तुष्ट होना पड़ा।"[16]

इस प्रकार से कालक्रमानुसार वर्णित और विभाजित कवियों का परिचय एवं काल निर्धारण सर्वथा भ्रामक तथा अप्रमाणिक है, जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। इन तिथियों एवं प्रमाणों के सन्दर्भ में डॉ.शिवकुमार ने प्रतिक्रियात्मक मत दिए हैं, "वे विभिन्न सूत्रों के हवाले देने के बाद कोई निष्कर्ष नहीं निकालते। इसलिए पाठक की जिज्ञासा शान्त नहीं होती तथा वह ऐसी स्थिति में यह नहीं जान पाता कि कवि का जीवनकाल तथा रचनाकाल कौन-सा है? वस्तुतः तासी को लेखकों सम्बन्धी जितनी जानकारी प्राप्त हो सकी, उसे उन्होंने बिना परीक्षण के दे दिया।"[17]

आचार्य शुक्ल की भाँति उन्होंने भले ही साहित्यिक मूल्यांकन का प्रयास अपने ग्रंथ में न किया हो, किन्तु उनकी दृष्टि को लेकर भी आचार्य शुक्ल की ही भाँति आलोचना की गई। यह आलोचना उर्दू-हिन्दी भाषा के विवाद से अधिक सम्बन्धित है, साहित्यिक दृष्टि को लेकर कम। इसके अतिरिक्त उनके इस ग्रंथ में कई पूर्वाग्रह भी देखने को मिलते हैं। इनके इन पूर्वाग्रहों के अनके कारण थे-भारत में अंग्रेजी शासन, महारानी व्हिक्टोरिया को अधिक प्रसन्न रखना, उर्दू अध्यापक होने से पक्ष रखना। इन पूर्वाग्रहों का प्रत्यक्ष प्रमाण ऊपर्युक्त तथ्य हैं ही, साथ में इन्होंने धर्म के आधार पर साहित्यिक विभाजन ही नहीं किया, अपितु धर्म को साहित्य की भिन्नता का कारक भी बताया। इसी धार्मिक पूर्वाग्रह के कारण कुछ रचनाओं का विश्लेषण और अनैतिहासिक हो गया है। इसके अतिरिक्त उनके ग्रंथ में अनेक कवियों के नामों के प्रति बोध ने होने के कारण उनमें अशुद्धियाँ भी देखने को मिलती हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने वर्ष

---

[16].साहित्य का इतिहास दरशन-आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, पृ.७६

[17].हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन-डॉ.शिवकुमार, पृ.१५३

या काल गणना के अनेक रूपों को स्विकार किया था, यथा हिजरी, संवत्, इ.सन् ये प्रयुक्त हुए हैं। वैसे शुक्ल के इतिहास में भी ये सभी रूप देखे जा सकते हैं। हिन्दी अथवा उर्दू की कविताओं या उदाहरणों का अनुवाद करते समय भी उन्होंने सावधानी नहीं बरती थी। किन्तु ध्यान देने की बात है कि जिस हिन्दी-उर्दू विवाद के चलते उनकी सर्वाधिक आलोचनाएँ हुई, उसी सन्दर्भ में उन्होंने अपना अत्यन्त संतुलित मत प्रकट किया, जो आज भी प्रासंगिक है। उन्होंने लिखा था, "हिन्दी और उर्दू के बीच का अन्तर केवल लिपिक (लिपिगत) है, अन्यथा दोनों एक ही भाषा है।"[18]

तासी हिन्दी साहित्य के लिए ऐसे प्रथम पाश्चात्य विद्वान हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य और भाषा को वैज्ञानिकता प्रदान की है। उन्होंने अपने इतिहास ग्रंथ में अल्पांश ही सही, सभी लगभग सभी भारतीय भाषाओं के कवियों का उल्लेख किया है। तासी ने अपने इतिहास ग्रंथ की भूमिका से भारतीय इतिहास लेखन का मार्ग प्रशस्त करके साहित्येतिहास लेखन को दिशा दिखाने का प्रयास किया।

२.२.२ मौलवी करीमुद्दीन कृत 'तबकातुश्शुअरा'

करीमुद्दीन कृत यह ग्रंथ देशी भाषा और लिपि में लिखा हिन्दी और उर्दू साहित्य का दूसरा इतिहास है। करीमुद्दीन के इतिहास ग्रंथ के पक्ष में अपना मत प्रस्तुत करते हुए डॉ.महादेव साहा और पण्डित श्रीनारायण पाण्डेय ने इसे प्रथम इतिहास माना है।[19] मिश्रबन्धुओं ने लिखा है, "वस्तुतः उनका तज़कीरा एक भारतीय द्वारा लिखित हिन्दी और उर्दू साहित्य का प्रथम इतिहास है।"[20]

'तजकिरा-ई-शुअरा-ई-हिन्दी' नवग्रंथ १८४८ ई.में दिल्ली कॉलेज से प्रकाशित हुआ था। इसे अंग्रेजी में उर्दू कवियों का इतिहास माना गया तो उर्दू में शायरी का 'तजकिरा' अर्थात साहित्य या कविता का इतिहास। डॉ.किशारीलाल गुप्त ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास' में इसे तासीकृत 'इत्स्वार द ला लितरेत्यूर ए ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' का अनुवाद बताया। यद्यपि तासी के इतिहास के द्वितीय संस्करण में इसका स्पष्टिकरण मिल ही गया- "तबकातुश्शुअरा-करीमुद्दीन कृत १८४८ ई. में दिल्ली से प्रकाशित इस तजकीरा को, जिसे 'तजकिरा-ईशशअरा-ई-हिन्दी' हिन्दुस्तानी कवियों का विवरण भी कहा जाता है, मेरे 'इत्स्वार द ला लितरेत्यूर हिन्दुस्तानी' के प्रथम संस्करण से अनुदित कहा है, किन्तु एक बिल्कुल भिन्न

---

[18].हिन्दुई साहित्य का इतिहास-लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ.४२१

[19].हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास (भूमिका)-डॉ.किशोरीलाला गुप्त

[20].मिश्रबन्धु विनोद (भूमिका)- मिश्रबन्धु, पृ.०८-०९

रचना है।"[21]

वस्तुतः तासी ने ७३८ कवियों को अपने इतिहास में स्थान दिया था तो करीमुद्दीन ने १००४ कवियों को स्थान दिया, जिसमें संयोग से ६०-६२ हिन्दी के कवि जान पड़ते हैं। परन्तु दोनों में मौलिक साम्य-वैषम्य से विग्य है कि तासी और करीमुद्दीन दोनों ने हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं लिखा है। उर्दू का इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास करने के क्रम में हिन्दी के कुछ कवियों का वर्णन संयोगवश हो गया है। करीमुद्दीन में तासी से अधिक इतिहासबोध देखने को मिलता है, क्योंकि दोनों ने इतिहास बोध के बोधत्व की स्विकारोक्ति तो दी है, परन्तु रचना कृति के निश्चित काल-अवधि के अभाव के कारण इतिहास को कालक्रम में प्रस्तुत करने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं। अतः तासी ने इतिहास को अकारादि क्रम में लिखने का प्रयास करते हुए कतिपय कवियों को कालक्रम में प्रस्तुत तो कर दिया, किन्तु इसमें इतिहास का कोई वास्तविक बोध नहीं मिल पाता है। करीमुद्दीन के यहाँ कुछ आगे बढ़ने का प्रयास देखा जा सकत है, किन्तु वहाँ भी साहित्येतिहास की सारी शर्तों को पूर्ण होते नहीं देखा जा सकता हैं।

तासी और करीमुद्दीन दोनों की रचनाएँ इतिहास लेखन में महत्त्वपूर्ण हैं, चाहे वह उर्दू का इतिहास हो या हिन्दी का, परन्तु दोनों दृष्टियों से इतिहास की परिसीमा में समा नहीं पाते हैं। हिन्दी के लिए यह दोनों नितान्त रूप से इतिहास नहीं माने जा सकते हैं। यद्यपि दोनों में इतिहास बोधत्व के अंश देखने को मिलते हैं। दोनों कृतियों में विशेष अन्तर इतना है कि तासी ने अकारादि क्रम से लिखा तो करीमुद्दीन ने कालक्रमानुसार चलने का प्रयास किया, जो इतिहास लेखन की दिशा में एक सार्थक प्रयास कहा जा सकता है।

२.२.३ शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज'

उन्नाव जिले के रहनेवाले ठाकुर शिवसिंह सेंगर अपनी सरकारी नौकरी के अतिरिक्त साहित्य का भी शौक रखते थे। इन्होंने अपनी साहित्य रुचि के चलते एक छोटा-सा ग्रंथ बनाने की ठानी और देखते-देखते वह ग्रंथ का रूप ग्रहण करता गया, जिसकी उन्हें भी अपेक्षा न थी। इसके लिए उन्होंने कवियों की जीवनियाँ, उनकी तिथियाँ एवं रचनाओं का परिचय प्राप्त किया, जिसके लिए उन्होंने कई पुस्तकालयों की खाक छाननी पड़ी। उन्हें तो यह भी विश्वास था कि 'ऐसा ग्रंथ आज तक नहीं रचा गया है।'[22]

---

[21].हिन्दी साहित्य का इतिहास: पाश्चात्य स्रोतों का अध्ययन-डॉ.हरमेन्द्र सिंह बेदी, पृ.२८३

[22].शिवसिंह सरोज-शिवसिंह सेंगर, भूमिका, पृ.०१

उन्होंने अपने से पूर्व लिखित दो ग्रंथों का उल्लेख भी किया है, जिनमें 'भाषा काव्य संग्रह' एवं 'कवित्तरत्नाकर' उल्लेख्य हैं। इन ग्रंथों के दोषों के परिहारार्थ इस ग्रंथ का निर्माण उन्होंने किया होगा। स्वयं ठाकुर जी को भी पता नहीं था कि उनका ग्रंथ आनेवाले अनेक इतिहास ग्रंथों के लिए उपजीव्य का कार्य करेगा । इस सन्दर्भ में डॉ.रामखेलावन पाण्डेय का मत है - "ठाकुर साहाब का सरोज हिन्दी संसार में अपनी विशेष सत्ता और महत्ता रखता है, क्योंकि उसी के कारण हिन्दी साहित्य के क्रमिक विकास और ऐतिहासिक जीवन पर प्रकाश पड़ा है, परन्तु सरोज वास्तव में साहित्य का इतिहास ग्रंथ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें वह सामग्री नहीं है, जिसका होना साहित्य के इतिहास में अनिवार्य है। उसमें न तो साहित्य की परम्परागत विचारधाराओं, उनकी शैलियों आदि का विवेचन है और न उसमें देश, समजा, समय आदि की संस्कृतियों का ही, जिसके प्रभाव से भाषा और साहित्य प्रभावित होकर प्रगतिशील होता है-आलोचना है।"[23]

अनेकाकानेक हिन्दी साहित्येतिहास ग्रंथों का सन्दर्भकार 'शिवसिंह सरोज' ग्रंथ अपना विशिष्ट स्थान रखता है। अपने से पूर्व किसी भी ग्रंथ से हटकर यह रचनाकारों का विस्तृत परिचय देनेवाला प्रथम ग्रंथ सिद्ध होता है। इसकी भूमिका से स्पष्ट है कि इसकी रचना आठ-दस माह में पूर्ण की गई थी। तासी की भाँति इसमें हिन्दी अकारादि क्रम में कवियों एवं उनकी रचनाओं का परिचय दिया गया है। इतना तो है कि इस ग्रंथ में दी गई तिथियाँ संशयात्मक हैं, परन्तु इसे एक उच्च कोटि का संग्रह-ग्रंथ माना जा सकता है। इसने कई कवियों को खोजने का प्रयास सर्वप्रथम ही किया। रचनाकारों के जीवन परिचय पर ही न रुकते हुए उन्होंने उनकी रचनाओं से उदाहरण देते हुए उनकी प्रवृत्तियों पर भी दृष्टिपात करने का प्रयास किया है। डॉ.किशोरीलाल गुप्त ने इसे हिन्दी साहित्य का प्रस्थान बिन्दु माना है क्योंकि यह कालक्रमानुसार न होकर अकारादि क्रम में ८३८ कवियों की रचनाओं के २००० नमूने और १००३ कवियों का परिचय प्रस्तुत करता है।

भाषा अर्थात् हिन्दी का वर्णन सेंगर ने अपने ग्रंथ की भूमिका में जिस प्रकार किया है, वह वास्तविक रूप में हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने का श्रमसाध्य प्रयास ही कहा जाएगा। इससे पूर्व यह प्रयास तासी ने भी किया था, किन्तु सामग्री के अभाव एवं अन्य कारणों से वह उतना सफल नहीं हो पाया, जितनी सफलता ठाकुर जी को मिली। उनके मूल ग्रंथ से भले ही उन्हें संग्राहक के रूप में ही स्थापित किया गया हो, किन्तु उनके इसी ग्रंथ की भूमिका के दृष्टिकोण से वह एक साहित्येतिहासकार के

---

[23].हिन्दी साहित्य का नया इतिहास-भूमिका-रामखेलावन पाण्डेय, पृ.०१-०२

रूप में उपस्थित होते हैं। जिससे वे तासी के बाद ही सही, हिन्दी साहित्य के पूर्ण इतिहासकार सिद्ध होते हुए दिखाई देते हैं।

साहित्येतिहास के रूप में शिवसिंह सरोज के इस ग्रंथ की बात की जाए तो वह अपने पूर्ववर्ती कविवृत्त संग्रहों की अनुकृति सिद्ध होता है। इसमें इतिहास ग्रंथ-सी वैज्ञानिकता कहीं दूर-दूर तक दिखाई नहीं देती है। संग्रह के प्रथम खण्ड में कवि संख्या १ से ८३८ तक वर्णित है तो दूसरे खण्ड को वर्णानुक्रम पद्धति से विभाजित किया गया है। इसलिए दोनों प्रक्रियाओं में समन्वय का अभाव दिखाई देता है। वर्णानुक्रम में काव्य संग्रह एवं उदाहरणों के क्रम में परिवर्तन भी इस ग्रंथ में दिखाई देता है।

सम्पूर्ण पुस्तक भूमिका, काव्य संग्रह एवं जीवन चरित्र तीन रूपों में विभाजित है । काव्य संग्रह खण्ड में ८३८ कवियों की कविताओं के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। जीवन चरित खण्ड में १००३ कवियों का परिचय दिया गया है । प्रथम एवं द्वितीय संस्करणों में कवि की संख्या ९९८ थी वह तृतीय संस्करण में १००२ तथा सप्तम खण्ड में १००३ हो गई । ये बढ़े हुए कवि कोई नए व्यक्ति नहीं थे। सरोज में अनेक कवि अस्तित्वहीन, एक ही कवि का उल्लेख अनेक बार तथा अनेक कवियों को अल्पज्ञान व अनवधानता के कारण एक ही मान लिया गया है। डॉ.गुप्त ने सुखदेव मिश्र के विषय में बताया है कि स्थान भेद के कारण सरोजकार ने इन्हें तीन कवि मान रखा है। ऐसे ही सोमनाथ, शशिनाथ को दो माना गया है, ये 'द्विग्विजय भूषण' ग्रंथ के एक रचनाकार दो छाप वाले कवि हैं।[24] इस प्रकार भिन्न-भिन्न आधारों, वर्णों, आवृत्ति और त्रुटि, लिंगभेद, समय, जाति, स्थानभेद, रचना शीर्षक समानता, मूल व उपनाम, पूर्णनाम, संक्षिप्तनाम आदि के उलटफेर और अशुद्धियों के भ्रम के कारण ५९ कवियों से १२५ कवियों की सृष्टि से ६६ कवियों की संख्या बढ़ गई है तथा १२ अन्य नवीन कवियों की मिथ्या सृष्टि भी प्राप्त होती है। कुछ कवि ऐसे मिलते हैं जिन्हें एक-एक कवि समझा गया है और उन्हें दो माना गया है, जैसे नाभादास और मतिराम को दो-दो बताया गया है।

इसके अतिरिक्त छपाई सम्बन्धी त्रुटियों, सन-संवत् सम्बन्धी त्रुटियों, पृष्ठ निर्देशन सम्बन्धी अशुद्धियों की तो गिनती ही नहीं की जा सकती है। साहित्य के प्रति अतिश्रद्धा, साहित्येतिहास की दृष्टि के लिए अपेक्षा से कम बाधक नहीं है। इस रूप में यदि तासी ने हिन्दी साहित्य को विदेशी आँख से देखा तो शिवसिंह ने अति-भारतीय दृष्टि से। साहित्येतिहास की दृष्टि से तथ्य की प्रामाणिकता एवं प्रामाणिक सूचनाओं से दोनों ही वंचित हैं । फिर भी शिवसिंह सरोज में जैसे - भाषा काव्य संग्रह और कवित्तरत्नाकर

---

[24].हिन्दी साहित्य के इतिहास के विभिन्न सूत्रों का विश्लेषणात्मक अध्ययन-डॉ.किशोरीलाल गुप्त, पृ.६७१, शोध प्रबन्ध

का प्रभाव अधिक पड़ा है, ठीक ऐसे ही 'शिवसिंह सरोज' का प्रभाव परवर्ती इतिहासकारों के साथ डॉ.ग्रियर्सन और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर अधिक दिखाई देता है। इसलिए कविवृत्त संग्रहों में 'शिवसिंह सरोज' का सर्वोपरि स्थान है। निश्चय ही यह भारतीय द्वारा लिखित एक साहित्येतिहास ग्रंथ न हो, वैसा प्रयास अवश्य कहा जा सकता है।

२.२.४ जार्ज ग्रियर्सन कृत 'द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान'

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए डॉ.जॉर्ज ग्रियर्सन का 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान' सन् १८८९ ई. में प्रकाशित हुआ। इस साहित्येतिहास ग्रंथ में इतिहासकार डॉ.ग्रियर्सन ने ९५२ कवियों का जीवन-परिचय एवं उनके रचनाओं और काव्य-विषयों को कालक्रमानुसार प्रस्तुत किया। चारण काव्य, धार्मिक काव्य, प्रेम काव्य एवं दरबारी काव्य शीर्षकों में विभाजित अध्यायों के अन्तर्गत केवल हिन्दी कवियों को स्थान दिया गया है। प्रस्तुत इतिहास ग्रंथ प्रथम बार सन् १८८८ ई. में रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल जर्नल में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। इसका स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रकाशन सन् १८८९ ई. में हुआ था, जिसका अनुवाद डॉ.किशोरीलाल गुप्त ने 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' नाम से किया है, जो सन् १९५७ ई. में हिन्दी प्रचारक संस्थान,वाराणसी से प्रकाशित हुआ।

उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कई ग्रंथों, वार्ता साहित्य आदि से जो सहायता ली है, उसकी विस्तृत तालिका भूमिका में देते हुए उन ग्रंथकारों-साहित्यकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है। इस ग्रंथ में वास्तव में ९५१ कवियों का ही उल्लेख किया गया है, क्योंकि ११ वें अध्याय के अनुक्रम ७०६ के अन्तर्गत किसी कवि या रचना का उल्लेख नहीं है, अपितु बिहारी और हिन्दी नाटकों पर टिप्पणी की गई है। इन ९५१ कवियों में से ८८६ कवियों का परिचय 'शिवसिंह सरोज' से तथा शेष ६५ कवियों का परिचय अन्य पूर्ववर्ती सामग्री से लिया गया है।

ग्रियर्सन का साहित्येतिहास कई मायनों में हिन्दी साहित्य का प्रथम पूर्ण इतिहास कहा जा सकता है। इसमें प्रथमतः इतिवृत्तात्मकता एवं प्रवृत्यात्मकता देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रवर्तन करने का श्रेय डॉ.ग्रियर्सन को दिया जा सकता है। उन्होंने अपने ग्रंथ के बारह अध्यायों में सन् ७०० ई. से हिन्दी साहित्य का आरंभ मानते हुए उसे 'चारण काल' नाम से अभिहित किया । उन्होंने इस काल का अन्त सन् १३०० ई. मानते हुए इसके अन्तर्गत क्रम संख्या १ से ९ कवियों का

विवेचन किया है। ग्रियर्सन पहले इतिहासकार हैं, जिन्होंने भक्तिकाल को 'धार्मिक पुनर्जागरण' के रूप में रेखांकित करते हुए उसे 'पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण' नामकरण किया। इसे उन्होंने कवियों के अनुसार उप-विभागों में विभाजित करते हुए सामान्य परिचय के पश्चात् मलिक मुहम्मद जायसी की प्रेम कविता, ब्रज का कृष्ण सम्प्रदाय, मुगल दरबार, तुलसीदास शीर्षक उप-अध्यायों में विभाजित किया, जिसमें क्रम १० से १३३ तक के कवियों का विवेचन किया गया है। डॉ.ग्रियर्सन ने रीतिकाव्य को इसी नाम से अभिहित करते हुए सन् १५८० ई. से १६९२ ई. तक माना है, जिसमें १३४ से १७० क्रम के कवियों का विवेचन किया गया है। इसी के अन्तर्गत 'अन्य कवि' एवं 'परिशिष्ट' नामक उप-विभाग भी बनाये गये हैं, जिनमें क्रमशः १७१ से २१७ एवं २१८ से ३१८ क्रम के कवियों को स्थान दिया गया है। इसके पश्चात् 'अठरहवीं शती' शीर्षक अध्याय में 'धार्मिक कवि' तथा 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत क्रम के जारी रखते हुए ५०१ तक के कवियों का परिचय दिया गया है। आधुनिक काल के साहित्य का विवेचन 'कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान' शीर्षक अध्याय में किया गया है, जहाँ इतिहासकार ने आधुनिकता का प्रवेश कम्पनी शासन के कारण मानने-मनवाने का प्रयास किया है। इसके अनन्तर सन् १८५७ से १८८७ ई. तक के साहित्य को 'महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान' शीर्षक अध्याय में विवेचित किया गया है। यहाँ स्पष्टतः सामाजिक-राजनैतिक घटनाओं का प्रभाव डॉ.ग्रियर्सन के नामकरण एवं काल-विभाजन पर देखा जा सकता है। इन दोनों अध्यायों में कुल मिलाकर क्रम संख्या ५०२ से ७४० के कवियों को स्थान दिया गया है । अन्तिम अध्याय मूल रूप से आचार्य शुक्ल के 'फुटकल खाता' की भाँति 'विविध' शीर्षक के अन्तर्गत क्रम संख्या ७४१ से ९५२ कवियों का परिचय देता है। जैसाकि कहा गया है, वास्तव में इस ग्रंथ में ९५१ कवियों का ही परिचय दिया गया है। अपने प्रकाशन सयम तक के साहित्य का कालक्रमानुसार विवेचन-विश्लेषण इस साहित्येतिहास ग्रंथ में करने का प्रयास इतिहासकार ने किया है, जिस पर स्पष्टतः विदेशी दृष्टि का अत्यधिक प्रभाव देखा जा सकता है।

इन अध्यायों में इतिहासकार ने मुख्यतः काव्य-साहित्य का सामान्य परिचय, प्रधान कवि परिचय और अन्य कवि व उनके नाम अंग्रेजी वर्ण के क्रम से प्रस्तुत किए हैं। सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का काल विभाजन करने का प्रयास करते हुए, समयानुसार कवियों को प्रस्तुत किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक काल की सामान्य प्रवृत्तियों की ओर भी इंगित किया गया है। इतिहासकार की दृष्टि में जो रचनाकार महत्त्वपूर्ण थे, उन पर स्वतंत्र अध्याय लिखे गए हैं, यथा, जायसी, तुलसीदास। इसके साथ ही चन्दबरदायी,

कबीर, सूरदास, बिहारी जैसे कुछ कवियों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों के विवेचन में ही नहीं, अपितु कवियों के चुनाव में भी इतिहासकार की शासक दृष्टि एवं शास्त्रीय धारा के प्रति उसका लगाव स्पष्ट देखा जा सकता है। अंग्रेज़ राज को इतिहासकार भारत के लिए एक प्रकार से उद्धारक की भूमिका में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। जैसे उन्होंने 'महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान' शीर्षक अध्याय की भूमिका बाँधते हुए कहा है, "यह अध्याय पूर्णतया 'महारानी का भारत' युग का वर्णन करता है, जो आन्तरिक अशान्तियों से मुक्त है, ज्ञान प्रकाश और ज्ञान प्राप्ति के लिए हर प्रकार का प्रोत्साहन दिया गया है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि मुद्रण-कला का पूर्ण और विस्तृत प्रसार हुआ।"[25] निःसंदेह अंग्रेजों ने रेल, डाक, मुद्रण आदि तकनीकी विकास में अपना योगदान देकर शिक्षा का सामाजिकरण किया था, किन्तु यह इतिहास किसी से छिपा नहीं है कि अंग्रेजों की शिक्षा-व्यवस्था ने कार्यालयीन बाबू बनाने के अतिरिक्त कोई योगदान नहीं दिया है। ज्ञान प्रसार उपनिवेशवादी शासन का मकसद कभी नहीं था, जिसका गुणगान डॉ.ग्रियर्सन का इतिहास करते नहीं थकता है। ग्रियर्सन की माने तो भारत में आधुनिकता का प्रवेश भी केवल और केवल अंग्रेजी सत्ता के कारण ही संभव हो पाया था। ग्रियर्सन ने तत्कालीन कवियों में हो रहे राष्ट्रीयता के उदय को पूर्णतः अनदेखा करते हुए उपनिवेशवादी शासन के समर्थन में हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने का प्रयास किया है। उनके इतिहास लेखन की यह न्यूनता उनके इतिहास में सर्वत्र देखी जा सकती है। उन्होंने तत्कालीन बंगाली पत्रकारिता के राष्ट्रवादी लेखन को राजद्रोही कहा है।

ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य का आरंभ चारण काल से मानते हुए उसे वीरकाव्य नाम से अभिहित किया है। 'पृथ्वीराज रासो'की ऐतिहासिकता पर विचार करनेवाले ग्रियर्सन संभवतः पहले विद्वान हैं। कर्नल टॉड के हवाले से उन्होंने रासो काव्य की ऐतिहासिकता पर संदेह उपस्थित किया है। उन्होंने अधिकांश रासो रचनाकारों को चारण कहना ही अधिक उपयुक्त समझा, जो उन्हें इतिहास की अपेक्षा काव्य के रूप में ही अधिक स्वीकृत करता है।

भक्तिकाल को भाषा काव्य के विकास के लिए ग्रियर्सन ने १५ वीं शती के काव्य को विशेष महत्व दिया है। भक्तिकाल को उन्होंने तीन धाराओं में विवेचित किया है, जिसमें सन्त काव्यधारा को छोड़ दिया गया है, किन्तु कबीर, नानक, दादू आदि कवियों का उल्लेख किया गया है। यह उल्लेख उल्लेख के ही रूप में हुआ है, न कि धारा के रूप में। मूलतः भक्ति आन्दोलन का विकास ईसाई प्रभाव

---

[25].हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास-अनु.किशोरीलाल गुप्त, पृ. २९६

से माननेवाले ग्रियर्सन राम के चरित्र, सीता के आदर्शों, कौशल्या की मातृत्व की मूर्ति में क्रिश्चियन उच्चादर्शों के दर्शन होते हैं। ईसाईयत का प्रभाव देखने-दिखाने के क्रम में ही उन्होंने सूरदास एवं तुलसीदास के काव्य को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया है। इतिहास क्रम में ग्रियर्सन की ईसाइयत का प्रभाव वाली दृष्टि अब पूर्णतः निरस्त एवं निराधार सिद्ध हो चुकी है, किन्तु ग्रियर्सन के इतिहास को इसने दूर तक प्रभावित किया है। भक्तिकाल के विवेचन में ग्रियर्सन की आलोचना दृष्टि सर्वाधिक सक्रिय होती हुई देखी जा सकती है। उन्होंने तुलसीदास को विभिन्न कारणों से हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया है। उन्होंने 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "भारत के इतिहास में तुलसीदास का महत्व जितना अधिक आँका जाता है वह अत्याधिक नहीं है। इनके ग्रंथ के साहित्यिक महत्व को यदि ध्यान में न रखा जाए, तो भी भागलपुर से पंजाब और हिमालय से नर्मदा तक विस्तृत क्षेत्र में उस ग्रंथ का सभी वर्ग के लोगों में समान रूप से समादर पाना निश्चय ही ध्यान देने योग्य है।"[26] केवल सामाजिक उच्चादर्शों के कारण ही नहीं, लोकप्रियता एवं साहित्यिक मानदण्डों पर भी ग्रियर्सन ने तुलसीदास को निर्विवाद रूप से हिन्दी का श्रेष्ठ कवि माना है। उनके साहित्येतिहास में संत काव्य की धारा के रूप में अनुपस्थिति खटकती है, तो सूफी काव्य के प्रति पूर्ण सहानुभूति भी देखने को मिलती है। सम्पूर्ण भक्तिकाल की समन्वयकारी भूमिका को ग्रियर्सन पहचान नहीं पाए थे।

तुलसीदास के पश्चात् ग्रियर्सन के पसन्दीदा कवि सूरदास हैं, किन्तु उनकी सूर सम्बन्धी जानकारी 'भक्तमाल' पर आधारित होने के कारण कई स्थानों पर तथ्यात्मक भूलें हुईं हैं। उन्होंने सूर को अकबर के दरबारी गायक रामदास का पुत्र बताया है। जबकि सूर का कोई भी सम्बन्ध अकबर के दरबारी गायक से नहीं था। जीवन-वृत्त सम्बन्धी तथ्यात्मक जानकरी में त्रुटियों के बावजूद ग्रियर्सन ने जो सूर साहित्य का मूल्यांकन किया है, वह अधिक न्यायसंगत है। सूर साहित्य के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है, "साहित्य में सूरदास के स्थान के सम्बन्ध में मैं इतना ही कहना चाहुँगा कि उनका स्थान न्यायतः बहुत ऊँचा है।"[27] डॉ.ग्रियर्सन सूफी काव्यधारा को भी एक काव्यधारा के रूप में पहचानने में चूक गए थे। उन्होंने जायसी के साहित्य का एकांगी अध्ययन प्रस्तुत किया तथा 'पद्मावत' के विषय में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा है, "मुझे ऐसा कोई अन्य ग्रंथ ज्ञात नहीं है, जिसके अध्ययन में 'पद्मावत' की अपेक्षा अधिक परिश्रम की आवश्यकता हो। ....'पद्मावत' के रचना काल से हिन्दुस्तान का साहित्य दो धाराओं में

---

[26].वही, पृ. ६९

[27].वही, पृ. १०६

जमकर स्थिर-सा हो गया। यह रामानन्द और वल्लभाचार्य के सुधारों के कारण हुआ। ...मलिक मुहम्मद जायसी की कृति एक उत्कृष्ट और प्रायः अकेले उदाहरण के रूप में है।"[28]

डॉ.ग्रियर्सन भक्तिकालीन साहित्य से इतने अभिभूत हुए थे कि उन्होंने इसे महानतम् साहित्य मानते हुए अंग्रेजी साहित्य के हस्ताक्षरों से सूर, तुलसी आदि कवियों की तुलना करते हुए लिखा है, "अकबर बादशाह का शासन काल और इंगलैंड की महारानी एलिज़ाबेथ का शासन काल प्रायः एक ही है। और इन दोनों शासकों के शासन काल साहित्यिक प्रतिभा के एक असाधारण एवं अभूतपूर्व स्फुरण से परिपूर्ण हैं। और यदि तुलसीदास और सूरदास की शेक्सपिअर, स्पेन्सर के साथ सचमुच ही तुलना की जाए तो ये भारतीय कवि पीछे नहीं रहेंगे।"[29] यहाँ हमें पहली बार तुलनात्मक पद्धति के दर्शन हिन्दी साहित्येतिहास में होते हैं। जैसाकि हमने पहले भी कहा है भक्तिकाल के विवेचन प्रसंग में इतिहासकार की साहित्य विवेचन दृष्टि अधिक खुलकर सामने आती है, जहाँ उपनिवेशवादी मानसिकता पर वह विजय पाने का प्रयास करते हैं।

डॉ.ग्रियर्सन भक्तिकाल एवं रीतिकाल के साहित्य में कोई मूल्यगत भेद नहीं कर पाए हैं। उन्होंने रीतिकाल को भक्तिकाल के समकक्ष महत्व दिया है, जो उनकी शास्त्रीय दृष्टि की ओर इंगित करता है। उन्होंने रीतिकालीन साहित्य को 'हिन्दोस्तानी भाषा साहित्य का श्रेष्ठतम् युग' कहा है। उन्होंन रीतिकालीन कवियों में केशव, चिन्तामणि त्रिपाठी और बिहारी का सविस्तार विवेचन किया है। इन्हीं तीन रचनाकारों को वे रीतिकालीन प्रतिनिधि रचनाकार मानते हैं। उन्होंने रीतिकालीन रीति ग्रंथों की परम्परा को संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा से जोड़कर देखा है। उन्होंने केशवदास को रीतिकाव्य का प्रवर्तक माना है। उन्होंने देव को देवदत्त कहते हुए अपने युग के सर्वश्रेष्ठ कवि कहा है। भूषण का मूल्यांकन इतिहास को दृष्टि में रखकर किया गया है। वे रीतिकालीन कवियों की साहित्यिक प्रवृत्तियों से भली-भाँति परिचित थे। अपनी शास्त्रीय साहित्य रूचि के कारण उन्होंने रीतिकाल का सविस्तार विवेचन अपने साहित्येतिहास ग्रंथ में किया है, जो आगे के साहित्येतिहास लेखन को भी प्रकाशित करता रहा।

डॉ.ग्रियर्सन के इतिहास में उपनिवेशवादी शासन के प्रति लगाव सर्वत्र प्रकट हुआ है। 'कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान' शीर्षक अध्याय में अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष काल में रचित साहित्य को भी उन्होंने उपनिवेशवादी दृष्टि से विवेचित किया है। उन्होंने इसी प्रोजेक्ट के तहत १८ वीं शती को हिन्दी

---

[28].वही, पृ.९३

[29].वही, पृ. १२६

साहित्य का ह्रासोन्मुख काल घोषित किया है, जहाँ से हिन्दी साहित्य में नवचेतना का विकास आरंभ होता है। खड़ी बोली के विकास को भी वे अधिक ठीक तरह समझ पाते तो, आधुनिक प्रवृत्तियों को अधिक ठीक से मूल्यांकित कर सकते थे, किन्तु इसका सर्वथा अभाव उनके साहित्येतिहास में देखने को मिलता है। प्रेम कविताओं के प्रति भी उनका दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित हैं, फिर वह चाहे देशप्रेम हो अथवा प्रकृति प्रेम। इस काल में उन्होंने फोर्ट विलियम कॉलेज की भूमिका को रेखांकित किया हैं और हिन्दी के विकास में अंग्रेज़ों के योगदान को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

सारांशतः कहा जा सकता है कि डॉ.ग्रियर्सन के इतिहास में दृष्टिगत कई त्रुटियों के बावजूद परवर्ती साहित्येतिहास लेखन पर उनका दूर तक प्रभाव देखा जा सकता है। आचार्य शुक्ल के यहाँ जो विधेयवादी पद्धति पूर्ण रूप ग्रहण करती है, उसका पहले-पहल उपयोग ग्रियर्सन के साहित्येतिहास में देखा जा सकता है। परवर्ती इतिहासकारों ने कई कालों का नामकरण एवं काल-विभाजन ग्रियर्सन से ग्रहण किया है। जिस गद्य के विकास को ग्रियर्सन नहीं पहचान पाए थे और खड़ी बोली के गद्य को अपने इतिहास में अनदेखा करते हैं, उसका विवेचन आगे चलकर आचार्य शुक्ल एवं परवर्ती इतिहासकारों ने किया है। एक प्रकार से ग्रियर्सन का साहित्येतिहास पूर्ण साहित्येतिहास न होकर हिन्दी काव्य का इतिहास मात्र कहा जा सकता है, जो मध्यकालीन साहित्य तक के साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। आधुनिक काल में आकर उनके इतिहास एवं इतिहास दृष्टि पर उपनिवेशावादी दृष्टि को हावी होते हुए देखा जा सकता है। एक ओर उनके साहित्येतिहास में संत काव्य की धारा के रूप अनुपस्थिति है तो दूसरी ओर तुलसीदास के हिन्दी साहित्येतिहास में एक महत्त्वपूर्ण कवि के रूप स्थापित करने का प्रयास देखा जा सकता है। आलोचना दृष्टि का पूर्णतः विकास न होने पर भी उन्होंने सामाजिक मूल्य एवं साहित्यिक मूल्यों के समन्वित रूप से साहित्य को देखने-दिखाने का प्रयास किया है। किन्तु यह मान्य है कि डॉ.ग्रियर्सन का साहित्येतिहास हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

२.२.५ मिश्रबन्धु कृत 'मिश्रबन्धु विनोद'

पण्डित गणेश बिहारी मिश्र, पण्डित श्याम बिहारी मिश्र एवं पण्डित शुकदेव बिहारी मिश्र का संयुक्त नाम 'मिश्रबन्धु' है। सन १८९३ ई. में नागारी प्रचारिणी सभा के स्थापना के उपरान्त हिन्दी साहित्य की विलुप्त सामग्रियों को एकत्र करने का कार्य सभा को सौंपा गया था। हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकों का कार्य १९०० ई. से १९११ ई. तक निरन्तर मिश्रबन्धुओं ने किया। इसके बाद मिश्रबन्धुओं ने प्राप्त

खोज रिपोर्टों का उपयोग करने की दृष्टि से 'सरस्वती' पत्रिका में सूचना प्रकाशिकत करवायी। अर्थात जिस सामग्री के अभाव के कारण तासी एवं शिवसिंह सेंगर ने इतिहास लेखन में असफलता पायी थी, वह मिश्रबन्धुओं के सम्बन्ध में अब दूर हो चुकी थी। उन्होंने 'सरस्वती' छपवाया था- "हमने भाषा के उत्तमोत्तम शत नवीन और प्राचीन कवियों की कविता पर समालोचना लिखने का निश्चय किया है और उन आलोचक ग्रंथों (लेखों) के आधार पर हिन्दी का जन्म और गौरव या किसी अन्य ऐसी ही नाम की पुस्तक निर्माण करने का भी विचार है।"[30] सर्वप्रथम पुस्तक निर्माण की रचना प्रक्रिया में 'हिन्दी नवरत्न' नामक पुस्तक का प्रकाशन दस वर्षों बाद हुआ, जिसमें दस कवियों को स्थान मिला-तुलसी, सूर, कबीर, देव, बिहारी, भूषण-मतिराम (त्रिपाठी बन्धु), केशवदास, चन्दबरदायी और भारतेन्दु। इसके दो वर्षों के उपरान्त 'मिश्रबन्धु विनोद' १९१३ ई. में प्रकाशित हुआ था। इसके सन्दर्भ में डॉ.वासुदेव सिंह ने लिखा है, "मिश्रबन्धुओं ने जब 'मिश्रबन्धु विनोद' लिखना शुरु किया तो देश के विश्रृंखलित एवं अज्ञात कवियों के परिचय एवं सूची प्राप्त करने के लिए देश के विभिन्न स्थानों पर लेखकों के पास पाँच-सौ डाक पत्र दिए तथा देश की विभिन्न राष्ट्रीय, स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं में अपनी प्रार्थनाएँ छपवायी थीं। जिससे उन्हें सैकड़ों कवियों की सूचनाएँ मिली।"[31]

'मिश्रबन्धु विनोद' के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग का प्रकाशन सर्वप्रथम १९१३ ई. में हिन्दी ग्रंथ प्रसारक मंडली से हुआ था और इसके चतुर्थ भाग का प्रकाशन १९३४ में हुआ था। इस प्रकार चारों भागों में संग्रहीत कवियों का विवरण इस प्रकार है-

१.प्रथम भाग – १-२७७

२.द्वितीय भाग – २७८ से १३२१

३.तृतीय भाग – १३२२ से २५५६

४.चतुर्थ भाग – २५५७ से ४५९१.

वर्गों में विभाजित कवि-संख्या की परिगणना से कुल कवियों की संख्या ५००० से अधिक हो जाती है। यद्यपि लेखक शताधिक कवियों पर ही केन्द्रीत इतिहास लिखना चाहते थे। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विसंगति इसका काल-विभाजन है। वस्तुतः इस काल-विभाजन के ऊपर ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तीखा व्यंग्य था, "सारे रचनाकाल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर आदि खण्डों में आँख मूँदकर

---

[30].सरस्वती, १९०१, पृ.११

[31].हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास-डॉ.वासुदेव सिंह, पृ.११

बाँट देना, यह भी न देखना कि किस खण्ड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं - किसी वृत्त-संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।"[32]

मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन निम्नलिखित रूप से किया था-

नाम	समय	कितनी कविता मिलती है
पूर्वारंभिक काल	संवत् ७००-१३४३	बहुत कम
उत्तरारंभिक काल	संवत् १३४४-१४४४	थोड़ी
पूर्वमाध्यमिक काल	संवत् १४४५-१५६०	कुछ अधिक
प्रौढ़ माध्यमिक काल	संवत् १५६१-१६८०	अच्छी मात्रा में
पूर्वालंकृत काल	संवत् १६८१-१७९०	बहुत अच्छी मात्रा में
उत्तरालंकृत काल	संवत् १७९०-१८८९	वर्तमान मात्रा में
अज्ञात काल	---	साधारण
परिवर्तन काल	संवत् १८९०-१९२५	प्रचुरता में
वर्तमान काल	संवत् १९२६-अब तक	बहुत अधिक

इस प्रकार से काल-विभाजन करने के पश्चात् मिश्रबन्धओं ने अपने ग्रंथ का अध्यायानुसार वर्गीकरण निम्नवत् रूप में किया-

(अ) प्रथम भाग – (संवत् ७००-१६८०)

१.हिन्दी की उत्पत्ति और काव्य लक्षण

प्रारंभिक हिन्दी

पूर्वप्रारंभिक हिन्दी - संवत् ७००-१३४७ तक

१. चन्दपूर्व की हिन्दी - संवत् ७००-१२०० तक

२. रासो काल – संवत् १२०१-१३४७ तक

३.उत्तर आरंभिक काल – संवत् १३४८-१४४४ तक

माध्यमिक हिन्दी

५.पूर्व माध्यमिक हिन्दी - संवत् १४४५-१५६० तक

---

[32].हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.०१

प्रौढ़ माध्यमिक हिन्दी

६.अष्टछाप - संवत् १५६१-१६३० तक

७.सौर काल - संवत् १५६१-१६३० तक

८.गोस्वामी तुलसीदास और तुलसी की हिन्दी - संवत् १६३१-१६८० तक

९.पूर्व तुलसी काल - संवत् १६३१-१६४५ तक

१०.माध्यमिक तुलसी काल - संवत् १६४३-१६८० तक

(ब) द्वितीय भाग – (संवत् १६८१-१८८९ तक)

अलंकृत हिन्दी

पूर्वालंकृत प्रकरण (संवत् १६८१-१७९० तक)

११.पूर्वालंकृत हिन्दी

१२.महाकवि सेनापति

१३.सेनापति काल - संवत् १६८१-१७०६ तक

१४.बिहारी काल - संवत् १७०७-१७२० तक

१५.भूषण काल - संवत १७२१-१७५० तक

१६.आदिम देव काल - संवत् १७५१-१७७१ तक

१७.माध्यमिक देव काल - संवत् १७७२-१७९० तक

उत्तरालंकृत प्रकरण (संवत् १७९१-१८८९)

१८.उत्तरालंकृत हिन्दी

१९.दास काल - संवत् १७९१-१८१० तक

२०.सूदन काल - संवत् १८११-१८३८ तक

२१.रामचन्द्र काल - संवत् १८३९-१८५५ तक

२२.बेनी प्रवीण काल - संवत् १८५६-१८७५ तक

२३.पद्माकर काल - संवत् १८७६-१८८९ तक

(स) तृतीय भाग (संवत् १८९०-१९५५ तक)

२४.अज्ञात काल – अज्ञात रचाकाल के कारण इसमें प्राचीन कवियों का अकारादि क्रम से वर्णन है।

परिवर्तन प्रकरण (संवत् १८९०-१९२५ तक)

२५.परिवर्तन कालिक हिन्दी

२६.द्विज-देव काल - संवत् १८९०-१९१५ तक

२७.दयानन्द काल - संवत १९१६-१९२५ तक

वर्तमान प्रकरण (संवत् १९२६-१९४५ तक)

२८.वर्तमान हिन्दी एवं पत्र-पत्रिकाएँ - संवत् १९२६-१९४५ तक

२९.पूर्व हरिश्चन्द्र काल - संवत् १९२६-१९३५ तक

३०.उत्तर हरिश्चन्द्र काल - संवत् १९३६-१९४५ तक

(द) चतुर्थ भाग (संवत् १९४६-१९९० तक)

३१.पूर्व नूतन परिपाटी - संवत् १९४६-१९६० तक

३२.उत्तर नूतन परिपाटी - संवत् १९६१-१९९४ तक

३३.प्रथम भाग - संवत् १९६१-१९७५ तक

३४.द्वितीय भाग - संवत् १९७६-१९९० तक

इन अध्यायों, कालखण्डों और विभाजन को देखने से अभिज्ञात होता है कि मिश्रबन्धुओं का काल-विभाजन कोई साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में न होकर मात्र भाषागत है। इस सन्दर्भ में डॉ.सुमन राजे का कथन प्रासंगिक दिखाई देता है- "विनोद के विभाजन का आधार हिन्दी है, इसलिए उसे ही स्थान-स्थान पर दोहराया गया है। दूसरी बात है, विभाजन आधारों की विविधता। प्राथमिक विभाजन में आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर आदि काल के वाचक हैं। द्वितीय तक विभाजन मुख्य प्रवृत्ति से सम्बन्धित है, जैसे अलंकृत काल, परिवर्तन काल। तृतीय आधार विशिष्ट कवियों का है।"[33] साहित्येतिहास दर्शन के साथ काल-निर्धारण का एक निश्चित दृष्टिकोण होना चाहिए, जिसमें उचित इतिहास सम्बन्धी मान्यता, श्रेणी-विभाग और कालक्रम विधिवत् वर्णित होना चाहिए।

सम्पूर्ण इतिहास ग्रंथ में कुल पाँच हजार कवियों में से लगभग ढाई हज़ार से अधिक वर्तमान काल के रचनाकारों का नाम गिनाया गया है, परन्तु उनकी २५ कृतियों का परिपुष्ट मूल्यांकन नहीं किया गया, इससे लेखकों की आलोच्य क्षमता का अभाव दिखाई देता है। परन्तु आलोच्य दृष्टि की अपेक्षा

---

[33].साहित्येतिहास:संरचना और स्वरूप-डॉ.सुमन राजे, पृ.३०८

मिश्रबन्धुओं में ऐतिहासिक सामग्री संकलन करने की अद्वितीय क्षमता थी। आलोचना के विकास में मिश्रबन्धु एक सोपान हैं, जिसका मूल्यांकन किए बिना आलोचना का इतिहास अधूरा ही रहेगा। 'विनोद' में मिश्रबन्धुओं की समीक्षा गंभीर नहीं है, मात्र परिचयात्मक ही ठहरती है और कुछ कृतियों का मूल्यांकन प्रशंसापूर्ण किया गया है, जो उनकी रूचि का परिपोषण करती थी।

प्रथम भाग में मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी की उत्पत्ति की रूपरेखा लिखी है, जिसके विवेचन में ग्रियर्सन का इतिहास अभीष्ठ था। प्राचीन भारतीय भाषाओं से आधुनिक भाषाओं के विकास की लम्बी चर्चा की गई है।

ग्रंथ के चार खण्डों के सारांश रूप में मिश्रबन्धुओं ने १९३९ ई.में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी प्रकाशित कराया था। वस्तुतः यह ग्रंथ 'मिश्रबन्धु विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' का साररूप है। पूरा ढाँचा 'विनोद' जैसा है, केवल कलेवर लघु है। कुछ संशोधन-परिवर्धन तथ्यात्मक रूप में किए गए हैं। बावजूद इसके यह साहित्य का वास्तविक इतिहास बनने से चूक गया।

'मिश्रबन्धु विनोद' के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग का प्रकाशन सर्वप्रथम १९१३ ई. में और चतुर्थ भाग का प्रकाशन १९३४ में हुआ था। सामग्री के अभाव के कारण तासी एवं शिवसिंह सेंगर ने इतिहास लेखन में असफलता पायी थी, वह मिश्रबन्धुओं के सम्बन्ध में अब दूर हो चुकी थी। इन्होंने सविस्तर काल-विभाजन का प्रयास किया है, जो साहित्यिक प्रवृत्तियों की अपेक्षा भाषा के विकास पर अधिक निर्भर है। नामकरण में भी कई दोष हैं। भाषा के इतिहास को भी इतिहास का भी अंग बनाया गया है। इतिहास लेखन के लिए नागरी प्रचारिणी सभी की शोध-रिपोर्टों का आधार लेने के बावजूद कई असंगतियाँ देखने को मिलती हैं। जैसे सम्पूर्ण इतिहास ग्रंथ में कुल पाँच हजार कवियों में से लगभग ढाई हज़ार से अधिक वर्तमान काल के रचनाकारों का नाम गिनाया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें लेखकों की आलोच्य क्षमता का अभाव दिखाई देता है। परन्तु आलोच्य दृष्टि की अपेक्षा मिश्रबन्धुओं में ऐतिहासिक सामग्री संकलन करने की अद्वितीय क्षमता थी। भले ही यह मिश्रबन्धुओं का इतिहास लेखन आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन के शिखर को छू न सका हो, किन्तु शुक्लपूर्व लिखित इतिहास ग्रंथों में इसका महत्व निर्विवाद है।

२.२.५ ऐडविन ग्रिब्ज़ कृत 'अ स्के ऑफ हिन्दी लिटरेचर'

हिन्दी साहित्य का परिचय देनेवाला एक दीर्घ लेख के रूप में लिखित ऐडविन ग्रीब्ज़ का १९१८ ई. में 'अ स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर' प्रकाशित हुआ, जिसका हिन्दी अनुवाद डॉ.किशोरीलाल द्वारा 'हिन्दी साहित्य : एक रेखांकन' नाम से हिन्दुस्तानी अकाडेमी से १९९५ ई. में प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ उनके ३९ वर्षों के भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के गहन अध्ययन का परिणाम है। इसके कुल १०७ पृष्ठों में प्रस्तावना तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास की संक्षिप्त विवेचना की गई है। अन्त में ५ पृष्ठों में लेखकों की नामानुक्रमणिका है। इस पुस्तक के सन्दर्भ में डॉ.हरिमोहन मालवीय ने अपने प्रकाशकीय में लिखा है, "ग्रियर्सन के पश्चात् ग्रिब्ज़ का यह छोटा-सा इतिहास आंग्ल भाषा-भाषियों को हिन्दी साहित्य का ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से सन १९१८ ई.स्वी में प्रकाशित हुआ था।"[34]

प्रकाशकीय में 'हिन्दी का भविष्य' शीर्षक अध्याय में वर्णित राष्ट्रभाषा हिन्दी के स्वरूप की कल्पना और तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों के विवेचन की भी प्रशंसा है। इस पुस्तक में कुल आठ अध्याय हैं, -

१.हिन्दी भाषा : हिन्दी साहित्य – सामान्य विचार

२.आदिकाल – सन् १४०० तक

३.हिन्दी छन्दशास्त्र ---

४.रचनात्मक काल – सन १४००-१५८० तक

५.विस्तार काल – सन १५८०-१७०० तक

६.स्थिर काल – सन १७००-१८०० तक

७.पुनर्जागरण और परिवर्तन काल – सन १८००-वर्तमान काल तक

८.हिन्दी का भविष्य[35]

इस प्रकार के अर्थबोधक नामकरण में हिन्दी के ग्यारह सौ वर्षों का विवरण स्पष्ट देखने को मिलता है। ग्रिब्ज़ के इस विभाजन में साहित्य की रचनागत प्रवृत्तियों एवं युग-वैशिष्ट्यों का ही आधार दिखाई देता है। ग्रिब्ज़ ने अपने इतिहास के प्रथम अध्याय में सारगर्भित भाषा-शैली की पद्धति से हिन्दी भाषा और साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है। दूसरे अध्याय में आदिकाल और तीसरे अध्याय में

---

[34].हिन्दी साहित्य : एक रेखांकन-अनु.डॉ.किशोरीलाल, पृ.०२ (प्रकाशकीय)

[35].वही, विषयानुक्रमणिका

छन्दशास्त्र का विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति से किया गया है। यहाँ हिन्दी में छन्दशास्त्र की परम्परा को पहली बार दिखाया गया है, जो इतिहास लेखन को संस्कृत की रूपवादी आलोचना की ओर मोड़ने का प्रयास मात्र कहा जा सकता है। चौथे अध्याय की काल-सीमा भक्ति, रीति-युग का संधिकाल ज्ञात होता है, जिसमें भक्ति साहित्य का मूल्यांकन अत्यन्त प्रौढ़ है और भक्ति के श्रेष्ठ रचनाकारों के रचनात्मक विषयों को महत्व दिया गया है। रीतिकाल की काव्याधिकता एवं रूढ़ियों का स्वाभाविक विकास, अवरुद्ध धाराओं का विवेचन छठे अध्याय में किया गया है। सातवें अध्याय में आधुनिक काल की राष्ट्रीय चेतना एवं नवजागरण की विवेचना है, जिसे संभवतः पहली बार भारतीय नवजागरण का उल्लेख किसी हिन्दी साहित्येतिहास में देखने को मिलता है। आठवें अध्याय में हिन्दी भाषा और साहित्य के भविष्य के साथ उसकी विभिन्न समस्याएँ विवेचित करने का प्रयास किया गया है। अनुवादक ने पुस्तक की प्रशंसा में लिखा है, "वैज्ञानिक विधि से साहित्य की समस्त सामग्री को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, निश्चय ही उसमें उन्हें ग्रियर्सन से अधिक सफलता मिली है।"[36]

ग्रिब्ज़ को अधिक महत्व मिलने का कारण तासी और ग्रियर्सन की अपेक्षा इनकी सुस्पष्ट विवेचन एवं निरुपण पद्धति ही है। डॉ.श्यामसुन्दर दास ने इतिहास का वैज्ञानिक आधार ग्रिब्ज से ही ग्रहण किया तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास की आलोचना दृष्टि के सम्बन्ध में भाषा और साहित्य के इतिहास की प्रेरणा ग्रिब्ज़ से ही ली है। इतना होते हुए भी मूल्यांकन की विशिष्ट पद्धति का विकास उनके यहाँ देखने को नहीं मिलता है। साहित्येतिहास और आलोचना के सम्बन्धों का प्रौढ़ विकास उनके यहाँ भी उस रूप में देखने को नहीं मिलता है, जैसा आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के यहाँ होता है।

२.२.६ फ्रैंक ई.के. कृत 'अ हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दी लिटरेचर'

१९२० ई. में प्रकाशित इस ग्रंथ के लेखक फ्रैंक ई.के. हैं, जिसका अनुवाद १९९८ में डॉ.सदानन्द शाही ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नाम से किया है। इन्होंने अपनी पुस्तक की भूमिका अगस्त १९२० (जबलपुर) में लिखी थी - "इस पुस्तक में बड़ी सावधानी से हरिश्चंन्द्र तक के ऐतिहासिक आन्दोलन की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, पर बहुत हाल के साहित्य की विस्तृत चर्चा का कोई प्रयास नहीं किया गया।"[37] फ्रैंक ने लगभग १०० पृष्ठों की पुस्तक लिखी जिसमें वे अपने पूर्ववर्ती पुस्तकों के ऋणी हैं। फ्रैंक

---

[36].वही, अनुवाद के दो शब्द, पृ.०६

[37].हिन्दी साहित्य का इतिहास, (अनुवाद)-डॉ.सदानन्द साही, भूमिका

साहब ने प्रथम अध्याय 'हिन्दी और उसकी पड़ोसी भाषाएँ' के अन्तर्गत – भारतीय आर्य भाषाओं की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है। इन्होंने अपने इतिहास में हिन्दी का प्रारंभिक कवि चन्दबरदायी को मानते हुए, भारतेन्दु हरिश्चंद्र तक हिन्दी साहित्य के इतिहास को प्रस्तुत किया है। फ्रैंक ने 'पृथ्वीराज रासो' को लोकगाथा और गल्प का मिश्रण कहा तो 'पद्मावत' को चारणों की कविता का दूसरा रूप मानते हुए धार्मिक पुनरुत्थान बताया। उन्होंने आरंभिक भक्त कवियों में भक्ति आन्दोलन का विकास ब्राह्मण धर्म दर्शन की भाव-शून्य बौद्धिकता तथा निर्जीव बाह्याडंबरों के विरुद्ध विरोध बताया है तथा राम, कृष्ण और कबीर को तीन सम्प्रदायों में विभाजित किया है। मुगल दरबार और हिन्दी साहित्य में कलात्मक प्रभाव (१५५०-१८०० ई.) के अन्तर्गत जन्मे रीतिकालीन साहित्य के प्रवर्तक 'हिततरंगिनी' के लेखक कृपाराम को प्रथम काव्यशास्त्री घोषित किया है। साथ ही उन्होंने आधुनिक साहित्य का जन्म पाश्चात्य सांस्कृतिक प्रभाव की उपज बताई है।

अन्तिम अध्याय – 'हिन्दी साहित्य की वर्तमान स्थिति और संभावनाएँ हैं, जिसमें हिन्दी भाषा और साहित्य की निरन्तर बनी समस्याओं, हिन्दी शिक्षा, संस्थान, प्रयोग, संभाषण के साथ उसकी अनेक दर्दशाओं पर अपनी चिन्ताएँ भी व्यक्त की हैं। उन्होंने इन बातों की ओर संकेत करते हुए लिखा, "भारतीय लोग इस बात से काफी अनभिग्य हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रता, सामाजिक उत्थान और धार्मिक सुधार के कितने नए आन्दोलनों को वस्तुतः ईसाई आदर्शों से प्रेरणा मिली है। ...बहुत सीमा तक इनके लिए क्राइस्ट के जीवन और उनकी शिक्षाओं से प्रेरणा मिली है। भारतीय जीवन में जो कुछ उत्कृष्ट है, अनेक दृष्टियों से क्राइस्ट में उन सबकी परिपूर्णता है।"[38]

ऐसा लगता है इस अन्तिम वाक्य को प्रतिपादित करने के लिए उन्होंने सारी पुस्तक लिखी हो। धर्म की महत्ता को सिद्ध करने एवं उसकी सर्वोच्चता सिद्ध करने के प्रयास में उन्होंने अपना सारे वैदुष्य पर पानी फेर दिया। अनुवादक डॉ.सदानन्द शाही ने फ्रैंक के इतिहास के विषय में लिखा है, "'की' के इस इतिहास के लगभग १९ वर्षों बाद १९२९ ई.में 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका के रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक ने न केवल हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के पिछले सभी प्रयत्नों को पीछे छोड़ दिया बल्कि आगे के साहित्येतिहास लेखकों के लिए चुनौती भी पेश की। यद्यपि आचार्य शुक्ल के इतिहास की बहुत सी मान्यताएँ आज नकार दी गई

---

[38].वही, पृ.११०

हैं, फिर भी आगे इतिहास लेखन को प्रभावित कर रही हैं।"[39]

फ्रैंक ई.के. के साहित्येतिहास ग्रंथ 'अ हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर' में हिन्दी साहित्येतिहास की परम्परा का मूल्यांकन भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में किया तथा भौगोलिक एवं भाषिक दृष्टि को केन्द्रित करके साहित्येतिहास का काल-विभाजन भी प्रस्तुत किया गया है। इन्होंने चन्दबरदायी को हिन्दी का प्रथम कवि माना और भारतेन्दु तक के साहित्येतिहास को प्रस्तुत किया। इनकी मौलिकता का प्रभाव आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर भी स्पष्ट दिखाई देता है। जैसे इन्होंने हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल को राम, कृष्ण तथा निर्गुण धाराओं में विभाजित किया था। यह ग्रंथ भी तासी की भाँति पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं है, यथा भारत में आधुनिक साहित्य का आरंभ इन्होंने इसाई धर्म के प्रभाव से माना था।

२.२.७ पण्डित बदरीनाथ भट्ट कृत 'हिन्दी'

पंडित बदरीनाथ भट्ट ने १९२२ ई.में 'हिन्दी' नामक पुस्तक की रचना की जिसका प्रकाशन १९२५ ई. में 'गंगा पुस्तकमाला' कार्यालय लखनऊ से हुआ। कुल ९६ पृष्ठों की इस पुस्तक को दो भागों में बाँटा गया है-१.हिन्दी की उत्पत्ति और २.हिन्दी साहित्य का विकास

भट्ट जी ने इस पुस्तक के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट कहा है कि उनका उद्देश्य हिन्दी साहित्य एवं भाषा के विकास को संक्षिप्त में प्रस्तुत करना था। उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की रिपोर्टों, मिश्रबन्धु विनोद, शिवसिंह सरोज तथा उस समय तक उपलब्ध तमाम पुस्तकों का सहारा लिया था।[40] पहले भाग में हिन्दी भाषा की उत्पत्ति पर सविस्तार चर्चा नयी दृष्टि के साथ करने का प्रयास भट्ट जी ने किया है। डॉ.ग्रियर्सन से अपना मतवैभिन्य स्पष्ट करते हुए इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है, "डॉ.ग्रियर्सन की राय में शौरसेनी तथा अर्धमागधी के मेल से ही वर्तमान हिन्दी की उत्पत्ति हुई है, उनकी यह सम्मति और भी कितने विद्वान लेखकों ने मान ली है, हमारा विश्वास है कि वर्तमान हिन्दी पर पंजाबी का-सा प्रभाव पड़ा है। इस विश्वास की पुष्टि में अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं। संस्कृत की 'यास्यति' क्रिया का प्राकृत रूप 'जाएज्जा' है। पंजाबी में इसका अपभ्रंश 'जाएगा' अथवा 'जाएगा' है जो कि आजकल बोलचाल की हिन्दी में आता है। शौरसैनी से विकसित ब्रजभाषा में 'जाएगौ' कहेंगे और अर्धमागधी के विकसित रूप में 'जैहें' अथवा 'जइहें' । आगरे की बोलचाल की भाषा पर

---

[39].वही, पृ.२१

[40].हिन्दी-(भूमिका)-पंडित बदरीनाथ भट्ट, पृ.०२

ध्यान देने से भी खड़ी बोली की उत्पत्ति शौरसेनी+अर्धमागधी तथा पैशाची+पंजाबी के गड़बड़ अपभ्रंश से सिद्ध हो जाती है।"[41]

हिन्दी भाषा की ही भाँति इतिहासकार ने हिन्दी साहित्य के उत्थान के कारणों को भी जानकर उसके सूत्र खोजने का प्रयास किया है। भाषा की ही भाँति तत्कालीन प्रचलित मतों से भिन्न उन्होंने अपना मत प्रस्तुत करने का प्रयास किया और हिन्दी साहित्य का आरंभ चारण कवियों से न मानकर इनके पहले की मिश्रित भाषा (अपभ्रंश भाषा) का संकेत किया है- "हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति की खोज करने के लिए जब हम अपनी दृष्टि बहुत दूर तक फेंकते हैं तब हमें दिखाई देता है कि उत्तर-अपभ्रंश अपना रूप बदल रही है और उसके साथ पुरानी हिन्दी का साहित्य तैयार हो रहा है।"[42] इसी क्रम में उन्होंने अपभ्रंश को मिश्रित हिन्दी कहा किन्तु चन्दबरदायी को इस भाषा का पहला कवि मानने से इन्कार कर दिया है। उसी प्रकार उन्होंने खुसरो को भी उन्होंने खड़ी बोली का प्रथम कवि होने से अस्विकार कर दिया है।

साहित्य विभाग नामक दूसरे विभाग में उन्होंने हिन्दी साहित्य के एक हज़ार वर्षों का इतिहास अति-संक्षिप्त में प्रस्तुत करते हुए इस पर मात्र ४६ पृष्ठ खर्च किए हैं। इससे जाना जा सकता है कि इतने कम स्थान में भी भट्ट जी ने अपनी मौलिक मान्यताएँ देने का प्रयास किया है। इतने संक्षिप्त में प्रस्तुत करने की चाह में उन्होंने इतिहास का न तो कालों में विभाजन किया है और न प्रवृत्तियों के विकास-क्रम पर ही ध्यान दिया है। इनता तो स्पष्ट है कि उनकी साहित्य और समाज के सम्बन्धों के प्रति दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट थी। इसे उनकी रीतिकालीन कविता पर की गई टिप्पणी से जाना जा सकता है। रीतिकालीन श्रृंगारिकता को स्पष्ट करते हुए लेखक ने लिखा है, "जिस ढंग की कविता करने पर उस समय के बहुत से कवि पिल पड़े थे, उससे पराधीन और विलासी राजाओं की विलासप्रियता बढ़ाने और जनसाधारण के हृदय के कलुषित होने के अतिरिक्त जाति या देश को कुछ भी लाभ न पहुँचा। रचनाचातुर्य या शैली की दृष्टि से भूषण की कविता साधारण है, उनमें बहुत से अनूठे भाव भी नहीं दिखते, परन्तु स्वराज्य प्राप्त करने की चेष्टा में लगी हुई हिन्दू जाति को उठाने के लिए जो काम भूषण की कविता ने किया, क्या वह काम इन सारे श्रृंगारवादी कवियों की कविताएँ भी मिलकर नहीं कर सकतीं।"[43] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में भट्ट जी राष्ट्रवादी धारा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, जो एक प्रकार से विदेशी इतिहासकारों द्वारा लिखित इतिहासों का प्रतिरोध ही माना जा सकता है। उन्होंने तत्कालीन वर्तमान

---

[41].वही, पृ.१४-१५

[42].वही, पृ.४७

[43].वही, पृ.८५

स्थितियों को दृष्टि में रखकर अपने साहित्येतिहास को लिखने का प्रयास किया, जिसका आगे चलकर प्रभाव अथवा जिसकी दृष्टि-साम्यता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में देखने को मिलती है। आचार्य शुक्ल भी यों ही नहीं छायावाद का विरोध करते हैं, कबीर का विरोध यों ही नहीं करते हैं अथवा भक्तिकालीन नीति-मूल्य चेतना का इतने बड़े स्तर पर समर्थन यों ही नहीं करते हैं। इन सबके पीछे मूल्य चेतना एवं राष्ट्रवादी भावना को कार्य करते देखा जा सकता है।

पंडित बदरीनारायण भट्ट ने भाषा के सन्दर्भ में ग्रियर्सन की कई मान्यताओं को चुनौती दी है। इसी प्रकार अपभ्रंश को मिश्रित भाषा कहते हुए, हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग माना गया है, किन्तु चन्दबरदायी को इसका पहला कवि मानने से इन्कार कर दिया। उसी प्रका खुसरो को भी खड़ी बोली का पहला कवि कहा जाना इन्हें मान्य नहीं है। इनका इतिहास अति-संक्षेप में हिन्दी साहित्य के एक हज़ार वर्षों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है, जिसके भीतर इन्होंने कई मौलिक स्थापनाएँ करने का प्रयास किया है। इस क्रम में उन्होंने तिहास का न तो कालों में विभाजन किया है और न प्रवृत्तियों के विकास-क्रम पर ही ध्यान दिया है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में भट्ट जी राष्ट्रवादी धारा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, जो एक प्रकार से विदेशी इतिहासकारों द्वारा लिखित इतिहासों का प्रतिरोध ही माना जा सकता है। उन्होंने तत्कालीन वर्तमान स्थितियों को दृष्टि में रखकर अपने साहित्येतिहास को लिखने का प्रयास किया, जिसका आगे चलकर प्रभाव अथवा जिसकी दृष्टि-साम्यता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में देखने को मिलती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पूर्व लिखित इतिहास ग्रंथों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् **सारांश** रूप में कहा जा सकता है कि शुक्लपूर्व अधिकांश इतिहासकारों के ग्रंथ इतिहास लेखन के प्रयास मात्र कहे जा सकते हैं। तासी हिन्दी साहित्य के लिए ऐसे प्रथम पाश्चात्य विद्वान हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य और भाषा को अपने तीन भागों में प्रकाशित 'इस्त्वार द-ला-लितरेत्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी' के माध्यम से वैज्ञानिकता प्रदान की है। उन्होंने अपने इतिहास ग्रंथ में अल्पांश ही सही, लगभग सभी भारतीय भाषाओं के कवियों का उल्लेख किया है। तासी ने अपने इतिहास ग्रंथ की भूमिका से भारतीय इतिहास लेखन का मार्ग प्रशस्त करके साहित्येतिहास लेखन को दिशा दिखाने का प्रयास किया।

करीमुद्दीन द्वारा सन् १८४८ ई. में लिखित 'तबकातुश्शुअरा' इतिहास लेखन में महत्त्वपूर्ण है, चाहे वह उर्दू का इतिहास हो या हिन्दी का, परन्तु दोनों दृष्टियों से इतिहास की परिसीमा में यह समा नहीं पाता है। हिन्दी के लिए यह दोनों नितान्त रूप से इतिहास नहीं माने जा सकते हैं। तासी से करीमुद्दीन में विशेष

अन्तर इतना है कि तासी ने अकारादि क्रम से लिखा तो करीमुद्दीन ने कालक्रमानुसार चलने का प्रयास किया, जो इतिहास लेखन की दिशा में एक सार्थक प्रयास कहा जा सकता है।

कविवृत्त संग्रहों में ठाकुर शिवसिंह सेंगर द्वारा लिखित 'शिवसिंह सरोज' का सर्वोपरि स्थान है। यदि तासी ने हिन्दी साहित्य को विदेशी आँख से देखा तो शिवसिंह ने अति-भारतीय दृष्टि से। साहित्येतिहास की दृष्टि से तथ्य की प्रामाणिकता एवं प्रामाणिक सूचनाओं से दोनों ही वंचित हैं। फिर भी शिवसिंह सरोज में जैसे - भाषा काव्य संग्रह और कवित्तरत्नाकर का प्रभाव अधिक पड़ा है, ठीक ऐसे ही 'शिवसिंह सरोज' का प्रभाव परवर्ती इतिहासकारों के साथ डॉ.ग्रियर्सन और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर अधिक दिखाई देता है।

'मिश्रबन्धु विनोद' के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग का प्रकाशन सर्वप्रथम १९१३ ई. में और चतुर्थ भाग का प्रकाशन १९३४ में हुआ था। सामग्री के अभाव के कारण तासी एवं शिवसिंह सेंगर ने इतिहास लेखन में असफलता पायी थी, वह मिश्रबन्धुओं के सम्बन्ध में अब दूर हो चुकी थी। इन्होंने सविस्तर काल-विभाजन का प्रयास किया है, जो साहित्यिक प्रवृत्तियों की अपेक्षा भाषा के विकास पर अधिक निर्भर है। नामकरण में भी कई दोष हैं। भाषा के इतिहास को भी इतिहास का अंग बनाया गया है। इतिहास लेखन के लिए नागरी प्रचारिणी सभा की शोध-रिपोर्टों का आधार लेने के बावजूद कई असंगतियाँ देखने को मिलती हैं। जैसे सम्पूर्ण इतिहास ग्रंथ में कुल पाँच हजार कवियों में से लगभग ढाई हज़ार से अधिक वर्तमान काल के रचनाकारों का नाम गिनाया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें लेखकों की आलोच्य क्षमता का अभाव दिखाई देता है। परन्तु आलोच्य दृष्टि की अपेक्षा मिश्रबन्धुओं में ऐतिहासिक सामग्री संकलन करने की अद्वितीय क्षमता थी। भले ही यह मिश्रबन्धुओं का इतिहास लेखन आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन के शिखर को छू न सका हो, किन्तु शुक्लपूर्व लिखित इतिहास ग्रंथों में इसका महत्व निर्विवाद है।

ऐडविन ग्रीब्ज़ द्वारा १९१८ ई. में लिखित 'अ स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर' एक दीर्घ लेख है। ग्रिब्ज़ को अधिक महत्व मिलने का कारण तासी और ग्रियर्सन की अपेक्षा इनकी सुस्पष्ट विवेचन एवं निरुपण पद्धति ही है। डॉ.श्यामसुन्दर दास ने इतिहास का वैज्ञानिक आधार ग्रिब्ज से ही ग्रहण किया तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास की आलोचना दृष्टि के सम्बन्ध में भाषा और साहित्य के इतिहास की प्रेरणा ग्रिब्ज़ से ही ली है। इतना होते हुए भी मूल्यांकन की विशिष्ट पद्धति का विकास उनके यहाँ देखने को नहीं मिलता है। साहित्येतिहास और आलोचना के सम्बन्धों का प्रौढ़ विकास उनके यहाँ भी उस रूप में देखने को नहीं मिलता है, जैसा आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के यहाँ होता है।

१९२० ई. में प्रकाशित फ्रैंक ई.के. के साहित्येतिहास ग्रंथ 'अ हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर' में हिन्दी साहित्येतिहास की परम्परा का मूल्यांकन भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में किया तथा भौगोलिक एवं भाषिक दृष्टि को केन्द्रित करके साहित्येतिहास का काल-विभाजन भी प्रस्तुत किया गया है। इन्होंने चन्दबरदायी को हिन्दी का प्रथम कवि माना और भारतेन्दु तक के साहित्येतिहास को प्रस्तुत किया। इनकी मौलिकता का प्रभाव आाचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर भी स्पष्ट दिखाई देता है। जैसे इन्होंने हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल को राम, कृष्ण तथा निर्गुण धाराओं में विभाजित किया था। यह ग्रंथ भी तासी की भाँति पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं है, यथा भारत में आधुनिक साहित्य का आरंभ इन्होंने इसाई धर्म के प्रभाव से माना था।

सन् १९२२ ई.में प्रकाशित 'हिन्दी' शीर्षक पुस्तक को पंडित बदरीनाथ भट्ट ने हिन्दी भाषा का विकास और हिन्दी साहित्य का विकास दो खण्डों में प्रस्तुत किया। उन्होंने स्वीकार किया है कि पूर्ववर्ती कई इतिहास ग्रंथों का उपयोग अपनी पुस्तक लेखन के लिए किया था। भाषा के सन्दर्भ में उन्होंने ग्रियर्सन की कई मान्यताओं को चुनौती दी है। इसी प्रकार अपभ्रंश को मिश्रित भाषा कहते हुए, हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग माना है, किन्तु चन्दबरदायी को इसका पहला कवि मानने से इनकार कर दिया। उसी प्रकार खुसरो को भी खड़ी बोली का पहला कवि कहा जाना इन्हें मान्य नहीं है। इनका इतिहास अति-संक्षेप में हिन्दी साहित्य के एक हज़ार वर्षों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है, जिसके भीतर इन्होंने कई मौलिक स्थापनाएँ करने का प्रयास किया है। इस क्रम में उन्होंने इतिहास का न तो कालों में विभाजन किया है और न प्रवृत्तियों के विकास-क्रम पर ही ध्यान दिया है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में भट्ट जी राष्ट्रवादी धारा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, जो एक प्रकार से विदेशी इतिहासकारों द्वारा लिखित इतिहासों का प्रतिरोध ही माना जा सकता है। उन्होंने तत्कालीन वर्तमान स्थितियों को दृष्टि में रखकर अपने साहित्येतिहास को लिखने का प्रयास किया, जिसका आगे चलकर प्रभाव अथवा जिसकी दृष्टि-साम्यता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में देखने को मिलती है।

तृतीय अध्याय

आचार्य शुक्ल और तद्युगीन साहित्येतिहास लेखन

(सन् १९२०-१९४० ई.)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का प्रथम संस्करण सन् १९२९ ई. में प्रकाशित हुआ, किन्तु इसकी रचना-प्रक्रिया १९२० ई. के आस-पास आरंभ होती है और उसे पूर्णत्व १९४० में दूसरे संस्करण के साथ प्राप्त होता है। इस बीच आचार्य शुक्ल 'गोस्वामी तुलसीदास' (१९२५ ई.), 'भ्रमरगीतसार' (१९२४ ई.) और 'जायसी ग्रंथावली की भूमिका' (१९२६ ई.) इत्यादि ग्रंथों के माध्यम से मानों साहित्येतिहास की भूमिका बाँध रहे थे। इसके अतिरिक्त इसी युग में श्यामसुन्दर दास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (१९३० ई.), डॉ.रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३१ ई.), डॉ.सूर्यकान्त शास्त्री का 'हिन्दी साहित्य का विवेचननात्मक इतिहास' (१९३१ ई.), पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'हिन्दा भाषा और साहित्य का विकास' (१९३४) तथा रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (१९३८ ई.) आदि ग्रंथ भी प्रकाशित हुए। अतः इन ग्रंथों का भी अध्ययन इसी बिन्दु के अनन्तर अपेक्षित है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दृष्टि से यह सर्वोत्कृष्ट काल कहा जा सकता है, क्योंकि इतिहास-बोध एवं आलोचनात्मक विवेक का योग्य समाहार इस युग के इतिहासों में देखा जा सकता है। अभी तक चली आ रही साहित्येतिहास लेखन की परम्परा का निचोड़ इन बीस वर्षों के साहित्येतिहास लेखन में देखने को मिलता है, जिसमें निःसंदेह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास का अवदान सर्वोपरि है। अतः सर्वप्रथम युगानुरूप क्रमशः हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास का सविस्तार परिचय देना अनिवार्य समझते हैं।

३.१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में सर्वाधिक प्रौढ़ मानेजानेवाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत इतिहास ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का प्रकाशन भले ही सन् १९२९ ई. में हुआ हो, किन्तु इसकी रचना-प्रक्रिया इसके बहुत पिछे १९२० से चली आ रही थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातक-परास्नातक की कक्षाओं को पढ़ाने के लिए १९२१ ई. में उन्होंने नोट तैयार करना आरंभ किया था। उन्हीं के शब्दों

में, "छात्रों के उपयोग के लिए कुछ संक्षिप्त नोट तैयार किए थे, जिनमें परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जन-समूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य का इतिहास के कालविभाजन और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरुपण का एक ढाँचा खड़ा किया गया था।"[44] इसके परिप्रेक्ष्य में ही रचना प्रक्रिया अविरल प्रवाहित रही-गोस्वामी तुलसीदास (१९२३ ई.), भ्रमरगीत सार (१९२४ई.), जायसी ग्रंथावली की भूमिका (१९२५ ई.) वस्तुतः सम्पूर्ण पूर्वमध्यकाल की पृष्ठभूमि इन्हीं तीन स्तंभों में समाहित है। वैसे तो नागरी प्रचारिणी पत्रिका के १९२८ ई. के वर्षांक में इतिहास का पूर्वांश 'हिन्दी साहित्य का वीरगाथा' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था, जिसके लेखक द्वय – बाबू श्यामसुन्दर दास और पण्डित रामचन्द्र शुक्ल थे। किन्तु इसी पत्रिका के अग्रीम दो अंशों में 'हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्यकाल' के अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी शाखा का अध्ययन प्रथम लेख में किया गया और दूसरे लेख में तुलसीदास एवं सूरदास आदि रामाश्रयी एवं कृष्णाश्रयी शाखाओं का वर्णन हुआ है।

इस हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का दोबारा प्रयास जनवरी १९२९ में हुआ जो 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका में 'हिन्दी साहित्य का विकास' शीर्षक से पृष्ठ ५७-२६४ तक विवेचित है। कालान्तर में यही 'हिन्दी साहित्य का विकास' परिवर्द्धित होकर पाँच महीनों बाद जुलाई १९२९ ई. में पुस्तकाकार रूप में ७०० पृष्ठों में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नाम से स्वतंत्र रूप में प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशनोपरान्त १९४० ई. में संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण भी प्रकाशित हुए। पुनः १९४२ ई. में वर्तमान दूसरे संस्करण का संशोधित रूप विद्यमान है, जिसे कुछ परिवर्तनों के साथ प्रकाशित किया गया है।

सूक्ष रूप में देखा जाए तो इतिहास-दृष्टि का विकास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'नोट' वाले उद्धरण में ही देखने को मिलती है। उन्होंने वहीं पर परिस्थितियों, काल-विभाग एवं युगानुरूप प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। जब उन्होंने हिन्दी साहित्य का इतिहास ग्रंथ रूप में प्रकाशित करवाया, तब उनकी दृष्टि में साहित्येतिहास की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य

---

[44].हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वक्तव्य, पृ.०१

का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारणस्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन ही साथ-ही-साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने से यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किस विशेष समय में लोगों की रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ।"[45] इस सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि एवं उनकी भाषा शैली की विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है, "यहाँ साहित्य की परिवर्तन प्रक्रिया के सन्दर्भ में सयुक्त क्रिया 'होता चला जाता है' का प्रयोग बड़ा सटीक बन पड़ा है। आचार्य शुक्ल की आलोचना और इतिहास भाषा में वैसी ही सतर्कता दिखती है, जैसी कि रचनाकारों की काव्य-भाषा में। आज जबकि साहित्येतिहास दर्शन हिन्दी के आलोचकों और तथाकथित इतिहासकारों के बीच उत्तरोत्तर लोकप्रिय विषय होता जा रहा है और इतिहास लेखन उतना ही दुःसाध्य तब यह देखकर बड़ा सुखद अचरज होता है कि रामचन्द्र शुक्ल का साहित्येतिहास दर्शन कुल इस एक वाक्य में समा गया है, जिसका पूरा निर्वाह उनके विषद इतिहास ग्रंथ में हुआ है।"[46]

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आचार्य शुक्ल ने युगीन परिस्थितियों को एक अनिवार्य विवेचन बिन्दु के रूप में अपने इतिहास में विवेचित किया है। युगीन परिस्थितियों एवं पाठकों की साहित्याभिरूचि के बीच उनके यहाँ बड़ा ही मनोमय संगम देखने को मिलता है, जो उन्हें 'लोक' की अपेक्षा 'जन' एवं जनता का साहित्य कहने पर विवश करता है। संभवतः इन्हीं कारणों से आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि को विधेयवादी इतिहास-दृष्टि से परिचालित कहा गया। आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि को विधेयवादी इतिहास दृष्टि कहने का दूसरा कारण वास्तव में उनके साहित्येतिहास की विशेषता कही जानी चाहिए।उन्होंने जो तिथियों एवं घटनाओं का पूर्वापार सम्बन्ध खोजने अथवा स्थापित करने का प्रयास किया, वह इससे पूर्व के किसी भी हिन्दी साहित्येतिहास ग्रंथ में देखने को नहीं मिलता। आचार्य शुक्ल ने किसी भी रचनाकार, रचना एवं रचनाकाल को तब स्वीकार नहीं किया, जब तक कि उनकी पूर्णतः जाँच न कर ली। इसके बाद उन्होंने उन तथ्यों अथवा सामाजिक घटनाओं को साहित्य की तत्कालीन प्रचलित पद्धतियों से मिलान करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उन्होंने सामाजिक घटनाओं और साहित्य की प्रवृत्तियों में कार्य-कारण सम्बन्धा स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया, जिसमें उन्हें काफी पापड़ बेलने

---

[45]हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.०१

[46].हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.३१

पड़े। इस प्रकार विधेयवाद उनके इतिहास की कमज़ोरी न होकर, उनके साहित्येतिहास को अपने पूर्ववर्ती इतिहासों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक इतिहास बनाने के लिए सहायक बनी।

वास्तव में हिन्दी में विधेयवाद को समझने में जो आरंभिक भूले हुई हैं, उसी कारण आचार्य शुक्ल के इतिहास के सन्दर्भ में विधेयवाद को घृणास्पद धारणा के रूप में प्रयोग में लाया गया। विधेयवाद को स्पष्ट करते हुए आचार्य नलीन विलोचन शर्मा ने लिखा है, "वस्तुनिष्ठता, निर्वैयक्तिकता और निश्चयात्मकता - जैसे सामान्य वैज्ञानिक आदर्शों के अनुकरण का प्रयास। इसके साथ ही कार्य-कारण सम्बन्ध और उद्गम के अध्ययन के द्वारा भौतिक विज्ञान के प्रणालियों के अनुकरण की चेष्टा भी थी, जो किसी भी पारस्पारिक सम्बन्ध के निर्देश को युक्ति संगत ठहराती थी, बशर्ते कि वह तिथिक्रम के आधार पर हो। अधिक संकिर्णता से व्यवहृत होने पर वैज्ञानिक कार्य-कारण पद्धति आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के कारण निर्धारित कर किसी साहित्यिक विशेषता की व्याख्या करती है।"[47] इस रूप में देखा जाए तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास विधेयवाद को अत्यन्त विशाल रूप में ग्रहण करता हुआ देखा जा सकता है। उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों को युग-विशेष के आलोक में देखकर साहित्यिक प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, जो युग-विशेष की सामान्य प्रवृत्ति का जोर उन्हें दिखाई दिया, उसके अनुसार उन्होंने नामकरण एवं काल-विभाजन की विधि अपनायी है। इस क्रम में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों की पद्धतियों को पूर्णतः तो नहीं, किन्तु अधिकांश रूप में नकार दिया है। वस्तुनिष्ठता एवं निर्वैयक्तिकता तो साहित्य का गुण है, वह साहित्येतिहास में अनिवार्यतः होना चाहिए। इन स्थितियों में विधेयवाद को पूर्णतः नकारात्मक दृष्टि से देखना सही नहीं होगा। इस सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "विधेयवादी सामाजिक भूमि पर जोर देते हैं। वे साहित्य की उपपत्ति के सामाजिक स्रोत, रचनाकारों की जीवन, कई बार उनके मनोविज्ञान, उन्हें प्रभावित करने वाली अन्य बातों आदि को खोजते हैं। साहित्य और समाज के बीच वे कार्य-कारण सम्बन्ध भी देखते हैं, लेकिन सामाजिक विकास प्रक्रिया में साहित्य की क्या भूमिका होती है या कभी-कभी जो उसकी क्रान्तिकारी भूमिका होती है, उस पर वे ध्यान नहीं देते हैं। शुक्ल जी के इतिहास के बारे में मैं कहूँ कि वे भूमि की खोज में कई जगह असंगति के शिकार होते भी हैं तो भूमिका की पहचान में वे कहीं भी गलती नहीं करते।"[48]

---

[47].साहित्य का इतिहास दर्शन-आचार्य नलीन विलोचन शर्मा, पृ.५३

[48].आचार्य शुक्ल की साहित्येतिहास दृष्टि-मैनेजेर पाण्डेय, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-सम्पा.खगेन्द्र ठाकुर, पृ.६१

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के मर्म को समझते थे, इसलिए नामकरण एवं काल विभाजन करते समय उन्होंने प्रवृत्तियों पर जोर देते हुए भी युग-विशेष में व्यक्ति विशेष के अवदान को कम करके नहीं आँका। उन्होंने प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में स्पष्ट संकेत करते हुए लिखा है कि, "यद्यपि इन कालों की रनचाओं को विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही उनका नामकरण किया गया है, पर यह न समझना चाहिए कि किसी विशेष काल में और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थी।"[49] अर्थात् साहित्य एवं उनके भावधारा के विकास के साथ उसके ठहरावों पर भी उन्होंने बराबर ध्यान केन्द्रीत किया था। केवल साहित्य और संवेदनाओं के विकास को प्रस्तुत करने की हडबड़ी में उन्होंने हिन्दी साहित्य की स्थिर प्रवृत्तियों के नज़र अन्दाज़ नहीं किया।

शुक्ल जी द्वारा किया गया काल-विभाजन एवं नामकरण अधिक तर्कसंगतता लिए हुए इसलिए है कि उन्होंने प्रत्येक के पीछे के कारणों को क्रमबद्ध रूप से गिनाया है और इसके लिए उन्होंने अपने प्रतिमानों को स्थापित करने के लिए साहित्य, समाज एवं हिन्दी भाषा के विकास को भी ध्यान में रखा है। आज उनके द्वारा प्रस्तुत आदिकाल का नामकरण – 'वीरगाथा काल' को उनके ही आधारों पर आज भले ही तर्कसंगत नहीं माना जा रहा हो, किन्तु इस सन्दर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे साहित्यतिहासकारों को आज भी संतुष्ठ करने की क्षमता है। इस नामकरण के सन्दर्भ में उन्होंने सविस्तार स्पष्टीकरण देते हुए लिखा है, "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल को वीरगाथा काल नाम बहुत समझ बूझकर दिया है उनकी दृष्टि में इस काल का केन्द्रीय साहित्य रासो काव्य है, न कि सिद्ध-नाथों की बाणियाँ। ये बाणियाँ धर्म और कर्मकाण्ड के प्रभाव में अधिक हैं, साहित्य का ऐहिक रूप वहाँ कम ही है। ....फिर आचार्य शुक्ल के नामकरण में 'वीर' शब्द ही नहीं 'गाथा' का भी विशिष्ट अर्थ है। गाथा के साथ शौर्य और 'शिवैलरी' के तत्व जुड़े हुए हैं, जहाँ वीर का प्रत्येक भाव अनिवार्य रूप से श्रृंगार है।"[50]

इसी प्रकार आचार्य शुक्ल द्वारा किये गये काल-विभाजन को आज तक तो यथावत् स्विकार किया जाता रहा है, एकाध-दो वर्षों के हेर-फेर के साथ। उनके द्वारा किया गया कालविभाजन प्रवृत्तिमूलक होने के कारण उसमें तार्किकता देखने को मिलती है। यह विभाजन साहित्य के साथ समाज एवं भाषा के विकास को भी ध्यान में रखकर किया गया है। जैसे आदिकालीन साहित्य के आरंभ में उन्होंने अपभ्रंश के विकास एवं उससे हिन्दी साहित्य के आरंभ के विकास को भी रेखांकित करने का प्रयास किया। यहाँ

---

[49].हिन्दी साहित्य का इतिहास-वक्तव्य-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.०१

[50].हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.२१

उनकी दृष्टि केवल साहित्य पर ही नहीं टिकी रही। भाषा के विकास पर भी उनका बराबर ध्यान बना रहा। उसी प्रकार भक्ति आन्दोलन के उद्भव एवं भक्ति साहित्य के आरंभ की व्याख्या में उन्होंने राजकीय परिस्थितियों एवं उसके सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभावों को एक इतिहासकार की भाँति अकुंठ भाव से स्विकार किया। इस सन्दर्भ में शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही कई फाँकें निकाली जाएँ, किन्तु साहित्य, समाज और उनकी गतिशीलता की दृष्टि से समन्वयात्मक दृष्टि कही जाएगी। इस सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय का कथन दृष्टव्य है - "शुक्ल जी के इतिहास पर विचार करें तो मालूम होता होगा कि शुक्ल जी के इतिहास लेखन की पद्धति की जो एक विशेषता सामने आती है, वह यह कि उन्होंने साहित्य से भी व्यापक, बल्कि के साहित्य के आधार के रूप में भाषा और उससे भी अधिक व्यापक इन दोनों के आधार के रूप में समाज का इतिहास एक साथ ध्यान में रखा। मतलब यह कि साहित्य का इतिहास, भाषा का इतिहास और समाज का इतिहास-हिन्दी साहित्य का इतिहास, हिन्दी भाषा का इतिहास और हिन्दी भाषी जनता के जीवन का इतिहास, समाज का इतिहास-शुक्ल जी ने तीनों इतिहासों के बीच जो सम्बन्ध है, बराबर उसे ध्यान में रखा।"[51]

आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया भक्तिकाल का उप-विभाजन भी एक प्रकार से साहित्य की अपेक्षा दार्शनिक विभाजन कहा जा सकता है। निर्गुण-सगुण की विभाजन रेखा साहित्य के सन्दर्भ में उतने स्पष्ट में नहीं की जा सकती है, जितनी दर्शन में होती है। साहित्य में बिम्बात्मकता के लिए ही सही निर्गुण साहित्य में सगुण के एवं सगुण साहित्य में निर्गुण के दर्शन आकस्मिक रूप में होते हैं। ठीक उसी प्रकार आचार्य शुक्ल की ही दृष्टि से देखा जाए तो सूफीवाद एवं वैष्णव साहित्य का भी विभाजन तर्कसंगत नहीं दिखाई देता है। उन्होंने ही एक स्थान पर लिखा है, "निर्गुण मार्ग के लिए निर्दिष्ट प्रवर्तक कबीरदास ही थे, जिन्होंने एक ओर तो स्वामी रामानन्द जी के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण की और दूसरी ओर योगियों और सूफ़ी फकीरों के संस्कार प्राप्त किए। वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद और प्रपतिवाद लिया। इसी से उनके तथा 'निर्गुणवाद' वाले और दूसरे सन्तों के वचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़िचक्र की, कहीं सूफियों के प्रेम तत्व की, कहीं पैगंबरी कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसावाद की। अतः तात्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी।"[52] इस रूप में देखा जाए तो स्वयं आचार्य शुक्ल के तर्कों पर उनके

---

[51].आचार्य शुक्ल की साहित्येतिहास दृष्टि-मैनेजेर पाण्डेय, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-सम्पा.खगेन्द्र ठाकुर, पृ.६३-६४

[52].हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.४९

द्वारा किया गया यह भक्तिकाल का उप-विभाजन गलत सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु इतिहास को अधिक सरल बनाने की दृष्टि से यह स्थूल विभाजन आवश्यक था, अन्यथा विशाल भक्ति-साहित्य का अध्ययन और उसका इतिहास रूप में प्रस्तुतीकरण असंभव-सा हो जाता।

इसी प्रकार सामग्री की कमी एवं अपने समकालीनों पर कुछ न लिखने की चाह के कारण उन्होंने अपने समकालीन साहित्य पर भी उतने गहरे रूप में प्रकाश नहीं डाला। उन्होंने स्वयं लिखा है कि अपने समकालीनों पर लिखना अपने सिर एक बला मोल लेना है। अपने इतिहास ग्रंथ के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में उन्होंने लिखा था "पहले मेरा विचार आधुनिककाल को 'द्वितीय उत्थान' के आरंभ तक लाकर, उसके आगे की प्रवृत्तियों का सामान्य और संक्षिप्त उल्लेख करके ही, छोड़ देने का था, क्योंकि वर्तमान लेखकों और कवियों के सम्बन्ध में कुछ लिखना अपने सिर का बाल एक बला मोल लेना ही समझ पड़ता था।पर जी न माना। वर्तमान सहयोगियों तथा उनकी अमूल्य कृतियों का उल्लेख भी थोड़े-बहुत विवेचन के साथ डरते-डरते किया गया।"[53] यह बात अब स्वीकार्य है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास बोध अपने अतीत से अधिक उनके वर्तमान से संवलित था। उनके इतिहास-बोध एवं आलोचनात्मक दृष्टि के निर्माण में अपने समकालीन साहित्य का अधिक योग है। उन्होंने आधुनिक काल को 'गद्य काल' का नाम भले ही दिया हो, किन्तु उनकी दृष्टि अधिकतर काव्य साहित्य पर ही टिकी रही।

आचार्य शुक्ल के इतिहास ग्रंथ की आलोचना उनकी इतिहास-दृष्टि से अधिक उनके इतिहास और आलोचना के मिश्रित रूप को लेकर हुई है, जहाँ वे तुलसीवादी, ब्राह्मणवादी, अति-राष्ट्रवादी आदि आदि कहे जाते रहे हैं। जहाँ तक तुलसीवादी होने का प्रश्न है, इस सन्दर्भ में खगेन्द्र ठाकुर का मत दृष्टव्य है - "आज भी कुछ लोग समझते हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचनात्मक समझ एवं सौन्दर्य-दृष्टि का आधार तुलसीदास का काव्य है और उनके आदर्श कवि तुलसीदास थे, लेकिन बात ऐसी नहीं थी। शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि उनके अपने समय के यथार्थ, तत्कालीन स्वाधीन राजनैतिक एवं बौद्धिक चेतना तथा नवजागरण की चेतना के आधार पर विकसित हुई थी।"[54] यह संयोग मात्र नहीं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने समय के कवियों में भारतेन्दु के बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, निराला पर तो लिखा हि किन्तु आधुनिक छायावादी कवियों में उन्हें सुमित्रानन्दन पंत इसलिए अधिक भाते थे, क्योंकि पंत की कविताओं में उन्हें देशप्रेम प्रकृति प्रेम के माध्यम से दिखाई

---

[53]हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वक्तव्य, पृ.०१

[54].आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-प्रस्तावना-सम्पा.खगेन्द्र ठाकुर, पृ.०९

देता था और उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि जो अपने यहाँ के पशु-पक्षी, वनों-पहाडों को प्रेम नहीं कर सकता एवं जिसे कोयल किस चिड़िया का नाम है पता नहीं, वह क्या देशप्रेमी हो सकता है। अर्थात अपने समय में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन का शुक्ल जी पर प्रभाव, प्रभाव के रूप में ही आवश्यंभावी पड़ रहा था। इस सन्दर्भ में डॉ.रामविलास शर्मा का मत अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा है, "हिन्दी-साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व है, जो उपन्यासकार प्रेमचन्द और कवि निराला का। उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती संस्कृति का विरोध किया, जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचन्द और निराला ने। शुक्ल जी ने न तो भारत के रूढ़िवाद को स्विकार किया, न पश्चिम के व्यक्तिवाद को।"[55] यह मात्र संयोग नहीं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जहाँ भक्तिकाव्य के सन्दर्भ में तुलसीदास एवं भक्तिकालीन परिस्थितियों को बार-बार रेखांकित करते हैं, वहीं कवि निराला ने अपनी १०० छन्दों की 'तुलसीदास' कविता के आरंभिक ३६ छन्दों में, अर्थात एक तिहाई कविता में तुलसीदास के तत्कालीन विषम स्थितियों का वर्णन किया है। जैसे कवि और इतिहासकार-आलोचक एक-दूसरे को दृष्टि प्रदान कर साहित्य के विकास एवं उसके इतिहास लेखन को गति प्रदान कर रहे हों।

आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्येतिहास में मूल्यांकन की पद्धति को भी अपनाया है। इस कारण उनके साहित्येतिहास में आलोचना एवं उसके प्रतिमानों का भी स्वाभाविक रूप में प्रवेश हो गया है। उनसे पूर्व लिखित इतिहासों में इतिहास-दृष्टि एवं आलोचना-दृष्टि का कम ही प्रवेश देखने को मिलता है। वहाँ जोर कवियों की जीवनियाँ प्रस्तुत करने पर अधिक रहा है, किन्तु शुक्ल जी ने जीवनियों के अतिरिक्त रचनाओं पर अपना ध्यान केन्द्रीत कर, साहित्येतिहास का मूल्यांकन प्रस्तुत किया। इस सन्दर्भ में उनके इतिहास में आलोचना दृष्टि को ही सबसे अधिक ख़ामियाँ गिनाई गई हैं। "शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि का सबसे बड़ा और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण 'इतिहास' में ही मौजूद है। लेकिन अगर दोनों अलग-अलग हों, मतलब कि इतिहास अलग हो और आलोचना अलग हो तो, उस तरह का इतिहास नहीं लिखा जा सकता, जैसे कि शुक्ल जी ने लिखा।.....इतिहास और आलोचना की एकता स्थापित करने के बाद ही शुक्ल जी की वे सारी विशेषताएँ सामने आयीं, जिनमें मुख्य उनका निभ्रान्त साहित्य-विवेक है, जहाँ उनसे रचनाओं की शक्ति और सीमा पहचानने में कहीं गड़बड़ी नहीं हुई। शुक्ल जी चूक नहीं करते । यह जो क्षमता है उनमें, यह क्षमता तब आयी, जब उन्होंने इतिहास और आलोचना

---

[55].आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना-डॉ.रामविलास शर्मा, पृ.०९

को मिलाया।"[56]

अर्थात शुक्ल जी ने इतिहास में आलोचनत्मक विवेक का परिचय देते हुए अपने इतिहास का कलेवर स्थापित करने का प्रयास किया, किन्तु इस प्रयास में उनकी भारतीय शास्त्रीय दृष्टि कहीं-न-कहीं मूल्यांकन पर हावी होती गई। छायावाद को पाश्चात्य प्रभाव मानना हो या अभिव्यंजनावाद का मुखर विरोध, दोनों स्थानों पर उन्हें इसी से परिचालित होते हुए देखा जा सकता है। किन्तु इसी भारतीय दृष्टि के चलते उन्होंने साहित्य और समाज का अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया, जिसके कारण उन्होंने कलावाद का भी जमकर विरोध किया। शास्त्रीयता का आरोप तब शिथिल होने लगता है, जब आचार्य शुक्ल कहते हैं, "भारतीय हृय का सामान्य स्वरूप पहचानने के लिए पुराने प्रचलित ग्रामगीतों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है, केवल पण्डितों द्वारा प्रवर्तित काव्य परम्परा का अनुशीलन ही अलम् नहीं है। पण्डितों की बाँधी प्रणाली पर चलने वाली काव्यधारा के साथ-साथ सामान्य अपढ़ जनाता के बीच एक स्वच्छन्द और प्राकृतिक भावधारा भी गीतों के रूप में चलती रहती है-ठीक उसी प्रकार जैसे बहुत काल से स्थिर चली आती हुई पण्डितों की साहित्यिक भाषा के साथ-साथ लोक भाषा की स्वाभाविक धारा भी बराबर चलती रहती है। जब पण्डितों की काव्यभाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोक भाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है, तब शिष्ट समुदाय लोक भाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य परम्परा में नया जीवन डालता है।"[57] किन्तु ध्यान देने की बात है कि आचार्य शुक्ल अपनी इस धारणा को भाषा तक ही सीमित रख पाए और उनके साहित्य-विवेचन में इसे कम ही मात्रा में अवतरित होते हुए देखा जा सकता है। जैसे नागमती के विरह वर्णन के सन्दर्भ में अथवा रीतिकाल के सन्दर्भ में वे लोक को याद करते हुए देखे जा सकते हैं।

इस बात पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि आचार्य शुक्ल अपने मुख्य प्रतिमान के रूप में रस का मुख्य प्रतिमान के रूप में उपयोग अवश्य करते हैं, किन्तु वे प्राचीन संस्कृत आचार्यों की तरह अपने-आपको रसवादी नहीं कहते हैं या उसी के वृत्त में कैद होकर नहीं रह जाते हैं। उन्होंने आधुनिक काल के साहित्य का मूल्यांकन करते समय अपनी आधुनिक इतिहास-दृष्टि का सम्यक परिचय दिया और लोकवादी तुलसीदास की भाँति अपनी दृष्टि सामान्य जन के साहित्य की ओर मोड़नी चाही। उन्होंने

---

[56].आचार्च शुक्ल की साहित्येतिहास-दृष्टि-मैनेजर पाण्डेय, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-सम्पा.खगेन्द्र ठाकुर, पृ.६५

[57].हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.४०८

उपन्यासों का मूल्यांकन प्रस्तुत करते समय प्राचीन साहित्यशास्त्रीय कसौटी की अपेक्षा तत्कालीन परिस्थितियों में उपन्यास की कथा एवं पात्रों का मूल्यांकन करना एवं उपन्यासों की युगसापेक्षता को कसौटी बनाया। आधुनिक नाटकों के विवेचन के सन्दर्भ में भी उनकी आलोचना एवं इतिहास-दृष्टि पूर्ण कारगर होती हुई दिखाई देती है, जहाँ वे आधुनिक नाटकों का मूल्यांकन प्राचीन प्रतिमानों की अपेक्षा युगीन राष्ट्रीय आवश्यकता को कसौटी बनाकर करते हैं। इस सन्दर्भ में उनके द्वारा भारतेन्दु के नाटकों का किया गया मूल्यांकन दृष्टव्य है। प्रसाद के राष्ट्रीय उत्थानवादी नाटकों को वे अपनी युगीन आवश्यकता के रूप में देखते हैं, वहीं पंत के प्रकृति चित्रण में उन्हें राष्ट्रवाद दिखाई देता है, तो यह तत्कालीन औपनिवेशिक शासन के इतिहास लेखन के प्रति हिन्दी राष्ट्रवाद की इतिहास लेखन में प्रतिक्रिया मानी जाए तो इसमें क्या गलत होगा?

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पहले से चली आती हुई इतिहास लेखन की आवश्यक अनिवार्यता थी, तो इतिहास लेखन में वह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था। आचार्य शुक्ल ने इतिहास लेखन में प्रतिमानों को स्थापित करने के अतिरिक्त आलोचना और इतिहास का अनिवार्य संबंध स्थापित कर दिया। इससे आनेवाले अनेक इतिहासकारों का पथ प्रदर्शित हुआ। शुक्ल जी के इतिहास को लेकर कई परवर्ती इतिहासकारों ने अपना दृष्टिभेद दिखाने का प्रयास किया हो, किन्तु उनकी धारणाएँ भी शुक्ल जी की मान्यताओं से या तो विरोध करती हैं या तो उनका समर्थन करतीं हैं। इस प्रकार से देखा जाए तो हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में शुक्ल जी की इतिहास-दृष्टि से वर्तमान समय तक के इतिहासकार परिचालित होते हुए देखे जा सकते हैं। न केवल इतिहास लेखन अपितु हिन्दी आलोचना में भी आचार्य शुक्ल के इतिहास ने अनेक सैद्धान्तिक बहस-मुबाहिसों को जन्म दिया। जिनमें से प्रसिद्ध विवाद कुछ इस प्रकार हैं - कबीर बनाम तुलसीदास विवाद, शास्त्रीयता बनाम लोकवाद का विवाद, नामकरण सम्बन्धी विवाद, हिन्दी साहित्य के आरंभ सम्बन्धी विवाद, साहित्य एवं युगीन परिस्थितियों सम्बन्धी विवाद, छायावाद सम्बन्धी विभिन्न मत आदि। आचार्य शुक्ल के रहते ही इनमें से कई विवाद उत्पन्न हुए थे या किए गए थे। आज इन विवादों का शमन कम-अधिक मात्रा में हो चुका है, किन्तु अभी भी कुछ को जबरन सर के बल खड़ा कर विवाद बना दिया जाता है। डॉ.नगेन्द्र, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ.रामविलास शर्मा, डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ.नामवर सिंह, मैनेजर पाण्डेय आदि इतिहासकारों-आलोचकों ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सारी मान्यताओं को पूर्णतः स्वीकार भले ही न किया, किन्तु उनकी इतिहास-दृष्टि की सभी ने भूरी-भूरी प्रशंसा कर यह माना है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास

अपने आप में ऐतिहासिक देन था।

३.२ बाबू श्यामसुन्दर दास कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य'

नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक के रूप में सुख्यात बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' शीर्षक ग्रंथ इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से सन् १९३० में प्रकाशित करवाया था, जो आगे के समय में दो भागों में इसी शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ के उप-शीर्षक के रूप में लिखा था - "अर्थात् हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों का इतिवृत्त, उन कालों की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक परिस्थिति तथा उनके मुख्य-मुख्य निर्माताओं का वर्णन।"

बाबू साहब का साहित्येतिहास ग्रंथ शुक्ल जी के ग्रंथ के ठीक एक वर्ष बाद प्रकाशित हुआ, किन्तु उनकी भी साहित्येतिहास-दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देती है । उन्होंने लिखा था, "किसी साहित्य का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जातिगत एवं देशगत प्रवृत्तियों को ही जानना आवश्यक नहीं होता, वरन् विभिन्न कालों में उसकी कैसी अवस्था रही, देश के सामाजिक, धार्मिक तथा कला-कौशल सम्बन्धी आन्दोलनों के उस पर कैसे प्रभाव पड़े, किन-किन व्यक्तियों का उस पर कैसे प्रभाव पड़ा? ऐसी अनेक बातों को जानना आवश्यक है। समय परिवर्तनशील है और समय के साथ उसकी चित्तवृत्तियाँ भी और हो जाती हैं साथ ही साहित्य भी अपना स्वरूप बदलता रहता है।"[58] निःसंदेह इसमें आचार्य शुक्ल के "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य..." वाली अवधारणा की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। इतना ही नहीं उनका साहित्य, साहित्येतिहास एवं उसे देखने का दृष्टिकोण भी शुक्ल जी से प्रायः मेल खाता है।

उन्होंने अपने इतिहास को अन्य इतिहासों से भिन्नता का परिचय देते हुए लिखा है - "इस साहित्य के प्रस्तुत करने में मेरा उद्देश्य कवियों की कृतियों का अलग-अलग विवेचन करना नहीं है । मैंने प्रत्येक युग की मख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है और यह दिखाने का उद्योग किया है कि साहित्य की प्रगति किस समय में किस ढंग की थी। इन विचारों से यह अन्य इतिहासों से भिन्न है और यही इसके प्रस्तुत करने का मुख्य कारण है।"[59] वे पुनः दोनों इतिहास 'हिन्दी भाषा और साहित्य' के संयुक्त इतिहास के विभेद को दृष्टि में रखते हुए आगे लिखते हैं - "साहित्य का इतिहास भावों, विचारों तथा चित्तवृत्तियों

---

[58].हिन्दी भाषा और साहित्य-बाबू श्यामसुन्दर दास, पृ.२०

[59]. वही, पृ.०३ (निवेदन)

के व्यंजन के ढंग का इतिहास है।"[60] बाबू श्यामसुन्दर दास ने अपने निवेदन में लिखा है - "सन १८९३ में जो हिन्दी भाषा, साहित्य का इतिहास, हिन्दी कोष और हिन्दी का व्याकरण प्रस्तुत करने का मैंने संकल्प प्रस्तुत किया था, वह इस पुस्तक के प्रकाशन के साथ पूरा होता है।"[61] बाबू साहब ने अपने वक्तव्य में तो यह कहा था कि 'देशगत प्रवृत्तियों को जानना ही आवश्यक नहीं होता', किन्तु इस धारणा का वहन उनका साहित्येतिहास नहीं करता है, क्योंकि "बाबू साहब वह गहाराई और बारिकी तो न निभा सके लेकिन उन्होंने शुक्ल जी के इतिहास के विछिन्न प्रवाह को क्रम संख्या, रचनाओं का नमूना आदि बातें घटाकर अविच्छिन्न सा दिखलाना चाहा है। हाँ, उन्होंने शुक्लजी की अपेक्षा राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का खाता और लम्बा कर दिया।"[62] अर्थात् वे इतिहास लेखन की आवश्यकताओं को समझते थे, किन्तु वे इसका निर्वहन अपने ग्रंथ में न कर सके।

साहित्य एवं साहित्येतिहास की अवधारणा ही नहीं, साहित्यिक युगों का विभाजन भी बाबू श्यामसुन्दर दास ने आाचार्य शुक्ल की ही तर्ज़ पर किया है। उन्होंने भी आदि, पूर्वमध्य, उत्तरमध्य और आधुनिक युग शीर्षक से युगों का नामकर किया, वहीं उनका काल-विभाग भी शुक्ल जी से पूर्णतः प्रभावित है, प्रायः जस-का-तस है। जहाँ आचार्य शुक्ल ने नामकरण के आगे 'काल' शब्द का प्रयोग किया वहीं बाबू साहाब ने 'युग' शब्द का। आचार्य शुक्ल की अपेक्षा इनके साहित्येतिहास में अधिक संक्षिप्तता देखने को मिलती है। यह भी कारण हो सकता है कि आलोचना और साहित्य का वैसा सम्बन्ध यहाँ स्थापित न हो सका। उनके इतिहास की यह विशेषता रही है कि उन्होंने किसी भी विशिष्ट प्रवृत्ति का वर्णन आरंभ से अन्त तक किया है, अर्थात् आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक। किन्तु कवियों कवियों का वर्णन विवरण लघुकाय रूप में किया है। जैसे उन्होंने वीरगाथा काव्य का वर्णन आदिकालीन कवियों के साथ उसी अध्याय में रीतिकालीन भूषण, लाल आदि कवियों की चर्चा के साथ आधुनिक काल के माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, वियोगी हरि, लाला भगवानदीन, सुभद्रा कुमारी चव्हाण, दिनकर और श्यामनारायण पाण्डेय तक के वीर काव्य लेखकों का वर्णन किया। इस पद्धति में उनके प्रवृत्तियों का विकास-क्रम आवश्य दिखाई देता है, किन्तु काल विभाजन का मूल मंतव्य आनावश्यक बन गया है। इसी प्रवृत्ति को कालान्तर में डॉ.गणपतिचन्द्र गुप्त ने अपने 'हिन्दी

---

[60].वही, पृ.वही

[61].वही, पृ.०५

[62].नामवर सिंह, आलोचना, इतिहास विशेशांक, १९५२, भाग-२ पृ.११

साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास' में लिया है।

अपने साहित्येतिहास ग्रंथ में इतिहास सम्बन्धी जिन अध्यायों का उल्लेख है, उनका सार इस प्रकार है- प्रथम अध्याय में कवियों की तुलना का उपर्युक्त आधार एवं तुलना प्रस्तुत की गई है। द्वितीय अध्याय में कालानुक्रम से विभिन्न परिस्थितियों पर सविस्तार चर्चा की गई है। उन्होंने लिखा है - "हमारे हिन्दी साहित्य का इतिहास उस समय से आरंभ होता है, जब ये राज्य स्थापित हो चुके थे।"[63] तीसरा अध्याय ललित कलाओं से सम्बन्धित है। उन्होंने ललित कलाओं के सन्दर्भ में अपना मत स्पष्ट करते हुए कहा है - "ललित कला की अन्तर्गत वस्तु कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत कला और काव्य कला ये पाँच कलाभेद हैं।"[64]

चौथे अध्याय वीरगाथा काल में उन्होंने प्रवृत्ति की परम्परा के कारण भूषण, लाल को एक साथ रखते हुए लिखा है - "भूषण और लाल दोनों ही कवियों में हम यह सामान्य प्रवृत्ति देखते हैं कि वे क्लिष्ट कल्पनाओं और टेढ़ी बातों के फेर में न पड़कर सीधी और सरल भाव-व्यंजना करते हैं।"[65] उन्होंने इस अध्याय में आधुनिक वीर काव्य लेखकों की परिगणना करके आधुनिक काव्य-खण्ड में पुनः निरुपण किया, जिसे पुनरावृत्ति दोष कहा जा सकता है। बाद के समय में रामस्वरूप चतुर्वेदी इसी तकनीक का प्रयोग करते हुए इसी दोष के शिकार हो जाते हैं।

पाँचवाँ अध्याय भक्तिकाल उनके साहित्येतिहास में गंभीर परिश्रम एवं चिन्तन का परिपाक कहा जा सकता है। उन्होंने भक्तिकाल का प्रारंभ विद्यापति से मानते हुए लिखा है - "हिन्दी में वैष्णव साहित्य के प्रथम कवि प्रसिद्ध मैथिली कोकिल विद्यापति हुए, जिनकी रचनाएँ उत्कृष्ट कोटि की हुईं।"[66] विद्यापति को प्रथम कवि मानने के कारण उन्हें आचार्य शुक्ल की भाँति स्थान-स्थान पर 'फुटकल खाता' निर्माण करने की आवश्यकता नहीं पड़ी, अतः इतिहास में एक प्रवाह देखने को मिलता है। इसी अध्याय में आगे ज्ञानाश्रयी शाखा का भी वर्णन देखने को मिलता है।

आगे के अध्यायों में क्रमशः छठे अध्याय में प्रेमाश्रयी भक्ति शाखा और सातवें में रामभक्ति शाखा का विवरण दिया गया है। इसी अध्याय में ही नाभादास, प्राणचन्द, हृदयराम, विश्वनाथ सिंह, रघुराज सिंह और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य और व्यक्तित्व की चर्चा सम्पन्न की गई है। शुक्ल जी की भाँति श्यामसुन्दर

---

[63].हिन्दी भाषा और साहित्य-विषय प्रवेश-बाबू शायमसुन्दर दास, पृ.१९३

[64].वही, पृ.०३१६

[65].वही, पृ.३२१

[66].वही, पृ.३९७

दास भी गोस्वामी तुलसीदास के प्रशंसक रहे हैं। यद्यपि शुक्ल जी की भाँति बाबू श्यामसुन्दर दास सन्त साहित्य के उद्धारक एवं प्रसारक भी थे, "साहित्यक दृष्टि से रामचरितमानस के जोड़ का दूसरा ग्रंथ हिन्दी में नहीं दीख पड़ता।"[67]

आठवें अध्याय में कृष्णभक्ति शाखा में रहीम, गंग, नरहरि, वीरबल, टोडर, सेनापति और नरोत्तम का वर्णन करके इन्हें कृष्णाश्रयी कवि घोषित करने का प्रयास किया गया। इनमें भक्तिकाल सम्बन्धी मान्यताओं से डॉ.ग्रियर्सन का प्रभाव देखने को मिलता है, क्योंकि जिस भक्तिकाल को सर्वप्रथम ग्रियर्सन ने महिमामंडित किया, उसका उत्कर्ष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास से हुआ, किन्तु इसी काल को बाबू श्यामसुन्दर दास ने भी गौरवान्वित करने का प्रयास किया है। वे भक्तिकाल को 'स्वर्णयुग' बताते हुए रीतिकाल के प्रारंभ में कहते हैं, "जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्तःकरण से निकलकर देश के कोने-कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही वह हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग था।"[68]

आधुनिक काल शीर्षक दसवाँ अध्याय भारतेन्दु हरिश्चंद्र के साहित्य विवेचन से प्रारंभ होता है। खड़ी बोली के प्रथम लेखक श्रीधर पाठक एवं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवदी को माना गया है। यद्यपि इस अध्याय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का वर्णन है किन्तु शुक्ल जी की भाँति बाबू श्यामसुन्दर दास ने इनका वर्णन लगभग डेढ़ सौ शब्दों में करते हुए किसी भी रचना का परिचय नहीं दिया। शुक्ल जी की ही भाँति छायावाद को रहस्यवादी होने के कारण बाबू श्यामसुन्दर दास ने बेहतरीन काव्य नहीं माना है, किन्तु भक्तिकालीन रहस्यवादी कवियों की प्रशंसा करना वे नहीं भूलते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि वे छायावादी कवियों को हिन्दी की आदिकालीन एवं भक्तिकालीन कवियों की रहस्यवादी परम्परा में नहीं मानते हैं, किन्तु वे आचार्य शुक्ल की भाँति छायावाद को विदेशी प्रभाव भी सीधे-सीधे नहीं मानते हैं। इतना तो तय है कि वे छायावाद को शुक्ल जी की भाँति रहस्यवाद का पर्याय मात्र नहीं मानते थे, और वे उसकी शैली के कायल थे।

ग्रंथ के उत्तरार्द्ध में गद्य के विकास में 'सभा' और 'सरस्वती' पत्रिका का विस्तार से वर्णन किया है। समालोचना, नाटक, उपन्यास, अख्यायिका (कहानी), निबंध आदि का सामान्य व अल्प परिचय देकर चलता किया गया है। इसके बाद गद्य शैली के विकास और उपसंहार से ग्रंथ समाप्त होता है। इस

---

[67]वही, पृ.४५२

[68].वही., पृ.४८२

ग्रंथ के सन्दर्भ में नामवर सिंह ने लिखा है - "उनका मन तथ्यों की छानबीन की ओर इतना नहीं रमा। उनकी रसदृष्टि तथा विवेनशील प्रतिभा कवियों के मूल्यांकन में अधिक खुली। कवियों के जीवन-वृत्त, ग्रंथ सूची आदि से आगे बढ़कर उन्होंने कवियों के साहित्यिक सामर्थ्य का उद्घाटन किया। सबकी रचना का नमूना देने का ढंग तो ज्यों-का-त्यों रहने दिया, परन्तु नमूने को अधिक प्रतिनिधि तथा उत्कृष्ट बनाने चेष्टा की।"[69]

बाबू श्यासुन्दर दास का इतिहास शुक्ल जी जैसा प्रभावशाली नहीं था, किन्तु शुक्ल जी से प्रवृत्तियों के विवेचन में व्यापकता एवं भिन्नता के साथ ऐतिहासिक परम्परा की अविच्छिन्नता को प्रदान करने का उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सिद्ध-नाथ और सन्त साहित्य के प्रति उनका उदारवादी दृष्टि प्रशंसनीय है। उन्होंने विभिन्न आधुनिक साहित्यिक वादों के साथ व्यवहारिकता का भी परिचय दिया, जो आचार्य शुक्ल में साहित्य की खण्डित परम्परा या प्रवृत्ति दिखाई दी उसे बाबू श्यामसुन्दर दास अविच्छिन्न स्वरूप प्रदान करते हैं। इसलिए वीरगाथा काल की रचनाओं में भी भूषण की रचनाओं का विवेचन किया तथा भक्तिकाल की रामभक्ति परम्परा में मैथिलीशरण गुप्त को भी स्थापित किया। वास्तव में गंभीर विवेचन इनके इतिहास में कम ही देखने को मिलता है। व्यापकता एवं सूक्ष्मता के अभाव के साथ प्रायः शुष्कता देखने को मिलती है, किन्तु वहीं पद्य में गद्य में सर्वत्र यह कृति मौलिकता एवं नवीनता के अभाव में साहित्य जगत् के पाठकों से दूर होती गयी। इतना होने पर भी बाबू श्यामसुन्दर दास का इतिहास आनेवाले अनेक इतिहास ग्रंथों का पथ प्रदर्शक बना। रामस्वरूप चतुर्वेदी के 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' का मूल ढाँचा यहीं से लिया जान पड़ता है, जहाँ वे कबीर के साथ मुक्तिबोध का एवं तुलसीदास के साथ निराला का वर्णन भक्तिकालीन साहित्य में करते हैं। इसी में बाबू साहब के इतिहास का ऐतिहासिक महत्व है।

३.३ रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'

रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने ब्रज भाषा में कविता करने के अतिरिक्त सन् १९३१ में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' शीर्षक साहित्येतिहास भी प्रकाशित करवाया। उनका यह ग्रंथ शुक्लोत्तर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि के विरुद्ध किन्तु पूरक रूप में देखा जाए तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति सिद्ध होता है। इस सन्दर्भ में डॉ.किशोरीलाल गुप्त का कहना है कि "सन् १९३१ ई. में रमाशंकर

---

[69].इतिहास और आलोचना - नामवर सिंह, पृ.१३६-३७

शुक्ल का विशाल इतिहास 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें सामग्री तो काफी है लेकिन मौलिक दृष्टि की न्यूनता है।"[70]

पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्येतिहासकारों की अपेक्षा डॉ.रसाल जी में साहित्येतिहास सम्बन्धी मान्यताएँ व्यापक दिखाई देती है, यही कारण है कि उनका साहित्येतिहास एक सजग इतिहासकार का कर्म कहा जाएगा, जिसमें आचार्य शुक्ल आदि पूर्ववर्ती साहित्येतिहासकारों की मान्यताओं का साधार खण्डन करने का प्रयास दिखाई देता है। उन्होंने पूर्ववर्ती साहित्येतिहासकारों की साहित्येतिहास की मान्यताओं को मानने से इन्कार करते हुए लिखा, "साहित्य के इतिहास से हमारा यही तात्पर्य है कि इतिहास के समान जिसमें साहित्य की भिन्न-भिन्न समय से सम्बन्ध रखनेवाली दशाओं या अवस्थाओं का सुव्यवस्थित वर्णन हो उसे साहित्य का इतिहास समझना चाहिए। जिस प्रकार किसी देश अथवा समाज के इतिहास से हमें उससे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं, उसके कारणों, परिणामों एवं उनकी परिस्थितियों आदि का यथाक्रम आद्योपान्त एवं सांगोपांग परिचय प्राप्त होता है, उसी प्रकार किसी भाषा के साहित्य के इतिहास से हमें उस साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले भिन्न-भिन्न विषयों की दशाओं, उनके कारणों एवं परिणामों आदि का उनकी महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों और प्रगतियों के साथ ज्ञान प्राप्त होता है।"[71]

डॉ. रसाल ने साहित्येतिहास की व्यापक कसौटी तैयार की थी, जिनका प्रमुख उद्देश्य था कि साहित्येतिहास का प्रधान कार्य विचारधाराओं का विवेचन और विश्लेषण करना है। इसलिए वे साहित्यिक विषयों के परिवर्तनशील विकास को अवगत कराने को साहित्येतिहास मानते थे और अपने इतिहास द्वारा उसे पूर्ण करने का प्रयास उन्होंने किया है। अपनी इस कसौटी पर खरा न उतर पाने के कारण उन्होंने 'शिवसिंह सरोज' को हिन्दी साहित्य का इतिहास मानने से इन्कार कर दिया था। उनकी दृष्टि में हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास मिश्रबन्धुओं द्वारा लिखा गया था। इसके अतिरिक्त 'शिवसिंह सरोज' में उन्हें आलोचना-दृष्टि का भी पूर्णतः अभाव दिखाई दिया। इतना ही नहीं उन्होने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास के सन्दर्भ में भी अपनी एक दृष्टि कायम की थी, जिसे आचार्य शुक्ल के इतिहास सम्बन्धी आरंभिक आलोचनाओं में से एक माना जा सकता है। उन्होंने लिखा है, "शुक्ल जी ने यह पुस्तक बड़ी विद्वत्ता और बड़े परिश्रम से लिखी और इसमें विचारधाराओं, शैलियों और परम्पराओं आदि पर सूक्ष्म रूप से अच्छा प्रकाश डाला गया है। कवियों की रचनाओं का कुछ सुन्दर विवेचन किया है। पुस्तक

---

[70].हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास-भूमिका-डॉ.किशोरीलाल गुप्त, पृ.३१

[71].वही,पृ.०८

सराहनीय है, किन्तु साहित्य के सभी ग्रंथों पर प्रकाश डालने में सर्वथा समर्थ नहीं है।"[72] आगे पुनः बाबू श्यामसुन्दर दास के 'हिन्दी भाषा और साहित्य' पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है, "ग्रंथ यद्यपि विद्वत्तापूर्ण और श्लाघ्य है किन्तु सर्वांगपूर्ण और यथेष्ट रूप में विस्तृत नहीं है, जिससे उच्च कक्षा के पाठकों को हताश होना पड़ता है।"[73] अर्थात् रसाल जी ने केवल हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत कर रहे थे, अपितु उन्होंने अपने समय तक लिखित हिन्दी साहित्येतिहास ग्रंथों की भी संक्षिप्त में समीक्षा भी प्रस्तुत कर दी, जिससे आगे के समय में हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन जैसे विषय को विकसित होने का मौका अधिक तीव्र गति से मिला।

रसाल जी का काल विभाजन उनके आदर्श साहित्येतिहासकार मिश्रबन्धुओं के कालविभाजन से प्रभावित जान पड़ता है। हिन्दी साहित्येतिहास को बाल, किशोर, युवा, परिवर्तन काल और वर्तमान काल के नामों में क्रमशः १००० वि.स.से आरंभ करते हुए प्रस्तुत कर दिया, जो न तो साहित्येतिहास में मान्य हो सका और न इतिहास में ही मान्य करने योग्य है। इस सन्दर्भ में पंडित श्यामबिहारी मिश्र का कथन दृष्टव्य है - "शुक्ल जी (डॉ.रमाशंकर शुक्ल रसाल) ने हिन्दी साहित्य का काल विभाग इस प्रकार किया है कि आदि काल संवत् से १४०० तक, मध्यकाल संवत् १४०० से १८०० तक और आधुनिक काल संवत् १९०० से आज तक। हमारी अनुमति में यह काल विभाग बहुत युक्तियुक्तनहीं प्रतीत होता, क्योंकि ऐसा विभाग किसी भी भाषा के इतिहास का किया जा सकता है।"[74]

उन्होंने जिस आधार पर अवस्था एवं कालों का नामकरण किया है, वह किसी प्रकार की प्रवृत्ति का ध्यातक नहीं है। अपितु प्रवृत्तियों के नामकरण के लिए अलग से परिभाषा एवं व्याख्या कर दी है। इस दृष्टि से उन्होंने आदि काल का नामकरण 'वीरकाव्य' के लिए 'जयकाव्य' का शब्द प्रयोग किया, भक्तिकाल के लिए 'धार्मिक काल' तथा श्रृंगार काल के लिए 'कलाकाल' नामकरण करते हुए विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार पर अभिधान किया।

अतः डॉ.रसाल के सभी नामकरण प्रायः एकार्थी नामकरण की श्रेणी में विभाजित प्रतीत होते हैं। उन्होंने इन नामकरणों के प्रति विचार व्यक्त करते हुए लिखा है - "जो ऐतिहासिक काल विभाजन मैंने दिया है, उसका प्रधान आधार उस काल की प्रधान विचारधारा के रूप में है जो इस समय हिन्दी संसार

---

[72].हिन्दी साहित्य का इतिहास-भूमिका-रमाशंकर शुक्ल रसाल, पृ.०४

[73].वही, पृ.वही

[74].वही, पृ.०५, प्राक्कथन

की जनता में पूर्ण प्राधान्य, प्राबल्य और प्रभाव प्रवेग के साथ प्रवाहित रही है।"[75]

जिस आलोचना के अभाव के कारण रसाल जी ने 'शिवसिंह सरोज' को हिन्दी साहित्येतिहास मानने से इन्कार कर दिया था, प्रायः उसी गुणधर्म का अभाव उनके साहित्येतिहास ग्रंथ में भी दिखाई देता है। इस बात को उनके भक्तिकाल के नामकरण के सन्दर्भ में ही जाना जा सकता है। उन्होंने जब भक्तिकाल का नामकरण धार्मिक साहित्य का युग के अर्थ में किया, ऐसे में साहित्यिक मूल्यों के मूल्यांकन की अपेक्षा उनसे करना समझदारी नहीं होगी। इसी प्रकार तुलसीदास के प्रति भी उनकी दृष्टि सही नहीं थी। उन्होंने छायावाद के रहस्यवाद को जायसी के रहस्यवाद से सीधे-सीधे जोड़ दिया और इसका कोई स्पष्ट स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत नहीं किया। इस सन्दर्भ में कवि-नाटककार जयशंकर प्रसाद के सन्दर्भ में उनका मत था - "जयशंकर प्रसाद जी अंग्रेज़ी मत से प्रभावित सूफ़ी सन्तों के रहस्यवाद के कुछ मार्मिक भाव लेकर लाक्षणिकता, व्यंजकता और मूर्तिमत्ता के साथ लिखा करते हैं।"[76] इस प्रकार रसाल जी ने छायावाद की प्रवृत्तियों को तो सही पहचान लिया था किन्तु संभवतः आचार्य शुक्ल का विरोध करने के लिए ही उन्होंने छायावादी रहस्यवाद की भारतीय परम्परा दिखाने के क्रम में उसे जस-का-तस जायसी से जोड़ दिया। यदि बाद में हुए शोधों के आधार पर कहा जाए तो जायसी तो सूफी कवि थे ही नहीं, ऐसे में रसाल जी की मान्यताएँ हवा में लटकती रह जाती हैं।

रसाल जी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में सूचनात्मक नवीनता को अनिवार्य स्थान दिया है, जिसमें उन्होंने मुसलमान कवि और लेखक, हिन्दी की स्त्री लेखिकाएँ, राजाओं का रचनाकर्म, हिन्दी प्रवर्धिनी संस्थाएँ और हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं को भी इतिहास का अंग माना है। यह सर्वमान्य ही होगा कि इन्होंने अपने इतिहास में साहित्येतिहास सम्बन्धी अवधारणाओं, स्वरूपों और उद्देश्यों के साथ साहित्येतिहास की परम्पराओं, विचारों और शैलियों का भी सम्यक विवेचन किया। इनके इतिहास के बारे में डॉ.नलिन विलोचन शर्मा का कथन दृष्टव्य है - "रसाल जी के साहित्यिक इतिहास विषयक विचार जितने समन्वयात्मक नहीं हैं उतने निश्चित योजना के अभाव के परिचायक हैं।....व्यवहार में इसका परिणाम यह हुआ कि उसका विवेचन विस्तिर्ण तथा योजनारहित हो गया।"[77] अर्थात् साहित्य की परम्परा एवं साहित्येतिहास लेखन का इतिहास पूर्ण ज्ञात करने के पश्चात् भी साहित्य सम्बन्धी मुख्य मान्यताओं

---

[75].वही, भूमिका, पृ.०५

[76].वही, पृ.७६७

[77].साहित्य का इतिहास दर्शन-नलिन विलोचन शर्मा, पृ.९२

एवं आलोचना दृष्टि के योग्य कार्यान्वयन के अभाव में उनके साहित्येतिहास में अनेक त्रुटियों का प्रवेश भले ही हो गया हो, किन्तु उन्होंने अपनी नवीन दृष्टि के साथ हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप करने का सफल प्रयास किया।

३.४ पंडित सूर्यकान्त शास्त्री कृत 'हिन्दी साहित्य का विवेतचनात्मक इतिहास'

अब साहित्येतिहास लेखन की विशाल परम्परा ने अपनी गति प्राप्त कर ली थी, ऐसे में हिन्दी प्रदेश के बाहर से लाहौर के डी.ए.वी. कॉलेज के अध्यापक पंडित सूर्यकान्त शास्त्री ने 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' शीर्षक से सन १९३१ ई. में ग्रंथ प्रकाशित करवाया। उन्होंने अपने ग्रंथ लेखन का उद्देश्य बताते हुए जर्मन विद्वान गेटे का यह कथन उद्धृत किया, जिसमें उन्होंने कहा था - "समय-समय पर इतिहास इसलिए पुनः लिखा जाना चाहिए, इसलिए नहीं कि नवीन तथ्यों को अन्वेषण हो चुका होता है, बल्कि नये दृष्टिकोण भी सामने आ जाते हैं, क्योंकि एक युग की प्रगति में सक्रिय भाग लेने वाले ऐसे केन्द्र बिन्दु पहुँचते हैं, जहाँ से अतीत एक नए ढंग से जाँचा और परखा जा सकता है।"[78]

इतने तक तो सही था कि अपनी दृष्टि के विवेचन के लिए उन्होंने किसी और के मत का सहारा लिया किन्तु उनके द्वारा अपने ग्रंथ में किए गए काल-विभाजन पर भी एफ.ई.की. का प्रभाव पूर्ण रूप में देखा जा सकता है। पंजाबी क्षेत्र में लिखित होने के कारण इनके ग्रंथ से सिख गुरुओं द्वारा लिखित साहित्य की विस्तृत विवेचना की अपेक्षा थी, जो पूर्ण न हो सकी। उन्होंने अपने ग्रंथ में साहित्यिक काल विभाजन तो किया, किन्तु नामकरण की चेष्टा उन्होंने नहीं की, जिससे इनका काल विभाजन अमूर्त बनकर रह जाता है। इतना ही नहीं उन्होंने जो साहित्य के विभाग बनाए हैं, उनमें एकेले कबीर का ही चार बार उल्लेख किया गया है। उनके काल विभाजन की विचित्र पद्धति है, जिसमें केशव, बिहारी और देव के परिचयोपरान्त तुलसी और उनके बाद सूर आदि कृष्णाश्रयी शाखा के कवियों का परिचय दिया गया है। इसके अतिरिक्त गद्य साहित्य पर भी कम ही दृष्टि डाली गई है। उसे सरसरी निगाह से चलता किया गया है। ग्रियर्सन ने जिस प्रकार लल्लूलाल जी को खड़ी बोली का जन्मदाता १८८९ ई. में कहा था, उसे चालीस वर्षों बाद शास्त्री जी ने मान लिया, जबकि लल्लूलाल जी की खड़ी बोली के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका मात्र थी।

---

[78].हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास-भूमिका-सूर्यकान्त शास्त्री, पृ.०१

जिस प्रकार उन्होंने अपनी साहित्य दृष्टि स्पष्ट करने के लिए गेटे का उद्धरण चुना था, उससे सिद्ध होता है कि वे विदेशी साहित्य के भी प्रगाढ़ पण्डित रहे होंगे। इसी बात का फायदा लेते हुए उन्होंने विभिन्न विदेशी साहित्यकारों एवं उनकी साहित्य-कृतियों से हिन्दी साहित्यकारों एवं उनकी साहित्य-कृतियों की व्यापक रूप में तुलना अपने इस इतिहास ग्रंथ में प्रस्तुत की है। तुलनात्मक शैली पण्डित सूर्यकान्त शास्त्री के इतिहास में प्रचुर मात्रा में देखने को मिलती है, क्योंकि प्रायः ऐसी तुलनात्मक पद्धति अनेक इतिहासकारों द्वारा अपनायी गई है, जिसे साहित्येतिहास की दृष्टि से उत्तम माना जाता है, परन्तु तुलना की स्थिति भावावेश में इतनी अधिक हुई कि विषय के औचित्य का भी परिज्ञान उन्हें न रह पाया। आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने इस पद्धति का संभवतः सर्वप्रथम प्रयोग किया था, जिसमें भी यही दोष दिखाई देता है और इन्होंने भी उनकी उसी तुलनात्मक आलोचना की प्रणाली को स्वीकार किया है।

डॉ.शिवकुमार जी ने माना है कि, "वे न तो हिन्दी साहित्येतिहास सम्बन्धी न तो कोई नवीन दृष्टिकोण ही दे पाए और न ही लेखन पद्धति में कोई विशेष परिवर्तन ला सके हैं।....संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में यह ग्रंथ भी बढ़ता हुआ चरण सिद्ध नहीं हो सका।"[79] इनके इतिहास में भाषायी चमत्कारी अधिक मिलता है किन्तु साहित्येतिहास के विचारों, परम्पराओं और विविध तथ्यों, तर्कों का विश्लेषण नगण्य सा है। कुछ स्थानों पर इतिहास विवेचन काव्यात्मक गद्य में दार्शनिक कोटी का गद्य स्वरूप दिखाई देता है।

३.५ आयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास'

सन १९३४ ई. में प्रकाशित आयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा लिखित 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' वस्तुतः साहित्येतिहास की परियोजना न होकर सन १९३० में पटना विश्वविद्यालय में दिए गए व्याख्यानमाला का ग्रंथ रूप में प्रकाशन है। यह समग्र ग्रंथ बाबू श्यामसुन्दर दास की रचना 'हिन्दी भाषा और साहित्य' की पद्धति को ग्रहण करते हुए भाषा एवं साहित्य का अपनी पद्धति से व्याख्या प्रस्तुत करता है।

हरिऔध जी का यह ग्रंथ तीन भागों में विभाजित है। पहले भाग में ३४ प्रकरणों में भाषा का विवेचन, भाषा की परिभाषा, भाषा का उद्गम, आर्य भाषा परिवार, व्याकरण आदि पर विचार किया गया है। यही नहीं, इस खण्ड में विश्व भाषा परिवार की चर्चा आरंभ में ही ग्रंथ को नीरस बना देती है।

---

[79].हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन-डॉ.शिवकुमार, पृ.२०५-०६

इस ग्रंथ का दूसरा खण्ड साहित्य से सम्बन्धित है, जिसमें आदिकाल से लेकर आधुनिक साहित्य तक चर्चा की गई है। हिन्दी भाषा का उद्भव छठीं-सातवीं शताब्दी से मानते हुए, आरंभिक काल की सीमा ८वीं से १३वीं शताब्दी बताई गई है। इनके मतानुसार, "आरंभिक काल मैंने ८वीं से १३वीं शताब्दी तक माना है। इन पाँच सौ वर्षों में वीरगाथाकार कवियों और लेखकों के अतिरिक्त अन्य विषयों के ग्रंथकार और रचयिता भी हुए हैं।"[80] उन्होंने आरंभिक काल में वीरगाथा काल का नाम आचार्य शुक्ल की तर्ज पर मान्य किया है - "हिन्दी साहित्य के आरंभिक काल में वीरगाथा सम्बन्धी ग्रंथों की ही प्रधानता रही है और इन बातों पर दृष्टि रखकर डॉ.जी.ए.ग्रियर्सन आदि विद्वानों ने जो आरंभिक काल को वीरगाथा काल माना, वह असंगत नहीं। हिन्दी साहित्य के आदिकाल के साहित्य को पंडित रामचन्द्र शुक्ल के समान वीरगाथा काल के बदले 'जयकाव्य' कहने या रीतिकाल को 'कलाकाल' के नाम से अभिहित कर देने मात्र से है।"[81]

हरिऔध जी के इतिहास में तत्कालीन परिस्थितियों का अधिक दबाव देखा जा सकता है। इस कारण उनके इतिहास में जातीयता के कारण धर्मानुराग है, भारतीयता के कारण देशानुराग है, हिन्दी के कारण भाषानुराग भी है, किन्तु इसमें कई बार अतिवाद भी दिखाई देता है। वीरगाथा काल के प्रति इनकी दृष्टिकोण अन्य इतिहासकारों से भिन्न है। वे वीरगाथाकालीन रचनाओं को केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं देखते, बल्कि उनकी मान्यता है - "यह असंभव था कि उत्तरोत्तर मुसलमान पवित्र भारत वसुंधरा के विभागों को अर्जित करते जावे और जिन सहृदय हिन्दुओं में देशानुराग था वे अपने सजातियों को देश और जाति रक्षा के लिए विविध रचनाओं द्वारा उत्तेजित और उत्साहित भी न करे।"[82] वीरगाथा काल की रचनाओं का उद्देश्य अपनी दृष्टि से बताते हुए उसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में संदिग्ध भी नहीं मानते थे। यह उनके जातीय भावना की प्रबलता का परिणाम था। आचार्य शुक्ल आदि विद्वान भले ही संदिग्ध मानते हो, किन्तु हरिऔध इस मत को अस्विकार ही नहीं करते हैं, अपितु 'खुमाण रासो' के विषय में उन्होंने लिखा है - "ऐसी अवस्था में न तो उसके आदिम रचना होने का महत्व नष्ट होता है और न उसकी भाषा को संदिग्ध कहा जा सकता है।....इस काल का वातावरण ही ऐसा था कि इस प्रकार के ग्रंथों की रचना होती।"[83]

---

[80].हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास-अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔंध, पृ.११७

[81].वही, पृ.५१

[82].वही, पृ.८९

[83].वही, पृ.वही

उन्होंने माध्यमिक काल का आरंभ ईसा की १४वीं शताब्दी से माना है, जो प्रायः आचार्य शुक्ल के द्वारा निर्धारित समय के पास का ही काल माना जा सकता है। इस काल के मूल्यांकन में उनकी पूर्वग्रहयुक्त दृष्टि भी देखने को मिलती है। उसे इस उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है, जिसमें उन्होंने भक्तिकालीन सूफ़ी कवियों के सन्दर्भ में कहा है - "राजधर्म होने के कारण मुसलमान धर्म को उन्नति के अनेक साधन प्राप्त थे, अतएव वह प्रतिदिन उन्नत हो रहा था और राजाश्रय के अभाव एवं समुन्नत पथ में प्रतिबंध उपस्थित होने के कारण हिन्दू धर्म दिन-दिन क्षीण हो रहा था...। इस समय सूफ़ी सम्प्रदाय के अनेक मुसलमान फकीरों ने अपना वह राग अलापना शुरु किया था, जिस पर कुछ हिन्दू बहुत विमुग्ध हुए और अपने वंशगत धर्म को तिलांजलि देकर उस मंत्र का पाठ किया, जिससे उनको अपने अस्तित्व लोप का सर्वथा ज्ञान नहीं था।"[84] इस सन्दर्भ में एक आधुनिक कवि विद्रोही के शब्दों में मात्र इतना ही कहा जा सकता है -

"साम्राज्य आखिर साम्राज्य होता है
चाहे वह रोमन साम्राज्य हो
चाहे ब्रिटिश साम्राज्य,
या आत्याधुनिक अमरीकी साम्राज्य
...क्योंकि राजा किसी का नहीं होता
लक्ष्मी किसी की नहीं होती
धरम किसी का नहीं होता
लेकिन राजा के सब होते हैं
गाय भी, गंगा भी, गीता भी और गायत्री भी।"

यह इतिहास को देखने का एकदम अवास्तववादी दृष्टिकोण है कि राजा या राज्यकर्ता किसी धर्म विशेष का होने के कारण उस धर्म के लोगों का भला या विकास होता है। इतिहास में इस बात के कहीं भी कोई साक्ष्य नहीं मिलते हैं, अतः हरिऔध की जी मान्यता अनैतिहासिक और अवास्तववादी है, जिसे उन्होंने अपनी अतिवादी दृष्टि से देखने-दिखाने का प्रसाय किया है और ऐसा उन्होंने क्यों किया, यह उनके समय को देखकर समझा जा सकता है। बाकी सब बातें तो विद्रोही की ऊपर उद्धृत कविता ने कह दी हैं।

---

[84].वही, पृ.१०८

हरिऔध जी का इतिहास पूर्ववर्ती इतिहासकारों से आगे नहीं जा सका, किन्तु अपने मूल्यांकन की कसौटी एवं विवेचन की श्रृंखला, विषय-वस्तु को अधिक संयोजित करने का उन्होंने प्रयास किया है तथा विशिष्ट कृतियों की भाषा शैली की विशद विवेचना भी उन्होंने की है। इतिहास के मानक में युगबोध की सीमा असंगत दिखती है, जिसके मूल्यांकन में कई बार प्रशंसनीयता का भाव इतिहास के गंभीरता को खण्डित करता है।

३.६ डॉ.रामकुमार वर्मा कृत 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'

हिन्दी साहित्येतिहास की लेखन परम्परा में मिश्रबन्धुओं एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास के बाद सबसे अधिक चर्चित साहित्येतिहास के रूप में सन् १९३८ में डॉ.रामकुमार वर्मा द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' का नाम लिया जाता है। डॉ.वर्मा ने उस समय तक की उपलब्ध समस्त सामग्री का उपयोग अपने इस इतिहास ग्रंथ के लेखन में किया, किन्तु यह सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं है, अपितु इसकी समय सीमा पूर्वमध्यकाल अर्थात भक्तिकाल तक ही है। संभवतः सामग्री की अधिकता एवं उसके प्रस्तुतीकरण की सुविधा को ध्यान में रखते हुए उन्होंने साहित्येतिहास की गहराई से विवेचना करने के लिए भक्तिकाल तक का ही समय चुना होगा।

अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों और उनमें भी विशेषतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा की गई इतिहास-दृष्टिगत त्रुटियों या अशुद्धियों को दूर करने का प्रयास इन्होंने अपने इतिहास ग्रंथ के माध्यम से किया। डॉ.वर्मा के साहित्येतिहास को देखने से सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी साहित्येतिहास-दृष्टि अत्यन्त संतुलित, वैज्ञानिक एवं साहित्येतिहास लेखन की जटिलताओं के पार जाने का प्रयास करती हुई दिखाई देती है । इस रूप में देखा जाए तो वे साहित्येतिहास लेखन की जटिलताओं और सामग्री के प्रस्तुतीकरण से अपने इतिहास लेखन के सन्दर्भ में जूझने का लगातार प्रयास करते हुए दिखाई देते हैं, जिससे हिन्दी साहित्येतिहास लेखन का वास्तविक विकास आरंभ हो पाया, जहाँ से हिन्द साहित्येतिहास लेखन को एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिला। इस सन्दर्भ में इतिहास लेखन की पद्धति, जटिलताओं एवं अपने इतिहास लेखन के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है - "ऐतिहासिक सामग्री के साथ कवियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचना करना मेरा दृष्टिकोण है। मैंने साहित्य की संस्कृति का आदर्श सुरक्षित रखते हुए पश्चिम की आलोचना शैली को ग्रहण करने का प्रयत्न किया।"[85]

---

[85].वही, विषय प्रेवश, पृ.०२

साहित्येतिहास लेखन की पुनः आवश्यकता की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिख है - "हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहास लिखे जा चुके हैं। उनमें कवियों का विवरण और प्रवृत्तियों का निरुपण स्पष्टता के साथ पाया जा सकता है, किन्तु इधर साहित्य के इतिहास में कई नवीन अन्वेषण हुए हैं। इतिहास लिखने के दृष्टिकोण और शैली में भी नूतन वैज्ञानिक उत्क्रान्ति हुई है। अतः हिन्दी का इतिहास लेखन अभी पूर्ण नहीं है।"[86] अर्थात नवीन सामग्री के साथ साहित्य के प्रति नवीन के चलते ही उन्होंने अपने इस साहित्येतिहास को लिखने का उद्योग किया था।

डॉ.रामकुमार वर्मा का काल-विभाजन आचार्य शुक्ल के बाद अधिक प्रशंसनीय रहा है। ग्रियर्सन की तर्ज पर उन्होंने भी हिन्दी साहित्य का विकास ७ वीं शताब्दी से माना है, इसलिए अपभ्रंश और हिन्दी के मध्य का काल होने से 'संधिकाल' की संज्ञा दी है तथा समय-सीमा ७५० से लेकर १००० विक्रमी बतलाई है, जिसे आचार्य शुक्ल ने अपभ्रंश प्रकरण के अन्तर्गत 'अपभ्रंश काव्य' नाम दिया है। इसी प्रकार डॉ.वर्मा ने शुक्ल जी के 'वीरगाथा काल' की समय सीमा के समकक्ष 'चारण काल' नाम देते हुए १००० से १३७५ विक्रमी तक की अवधि तक परिव्याप्त मान है। वास्तव में यह 'चारण काल' नामकरण ग्रियर्सन का दिया हुआ है, आगे की समय सीमा और नामकरण सभी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास के आधार पर ही प्रस्तुत कर दिए गए हैं। डॉ.सुधा अग्रवाल ने डॉ.वर्मा के साहित्येतिहास में किए गए काल-विभाजन के सन्दर्भ में लिखा है - "अपने आलोचनात्मक इतिहास में डॉ.रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्येतिहास के युगों की सीमा निर्धारण और नामकरण भी शुक्ल जी के अनुरूप किया है। एक भिन्नता है, उन्होंने हिन्दी साहित्य का आरंभ सन् ७५० से माना है क्योंकि उनके उनके अनुसार – यह तो आवश्य कहा जा सकता है कि वज्रयान के प्रचारक सिद्धों ने नियमित रूप से सबसे प्रथम हिन्दी में रचना आरंभ कर दी थी। इसलिए उन्होंने ७५० विक्रम संवत् से १००० विक्रम संवत् के युग को 'संधिकाल' तथा विक्रम संवत् १००० से १३७५ के युग को 'चारण काल' कहना उचित समझा।इस दृष्टि से उन्होंने ग्रियर्सन तथा मिश्रबन्धुओं की परम्परा को मान्यता दी है।"[87] अर्थात डॉ.रामकुमार वर्मा ने अपनी परम्परा से अकुंठ भाव से वह सब स्विकार किया, जो इतिहास के लिए तथ्यानुरूप था और उसे अपने इतिहास ग्रंथ में अपनी दृष्टि के अनुरूप प्रस्तुत किया, वहीं उन्होंने इसी तर्ज पर अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों की कई मान्यताओं को भी अस्वीकृत करने का साहस साधार किया है।

---

[86].वही, पृ.०३

[87].हिन्दी साहित्येतिहास में युग-निर्धारण-डॉ.सुधा अग्रवाल, पृ.११६

काल विभाजन के बाद बोलियों के आधार पर साहित्य की रचनाओं का विकास भी 'विषय प्रवेश' के अन्तर्गत विवेचित किया गया है। उन्होंने यहीं पर सिद्ध युग का साहित्य, पुरानी हिन्दी का साहित्य, राजस्थानी का साहित्य (डिंगल), ब्रजभाषा का साहित्य (पिंगल), अवधि का साहित्य, बुन्देलखण्डी का साहित्य, मैथिली का साहित्य, खड़ी बोली का साहित्य आदि का परिचयात्मक विवरण दिया है। इसके बाद हिन्दी भाषा की उत्पत्ति ७०० विक्रमी से मानी है।

डॉ.वर्मा ने सन्धि काल की समय सीमा ७०० विक्रम संवत् से मानते हुए राहुल सांकृत्यायन द्वारा प्रस्तावित ८४ सिद्धों के साहित्य की बात को स्वीकृत किया तथा सिद्धों की परम्परा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को जीवनोपयोगी नहीं माना। उन्होंने इस काल के पाँच प्रमुख कवियों - गोरखनाथ, अब्दुल रहमान, बब्बर, अमीर खुसरो और मुल्ला दाऊद के साहित्य का विवेचन किया।

इस काल के साहित्य के अन्तर्गत सिद्ध, नाथ, जैन और लौकिक साहित्य भी वर्णित हैं। दूसरा प्रकरण 'चारण काल' से सम्बन्धित है, जो आचार्य शुक्ल जी के वीरगाथा काल से ५० वर्ष बाद माना गया है। इस काल के अन्तर्गत डिंगल और पिंगल दो प्रकार के साहित्यिक धाराओं को विश्लेषित करते हुए उन्होंने स्पष्टिकरण दिया है - "डिंगल राजस्थान में नागर अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी की साहित्यिक भाषा का नाम है और पिंगल मध्यप्रदेश की भाषा।"[88] उन्होंने इस अध्याय में राजस्थान से खोजों में मिले हुए सभी रासो ग्रंथों के अतिरिक्त, अन्य साहित्येत्तर एवं ख्यातों और वचनिकाओं का भी प्रयोग सामग्री के रूप में किया।

तीसरे प्रकरण 'भक्तिकाल' में क्रमशः सन्त का काव्य, प्रेमकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य इन चार उप-खण्डों में विभाजित किया गया है। सन्त काव्य को वेदान्त से प्रभावित तथा इसका प्रवर्तक कबीर को माना गया। सन्त काव्य के विषय में उनकी मान्यता है - "सन्त मत का काव्य उच्च कोटि का नहीं है। इस मत की भावना शास्त्र पद्धति के आधार पर भी नहीं थी।"[89] इसमें हमें मुक्तिबोध की मान्यताओं की पूर्वध्वनि सुनाई दे तो कोई गलत न होगा।

अपनी विस्तृत सामग्री एवं उसके प्रस्तुतीकरण के ढंग के कारण यह इतिहास शुक्लोत्तर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में काफी चर्चित रहा। इस इतिहास के विषय में डॉ.रामदरश मिश्र ने लिखा है - "हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में चिन्तन की कोई दिशा दी गई हो, ऐसी बात लक्षित नहीं

---

[88].हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-डॉ.रामकुमार वर्मा,पृ.१३९

[89].वही, पृ.१९३

होती। शुक्ल का इतिहास ही इसका आधार रहा है किन्तु शोध की सामग्रियाँ इनमें अधिक संग्रहीत हैं। इस प्रकार यह एक व्यापक प्रयत्न है।"[90] यद्यपि परवर्ती इतिहासों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद इसी इतिहास का नाम लिया जा सकता है। अपनी अपूर्णता के बावजूद भी संधि, चारण एवं भक्तिकाल के अध्ययन के लिए यह कृति सर्वथा प्रासंगिक एवं अनिवार्य है। शुक्लोत्तर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में इसे एक मील का पत्थऱ माना जा सकता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इतिहास लेखन के लिए इस इतिहास ने कई मायनों में अपनी भूमिका का निर्वहन किया। विशाल सामग्री को प्रस्तुत करने का ढंग एवं उसे साहित्यिक मूल्यों के प्रतिमानों पर विश्लेषित करने की पद्धति इस ग्रंथ से ली जा सकती है।

अध्याय के सारांश रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ने एक ऐतिहासिक मोड़ उपस्थित किया। गार्सा दा तासी, ग्रियर्सन आदि पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्येतिसकारों के ग्रंथों की सामग्री का उपयोग करते हुए भी आचार्य शुक्ल ने उनके दोषों को टालते हुए हिन्दी साहित्येतिहास लेखन संभव बनाया। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन को योग्य आलोचना दृष्टि देने का कार्य आचार्य शुक्ल ने किया। उनके अनन्तर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दशा और दिशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन आए। उन्होंने तुलनात्मक, आलोचनात्मक आदि पद्धतियों का प्रयोग कर एक ओर कवियों को स्थापित किया तो दूसरी ओर अपनी गहन अध्ययन शैली का उपयोग करते हुए हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को अधिक तार्किकता प्रदान की। तथ्यों की साहित्य मूल्यों के अनुरूप व्याख्या प्रस्तुत कर आचार्य शुक्ल ने बाद के साहित्येतिहास लेखन के लिए संभावनाओं के द्वार खोल दिए।

आचार्य शुक्ल के इतिहास के प्रकाशन के बाद हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में शिप्रता देखी जा सकती है, जिनमें बाबू श्यामसुन्दर दास, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', सूर्यकान्त शास्त्री, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', डॉ.रामकुमार वर्मा के साहित्येतिहास ग्रंथ आए। इन साहित्येतिहास ग्रंथों में या तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इतिहास-दृष्टि का समावेश हुआ है अथवा वे उनके विरोध के रूप में लिखे गए हैं। आचार्य शुक्ल का इतिहास इन ग्रंथों का या तो आदर्श बनकर प्रस्तुत हुआ है अथवा वे उन्हें रचनात्मक किन्तु विरोधी ऊर्जा देनेवाला सिद्ध हुआ है। जहाँ बाबू श्यामसुन्दर दास आचार्य शुक्ल से भिन्न दृष्टि अपनाकर साहित्येतिहास लेखन में प्रवृत्त हुए थे, वहीं हरिऔध राष्ट्रवादी धारा का प्रतिनिधित्व करने की ईच्छा से। हरिऔध के इतिहास में इतिहास से अधिक वर्तमान का दबाव देखा जा सकता है। इसी दबाव के चलते उन्होंने भक्तिकालीन साहित्य को नवीन दृष्टि प्रदान करने का प्रयास किया। डॉ.रामकुमार

---

[90].हिन्दी आलोचना का इतिहास-डॉ.रामदरश मिश्र, पृ.३१५

वर्मा एक प्रकार से आचार्य शुक्ल द्वारा उपेक्षित कवियों को इतिहास में स्थान दिलवाने का प्रयास करते देखे जा सकते हैं।

आचार्य शुक्ल का इतिहास जहाँ छायावाद तक के साहित्य का विवेचन-विश्लेषण करता है, वहीं बाद के इतिहासकारों ने प्रगतिवाद आदि साहित्य को भी साहित्येतिहास में स्थान दिया है। भक्तिकाल, हिन्दी के आरंभिक उपन्यास, छायावाद आदि के प्रति आचार्य शुक्ल की दृष्टि की भी आलोचना करने का प्रयास बाद के इतिहासकारों ने किया। जैसे कबीर या रीतिकालीन कवियों के प्रति आचार्य शुक्ल की दृष्टि को लेकर अधिकांश इतिहासकारों ने विरोध जताया है, किन्तु उनकी दृष्टि में आचार्य शुक्ल के पसन्दिदा कवियों के प्रति भी कोई पूर्वाग्रह नहीं देखा जा सकता है। यह बाद के समय में हुआ। जैसे आचार्य शुक्ल युग के प्रत्येक साहित्येतिहासकार ने तुलसीदास के प्रति आचार्य शुक्ल की दृष्टि की न सिर्फ सराहना की बल्कि उसे यथावत, कहीं-कहीं तो उनसे भी बढ़कर स्वीकार किया। अतः इस युग के साहित्येतिहासों में साहित्य के प्रति मूल्यों के टकराव को कम ही मात्रा में संभव होते हुए देखा जा सकता है। यह आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद के साहित्येतिहास लेखन में देखा जा सकता है, जिसका अध्ययन हम अगले अध्याय में सविस्तार प्रस्तुत करेंगे।

चतुर्थ अध्याय
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और परवर्ती साहित्येतिहास लेखन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी साहित्येतिहास लेखन वही नहीं रह गया, जो उनके पूर्व था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित मानकों को साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में चुनौती तो दी, किन्तु साहित्येतिहास लेखन के नए मानदण्ड भी स्थापित किए। उनके साहित्येतिहास लेखन से हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में दृष्टियों के सीधे-सीधे टकराव का आरंभ होता है, जिस कारण उनके बाद सम्पूर्ण हिन्दी साहित्येतिहास लेखन आचार्य शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी नामक दो खेमों में बंट गया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की कई मान्यताएँ जहाँ आचार्य शुक्ल से टकराती हैं, वहीं वह कई मायनों में उन्हें आगे भी बढ़ाती हैं, इस बात को न समझकर कई परवर्ती साहित्येतिहासकारों ने इन दो विद्वानों की इतिहास-दृष्टि एवं विचारधारा को दो ध्रूवों में बाँटकर देखने का प्रयास किया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के परवर्ती समय में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन का विकास कई दृष्टियों से होता है। एक तो आचार्य शुक्ल बनाम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की ध्रूववादी विचारधारा का मिलान कराने की दृष्टि से कई साहित्येतिहासकारों ने इतिहास लेखन किया। इसके अतिरिक्त इन विद्वतद्वय की इतिहास-दृष्टि से भिन्न साहित्येतिहास दृष्टि का विकास करने का प्रयास कुछ इतिहासकारों ने किया। द्वितीय महायुद्ध के बाद विभिन्न सामाजिक-राजनैतिक विचारधाराओं के प्रभाव एवं स्वतंत्र्योत्तर भारत में लोकतंत्र की स्थापना ने भी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को प्रभाविक किया। इन विभिन्न परिस्थितियों के आलोक में हम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं उनके परवर्ती हिन्दी साहित्येतिहास लेखन पर प्रकाश डालने का प्रयास प्रस्तुत अध्याय में करेंगे।

४.१ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्येतिहास लेखन

> "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ, जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उनकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुखकातर और संवेदनशीलन न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता

है।"[1] साहित्य को देखने के प्रति यह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मानवतावादी एवं सांस्कृतिक दृष्टि का नतीजा था कि उन्होंने साहित्य को मानवोद्धार का माध्यम माना। उनकी इसी दृष्टि का विकास उनके द्वारा लिखित साहित्येतिहास ग्रंथों में भी देखने को मिलता है।

सन् १९४० ई. में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के साथ उपन्यासकार-आलोचक हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्येतिहास लेखन आरंभ होता है, जो 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' एवं 'नाथ सम्प्रदाय' से होते हुए सन् १९५२ ई. में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य : उद्भव एवं विकास' पर जाकर पूर्णत्व प्राप्त करता है। इस बीच उन्होंने अनेक व्याख्यानों, लेखों और निबंधों के माध्यम से साहित्य के इतिहास को समझने-समझाने का प्रयास किया। इस सम्पूर्ण लेखन को मिलाकर उनकी साहित्येतिहास दृष्टि का निर्माण होता है, जिसके दर्शन हमें ऊपर उद्धृत वक्तव्य में होते हैं।

जिस प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्येतिहास को देखने की दृष्टि में नवीनता लाने का प्रयास किया है, उसी प्रकार हममें हिन्दी साहित्येतिहासों के इतिहास में इतिहास-दृष्टि एवं उसकी संरचना को देखने का अब तक का जो दृष्टिकोण था, उसमें बदलाव लाना अपेक्षित समझा है। उन्होंने साहित्येतिहास ग्रंथों में 'शास्त्र' की अपेक्षा 'लोक' एवं 'पूर्वाग्रहों' की अपेक्षा 'मानवतावादी' दृष्टिकोण लाकर साहित्येतिहास लेखन की संरचना में आमूलचूल परिवर्तन ला दिया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के समय तक हिन्दी साहित्येतिहास लेखन काफी आगे बढ़ चुका था और उसने अब तक चर्चित कई वाद-विवादों का शमन कर दिया था। जैसे काल-विभाजन एवं नामकरण के अब विवाद नहीं रह गए थे, जो शुक्लपूर्व साहित्येतिहास लेखन में थे। अतः अब प्रवृत्तियों के अनुसार काल-विभाजन एवं नामकरण हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में बहुत कुछ स्थिर हो गया था। इन स्थितियों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सुलझे हुए प्रश्नों पर अधिक जोर न देते हुए अपनी पूर्वपरम्परा से नामकरण एवं काल-विभाजन को स्वीकार करना योग्य माना। इसी कारण उन्होंने अपने किसी भी साहित्येतिहास ग्रंथ में नवीन रूप में काल-विभाजन एवं नामकरण करने का प्रयास नहीं किया। इसकी अपेक्षा उन्होंने पूर्वपरम्परा से इसे ग्रहण कर लिया। इस क्रम में उन्हें आचार्य शुक्ल जैसा फुटकल खाता भी निर्माण करना पड़ा, परिणामतः वे भी अपनी पूर्ववर्ती परम्परा के नामकरण एवं कालविभाजन सम्बन्धी कमियों के शिकार हुए।

---

[1].अशोक के फूल-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.१६८

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने सम्पूर्ण इतिहास लेखन में प्रगतिवाद तक का इतिहास प्रस्तुत किया, किन्तु उनके विवेचन के केन्द्र में प्रायः रीतिकाल तक का ही साहित्य रहा। आचार्य शुक्ल की भाँति उन्होंने भी भक्तिकाल को चार उप-वर्गों में विभाजित किया – 'ज्ञानाश्रयी शाखा', 'प्रेममार्गी शाखा', 'रामभक्ति शाखा' और 'कृष्णभक्ति शाखा'। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भले ही नामकरण एवं काल-विभाग में नवीनता न दिखाई हो, किन्तु इतिहास एवं आलोचना-दृष्टि की सर्वथा नवीनता उनके साहित्येतिहास लेखन का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। उनके पूर्ववर्ती इतिहासकार जहाँ भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन साहित्य को एक ही शास्त्रीय कसौटी पर कसते आ रहे थे, जिस कारण उनके हाथों निराशा लग रही थी और वे भक्तिकालीन साहित्य को, विशेष रूप से निर्गुण सन्तों के साहित्य को साहित्य नहीं राहित्य मानते आ रहे थे, वहीं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक-दृष्टि का प्रवेश हिन्दी साहित्येतिहास में करवाकर साहित्य को देखने की सर्वथा नवीन दृष्टि का विकास हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में करने का सफल प्रयास किया। यही कारण है कि जहाँ आचार्य शुक्ल के पूर्व के साहित्येतिहास लेखन में 'देव या बिहारी?' (अथवा बिहारी या देव?) का विवाद था और शुक्ल के साहित्येतिहास में निर्गुण सन्त काव्य बनाम सगुण भक्तों की प्रतिद्वन्दिता निर्मित हो गई थी, वहीं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस साहित्येतिहास लेखन को क्रमशः घोर रूपवाद एवं भयंकर शास्त्रीयता के चंगुल से निकालकर साहित्य को लोक-दृष्टि देने का प्रयास किया। यही कारण है कि उनके बाद के समय में सिद्ध-नाथ साहित्य हो या निर्गुण सन्तों का साहित्य, इनकी तरफ़ देखने की दृष्टि में आमूलचूल परिवर्तन आया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह माना है कि आधुनिकता की चेतना को वहन करने के कार्य 'प्रेस' द्वारा संभव हो सका है। संभवतः 'प्रेस' की 'भारतीय नवजागरण' में भूमिका को रेखांकित करने वाले हिन्दी साहित्येतिहास में आचार्य द्विवेदी पहले व्यक्ति होंगे। उनका मानना था कि प्रेस के कारण साहित्य ही नहीं भारतीय समाज में भी प्रजातंत्र का प्रवेश संभव हो सका है। उन्होंने भारतीय परम्परा एवं अपनी समकालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों का गहन अध्ययन तथा चिन्तन किया था और ऐसे में उनके द्वारा स्वीकार करना कि भारतीय राष्ट्रीयता का स्वरूप यूरोपीय राष्ट्रीयता से उत्पन्न हुआ है, इसे साहित्येतिहासकार की सजगता का प्रमाण माना जा सकता है, जिसमें राष्ट्रीय भावना के साथ परम्परा का आदर भाव भी छिपा दिखाई देता है, तो वहीं किसी अन्य परम्परा के स्वीकार का भाव एवं उसके प्रति ऋण का भाव भी। उन्होंने लिखा है - "राजकार्य

प्रधान रूप से राजकीय घरानों, ज़मींदारों और बड़े ताल्लुकेदारों के नियंत्रण में था। धीरे-धीरे व्यावसायिक वर्ग ने यह अनुभव किया कि राजसत्ता पर अधिकार जमाए बिना व्यापार सुविधा से नहीं चल सकता और यूरोप में सर्वत्र राजतंत्र शिथिल हो गया। इसी परिस्थिति में नवीन विचारधाराओं का जन्म हुआ, जिसे 'राष्ट्रीयता' कहते हैं। यूरोप में जन्मी हुई विचारधारा ने धीरे-धीरे भारत के विचारशील लोगों को भी प्रभावित करना शुरु किया। राष्ट्रीयता भारतवर्ष के लिए नवीन विश्वास थी।"[2] इस प्रकार समाज, साहित्य, संस्कृति एवं राजतंत्र के अतीत एवं वर्तमान का सही इतिहास आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत करने का प्रयास किया, इसमें कहीं किसी को 'देशज आधुनिकता' जैसी ऊल-जुलूल धारणाओं के प्रति प्रतिरोध दिखाई दे तो समझना चाहिए कि उन्हें भारतीय सामाजिक इतिहास का अध्ययन करने की आवश्यकता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से पूर्व छायावाद को रहस्यवाद एवं पलायनवाद से जोड़कर देखा जाता था, किन्तु आचार्य द्विवेदी ने छायावाद को राष्ट्रवाद से जोड़कर देखने का प्रयास किया। आचार्य द्विवेदी के चिन्तन में प्रत्येक साहित्यिक परिस्थिति एवं प्रवृत्ति के लिए समाज में पर्याप्त कारण मौजूद रहते थे। ऐसे में उन्होंने छायावाद की पृष्ठभूमि में तत्कालीन परिस्थितियों का गहन विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करना अनिवार्य समझा। उन्होंने छायावादी काव्य की सम्यक् समीक्षा कर उसे नवीन शिक्षा पद्धति की क्रान्ति का परिणाम बतलाया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है - "जिसके चित्त पर प्राचीनता का कोई संस्कार नहीं था और नवीन मान्यताओं और मूल्यों का बहुत मान था। इस शिक्षा पद्धति से शिक्षित नवयुवक अपने देश में अजनबी-सा था। उसके चित्त में रोमान्टिक अंग्रेजी साहित्य के व्यक्तिवाद की छाप थी, परन्तु बाह्य जगत् में उसका कोई सामंजस्य नहीं था। वह नवीन मूल्यों को अपनी भाषा में व्यक्त भी नहीं कर पाता था। संवेदनशील युवक के मन में यह बड़े ही अन्तर्द्वन्द्व का काल था। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का हिन्दी कविता में तो बीज-वपन हो ही चुका था, पर सही बात यह थी कि नवीन मानवतावादी स्वच्छन्दतावादी वैयक्तिक दृष्टि-भंगी को व्यक्त करने योग्य भाषा उपलब्ध नहीं थी।"[3]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास में साहित्य एवं उसकी युगीन आवश्यकता पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है। प्रगतिवादी साहित्य के मात्र दो पन्नों में किए गए विश्लेषण में

---

[2].हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.२०९

[3].वही, पृ. २३७-२३८

उन्होंने इसे रेखांकित करने का प्रयास किया है। साहित्य मात्र में प्रगतिशीलता को वे महत्व देते थे। प्रगतिवादी साहित्य की उत्पत्ति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है - "आरंभ में मानवतावाद मानव को शोषण और बन्धन से मुक्त करने के महान और उदार आदर्शों से चालित हुआ।"[4] वास्तव में यह प्रगतिवादी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि की व्याख्या है, किन्तु उनकी दृष्टि में फाँक तब नज़र आने लगती है, जब वे प्रगतिवाद एवं प्रगतिशीलता में अन्तर को सबल पुष्ट करना चाहते हैं। उन्होंने कहना चाहा - "नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम प्रगतिशील साहित्य है। इसी की एक निश्चित तत्ववाद पर आश्रित शाखा प्रगतिवादी साहित्य है। प्रगतिशील व्यापक शब्द है, किन्तु प्रगतिवाद एक निश्चित तत्ववाद को सूचित करता है।" उन्होंने आगे इसकी संभावनाओं को आशावादी दृष्टि से देखते हुए लिखा - "प्रगतिवादी आन्दोलन बहुत महान उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी संभावनाएँ अत्याधिक हैं।"[5] निःसंदेह साहित्य मात्र में प्रगतिशीलता के तत्व होते हैं, किन्तु ऐसे में प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रगतिवादी आन्दोलन से पूर्व साहित्य को इस नज़रिए से क्यों नहीं देखा गया? क्योंकि प्रगतिवाद एवं प्रगतिशील साहित्य न केवल एक-दूसरे के पर्याय हैं, अपितु यह एक ही साहित्यधारा के लिए प्रयुक्त शब्दावली है। इसमें यह कहना कि मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्य प्रगतिवादी है और इसके आभाव में लिखा गया साहित्य प्रगतिशील है, युक्तिसंगत नहीं होगा। ऐसे में तमाम साहित्य को प्रगतिशील मानना पड़ेगा, जो कि युगीन मूल्यों के अनुसार असंभव है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मानवतावादी दृष्टि चाहे ऐसा मानने का मौका देती हो, किन्तु यह साहित्येतिहास लेखन एवं उसके अध्ययन के लिए सर्वथा असंभव बात है। सभी साहित्यकारों को एक ही 'प्रगतिशीलता' के तराजू में नहीं तौला जा सकता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्येतिहास दृष्टि के सन्दर्भ में उनकी सर्वाधिक तुलना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि आचार्य द्विवेदी ने जो स्थापनाएँ साहित्येतिहास एवं उसमें आलोचना दृष्टि के सन्दर्भ में दी हैं, वह गाहे-बगाहे आचार्य शुक्ल की मान्यताओं के कहीं विपरीत जाती हैं तो कहीं वे पूरक बनकर प्रस्तुत होती हैं। यह मात्र संयोग नहीं है कि हिन्दी साहित्येतिहास के अधिकांश साहित्येतिहासकारों के मत प्रायः रीतिकाल तक के

---

[4].वही, पृ.२५८

[5].वही, पृ.२६१

साहित्य को लेकर ही टकराते थे। मानों वहीं तक साहित्येतिसकारों का अखाड़ा हो। आधुनिक कालीन साहित्य के सन्दर्भ में अधिकांश साहित्येतिहासकार या तो मौन हैं या फिर उसके सन्दर्भ में वे आपस में अधिक टकराते नहीं हैं। आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी के सन्दर्भ में भी यही बात होते हुए देखी जा सकती है। हिन्दी साहित्य का आरंभ, आदिकाल का नामकरण, भक्ति आन्दोलन के उद्भव, भक्तिकाल से रीतिकाल में साहित्यान्दोलन का विकास, शास्त्रीयता बनाम लोक दृष्टि, कबीर या अन्य सन्तों के सन्दर्भ में दृष्टि, तुलसीदास के काव्य के प्रति रुझान, लोककाव्य के प्रति झुकाव, रीतिकाव्य की भूमिका, साहित्य में श्रृंगारिकता आदि ऐसे ही बिन्दु हैं।

छायावाद को आचार्य शुक्ल की ही तरह, आचार्य द्विवेदी ने भी विदेशी प्रभाव माना है, जिसमें कुछ दृष्टि एवं विवेचन भेद अवश्य देखने को मिलता है। आचार्य द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि पर डॉ.रघुवंश ने कुछ स्थापनाएँ दी हैं, जिसमें उन्होंने आचार्य शुक्ल से उनकी तुलना की है। उन्होंने लिखा है, "द्विवेदी जी की सांस्कृतिक दृष्टि में सामाजिक सन्दर्भ का विशेष महत्व है, जिसे उन्होंने सामाजिक मानवतावादी के रूप में स्वीकार किया है।....रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी दोनों साहित्य के इतिहास को मानवीय परिवेश में रखकर देखते हैं और उस दृष्टि से १९ वीं शती के विधेयवाद और ऐतिहासिकता से प्रभावित हैं।अन्तर केवल यह है कि शुक्ल जी साहित्य को युगीन जीवन की क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में अथवा उसके प्रतिबिम्ब के रूप में स्वीकार करते हैं और द्विवेदी जी साहित्य को युग जीवन की सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में विवेचित करते हैं।"[6]

इन्हीं समकालीन इतिहासकारों की दृष्टि से अपना भेद स्पष्ट करने के लिए छायावादी कवियों ने आलोचना लिखना प्रारंभ किया था, जिसमें उन्होंने छायावाद के प्रति अपना नवीन दृष्टिकोण एवं अपनी ओर से कुछ कहना आरंभ किया था। इसमें जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' तक ने अपनी काव्यधारा के पक्षों को प्रस्तुत किया, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो क्या आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी भी न समझ पाए थे। अतः कहीं-न-कहीं इन इतिहासकारों ने अपने समकालीन साहित्य को समझने में भूलें की हैं। इसी क्रम में आचार्य शुक्ल ने छायावाद को समझने में भूल की थी, वैसे ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रगतिवादी आन्दोलन को पूर्ण रूप में न समझकर उसे प्रगतिवाद एवं प्रगतिशीलता के खाँचों में बाँट रहे थे। इतना होते हुए भी इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में आचार्य द्विवेदी की देन इस रूप में गिनाई जा सकती

---

[6].हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन-शिवकुमार, पृ.२१९

है - "आचार्य द्विवेदी वास्तव में भारतीय संस्कृति के इतिहासकार हैं। उसका निरुपण करने के लिए उन्होंने हिन्दी साहित्य को माध्यम बनाया है। वे शुक्ल परम्परा के इतिहासकार नहीं हैं, बल्कि उनकी सीमाओं से मुक्त हैं।"[7]

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के योगदान को चौथीराम यादव ने बड़े ही सटीक शब्दों में अभिव्यक्ति करते हुए लिखा है - "हिन्दी साहित्य को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने हिन्दी आलोचना को एक उदार मानवतावादी दृष्टि दी है। उनके इतिहासकार और आलोचक परस्पर ऐसे घुल-मिल गए हैं कि उन्हें एक-दूसरे से अलगाया नहीं जा सकता। स्वतंत्र चिन्तन, समाजशास्त्रीय विश्लेषण परम्परा से मूल्यांकन का सन्तुलित विवेक, गहरी कलात्मक अभिरुचि आदि उनके इतिहासकार-आलोचक की प्रेरक शक्ति हैं। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण वे अपने पूर्ववर्ती आलोचकों की अपेक्षा हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन में कहीं अधिक तटस्थ और सन्तुलित दिखाई देते हैं।"[8] अर्थात् साहित्येतिहास लेखन में आलोचना का ऐसा कनक-कुंण्डलवत् मिश्रण कि दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे में पूरी तरह घुल-मिल जाए और दोनों मिलकर एक ऐसी इतिहास-लेखन पद्धति का विकास करें, जो आगे आनेवाले इतिहास-ग्रंथों का पथ प्रदर्शित करे, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास लेखन की अनन्य विशेषता कही जा सकती है।

वर्तमान शोधों एवं उसके निर्वहन के चलते आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सामग्री को अपूर्ण माना जा सकता है, किन्तु आदिकालीन साहित्य और नाथ सम्प्रदाय के विकास एवं प्रदेय की उन्होंने जो व्याख्या की है, उसे सहसा झूठलाया नहीं जा सकता है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में वास्तविक दृष्टिकोण सम्बन्धी विकास आचार्य द्विवेदी के बाद ही संभव हो पाया है, जिसमें प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के साथ आधुनिक विचारों को भी लोकतांत्रिक पद्धति के समकक्ष मानते हुए साहित्य मूल्यांकन का प्रयास किया गया। आचार्य शुक्ल ने भी पाश्चात्य पद्धतियों का प्रयोग कई स्थानों पर किया है, किन्तु उसका जिस प्रकार का हिन्दीकरण एवं भारतीयकरण आचार्य द्विवेदी के साहित्येतिहास ग्रंथों एवं मान्यताओं-स्थापनाओं में देखने को मिलता है, जिसे अलग से चट छनकर बाहर नहीं निकाला जा सकता है, वैसा पूर्ववर्ती अन्य किसी भी साहित्येतिहासकार तो क्या

---

[7].धर्मयुग में इन्द्रनाथ मदान का लेख, अगस्त १९६४ पृ.०१

[8].आचार्य हजारी प्रसाद का साहित्य-डॉ.चौथीराम यादव, पृ.१२८

आलोचक के यहाँ भी देखने को नहीं मिलता है। यह भी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी साहित्येतिहास लेखन प्रदेय है।

४.२ आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास'

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव एवं विकास' का प्रकाशन सन् १९५२ ई. में हुआ। इसके बाद विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का दो भागों में लिखित 'हिन्दी साहित्य का अतीत' सन् १९५९ ई. में प्रकाशित हुआ। इसी बीच सन् १९४६ ई. में आचार्य चतुरसेन शास्त्री द्वारा लिखित 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' का प्रथम संस्करण लाहौर से प्रकाशित हुआ, जिसका द्वितीय संस्करण सन् १९४९ ई. में दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका मिश्रबन्धुओं में से पंडित श्याम बिहारी मिश्र एवं पंडित शुकदेव बिहारी मिश्र ने लिखी थी। संभवतः यह भी एक कारण है कि इस ग्रंथ में 'मिश्रबन्धु विनोद' की लम्बी प्रशस्ति गाई गई है।

आचार्य शास्त्री अपने पूर्ववर्ती साहित्येतिहास लेखन की परम्परा को हिकारत की नज़र से देखते हैं (वस्तुतः वे 'मिश्रबन्धु विनोद' की प्रशंसा करते हैं) और उनके पार जाने का भी दावा प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं - "इस ग्रंथ में मैंने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन प्रायः सब हिन्दी लेखकों की प्रचलित परम्परा का उल्लंघन करके अपने कुछ ऐतिहासिक दृष्टिकोण निर्धारित किए हैं और इनके समर्थन में इतिहास की सामाजिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि की सीमाएँ दी हैं।"[9]

जबकि इस ग्रंथ में 'मिश्रबन्धु विनोद की इतनी प्रशस्ति गाई गई है, ऐसे में मिश्रबन्धु द्वय ने भी भूमिका में इस ग्रंथ के गुण-गान गाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उन्होंने लिखा - "आचार्य का यह 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें उन्होंने अनेक नये सिद्धान्त जोड़े हैं, कई-कई गवेषणाओं का समावेश किया है, नए ऐतिहासिक दृष्टिकोण और गहन भूमिका स्थापित की है तथा इसे सब प्रकार से परिपूर्ण करने का प्रयास किया है।"[10] इतना ही नहीं, शास्त्री जी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को भी साहित्येतिहास नहीं मानते हैं। उन्होंने लिखा है - "पंडित रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी इतिहास नहीं है। वह ऐतिहासिक

---

[9].हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास-आचार्य चतुरसेन शास्त्री, दो शब्द, पृ.०१

[10].वही, भूमिका, पृ.०१-०२

दृष्टिकोण से लिखा ही नहीं गया।"[11] इस सन्दर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि यह भावावेश अथवा अति-क्रान्तिकारिता दिखाने का फल है।

भाषा-खण्ड, साहित्य सिद्धान्त खण्ड और भाषा तथा साहित्य विकास-खण्ड, इन तीन खण्ड़ों में लिखित इस इतिहास के ७३५ पृष्ठों में सतही रूप में साहित्य, साहित्यशास्त्र एवं भाषा शास्त्र का परिचय करवाया गया है। इसमें सन् ७५० ई. से हिन्दी साहित्य का आरंभ माना गया है, जो इतिहासकार के समकालीन समय सन् १९४५ ई. तक विवेचित किया गया है। नामकरण एवं काल-विभाजन प्रायः मिश्रबन्धु एवं आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास से प्रभावित है। आचार्य शुक्ल की ही तरह आरंभ में अपभ्रंश साहित्य का विवेचन किया गया है। इसके बाद किसी 'सौर युग' की सन् १५०३-१५७३ ई. के बीच कल्पना की गई है। भक्ति आन्दोलन का आन्दोलन के रूप में विवेचन इस साहित्येतिहास में देखने को नहीं मिलता। तुलसीदास के नाम से एक युग की परिकल्पना की गई है। सन् १७६२ ई. से आरंभ होकर सन् १८६७ ई. के बीच के साहित्य पर आंग्ल प्रभाव माना गया है, जो किसी भी अर्थ में सही नहीं कहा जा सकता है। क्या यह माना जाए कि रीतिकालीन कवि गेटे से प्रभावित होकर नायक-नायिका भेद लिख रहे थे या 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' से प्रभावित होकर 'हनुमन्नाटक' लिखा गया है?

साहित्येतिहासकार में आलोचक के गुण एवं तत्संबंधी सिद्धान्तों का परिचय होना चाहिए, किन्तु साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि से शास्त्री जी ने अपने पूर्वाग्रहों से काम लिया है। अपनी ऐतिहासिकता सिद्ध करने के फेर में उन्होंने कई ऐतिहासिक तथ्यों को अनदेखा कर दिया। जैसे सन्त-सूफी-कृष्णभक्ति साहित्य के अस्तित्व को ही उन्होंने नकार दिया। शास्त्री जी को इस बात का अन्दाज़ा भी नहीं रहा होगा कि जिस आचार्य शुक्ल के इतिहास को वे सिरे से नकार रहे हैं, आगे उसी पुस्तक के आगे उनका इतिहास नहीं टिक पाएगा। ऐतिहासिक गति में एक पुस्तक के अतिरिक्त उनके साहित्येतिहास का कोई मौलिक अर्थ नहीं रह गया, ऐसा केवल ऐतिहासक दृष्टि एवं तथ्यों में तालमेल के कारण ही नहीं हुआ अपितु साहित्येतिहास लेखन के लिए आवश्यक आलोचना दृष्टि के अभाव में भी हुआ है।

---

[11].वही, पृ.०२

४.३ बाबू गुलाबराय कृत 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास'

निबन्धकार बाबू गुलाब राय द्वारा सन् १९५२ ई. में लिखित 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' अपने शीर्षकानुरूप 'सुबोध' ही था। ऐसा लगता है बाबू गुलाबराय ने विद्यार्थियों को लक्ष्य करके इस इतिहास-ग्रंथ की रचना की थी, और यदि यह सही है तो उन्हें अपने कार्य में काफी सफलता मिली। ऐसा लगता था उनके आगे साहित्येतिहास की संकल्पना काफी स्पष्ट थी, जिसे उन्होंने विभिन्न साहित्येतिहास ग्रंथों के अध्ययन से अर्जित किया था। उन्होंने साहित्येतिहास को परिभाषात करते हुए लिखा है - "साहित्य के इतिहास में नामों की अपेक्षा प्रवृत्तियों और परिस्थितियों का अध्ययन अधिक आवश्यक है, क्योंकि उनके ही द्वारा विकास क्रम की श्रेणियाँ समझी जा सकती हैं। यद्यपि हमारा मूल ध्येय तो विकास क्रम का अध्ययन ही रहा है, तथापि यथासंभव नामों की भी उपेक्षा नहीं की गई है।"[12] इसके लिए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती इतिहासकार मिश्रबन्धु, आचार्य शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, डॉ.रामकुमार वर्मा तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का नमोल्लेख कर उनके प्रति श्रद्धापूर्वक आभार प्रदर्शित किया है।

अधिक मौलिकता के फेर में न पड़ते हुए इस ग्रंथ में हिन्दी भाषा का विकास एवं आदिकाल से लेकर सन् १९५० ई. तक के साहित्य का विकास क्रमशः प्रस्तुत किया गया है। इसी क्रम में नामकरण एवं काल-विभाजन पर भी ध्यान केन्द्रित नहीं किया गया है। कोई नई स्थापना देने का भी प्रयास इतिहासकार ने नहीं किया है। किन्तु अधिक तथ्यात्मक होने के कारण कई रचनाओं को अप्राप्य घोषित किया गया है। जैसे सूरदास के सन्दर्भ में उनका यह कथन दृष्टव्य है - "सूरदास जी के पाँच ग्रंथ बताए जाते हैं - १.सूरसागर, २.सूरसारावली, ३.साहित्य लहरी, ४.नल दमयन्ती, ५.व्याहलो। अन्तिम दो ग्रंथ अप्राप्य हैं और उनके सूर कृत होने में भी सन्देह है। इन दो ग्रंथों का उल्लेख मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी नवरत्नों' में है पर देखे उन्होंने भी नहीं हैं। 'सूरसागर' 'श्रीमद्भागवत्' की काव्यमयी छाया है, किन्तु अनुवाद नहीं।"[13] अन्तिम वाक्य में 'सूरसागर' की रचनात्मकता एवं उसकी परम्परा को पूर्ण रूप से व्यक्त किया गया है।

पाँचवा अध्याय तीन शीर्षकों में विभाजित है - 'नवीन युग', 'आधुनिक काल' तथा 'गद्यकाल'। भारतेन्दु का मौलिक, स्वतंत्र वर्णन नहीं, बल्कि नवीन युग में उनका परिचय देते हुए

---

[12].हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास-बाबू गुलाब राय, निवेदन

[13].वही, पृ.६२

इस काल के लेखकों का भी वर्णन कर दिया गया है। छठे अध्याय में क्रमशः नाटक, उपन्यास, कहानी एवं निबन्ध का विकास का परिचय देते हुए समालोचना को इन चार विधाओं की तुलना में अधिक सिरमौर माना गया है। हिन्दी की अन्य विधाओं की सूचना-चर्चा अपर्याप्त है और आगे 'नए युग' का विवेचन किया गया है। इसमें आधुनिक ब्रज भाषा के काव्य को स्थान दिया गया है। इसके बाद फिर से खड़ी बोली का आरंभ आदिकालीन कवियों से मानते हुए श्रीधर पाठक को इसका श्रेय देते हुए उन्होंने लिखा है - "भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने खड़ी बोली में कविता तो की किन्तु यह मुक्तकंठ से स्वीकार किया कि जितनी सुगमता ब्रज भाषा की कविता करने में है, उतनी खड़ी बोली की कविता करने में नहीं। क्रमशः यह विरोध कम हुआ और पण्डित श्रीधर पाठक, रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' और पण्डित नाथूराम शर्मा 'शंकर' आदि ने इसको अपनाया और खड़ी बोली में कविता की। इन सबमें पंडित श्रीधर पाठक को अधिक श्रेय है। वे ही खड़ी बोली की कविता के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं।"[14]

साहित्येतिहासकार ने छायावादी कविता को हिन्दी कविता में नई धारा बताया। जिसका प्रवर्तक जयशंकर प्रसाद को माना है, जो आगे चलकर तथ्यात्मक रूप में रमेशचन्द्र साह ने सिद्ध किया। इसके बाद दूसरी धारा के रूप में छायावाद को चिन्हित किया गया है, जिसमें राष्ट्रीयता एवं प्रगतिशीलता के साथ प्रयोगवादी कवियों का भी अनायास उल्लेख हुआ है। विविध काव्यधाराओं के साथ 'नवलेखन की नई दिशाएँ', 'हिन्दीतर प्रदेशों का हिन्दी साहित्य' जोड़कर साहित्येतिहास को और अधिक महत्त्वपूर्ण बनाया गया। विवेचन की दृष्टि से यह साहित्येतिहास अवश्य कहा जा सकता है किन्तु वर्णन की गंभीरता, साहित्येतिहास-दृष्टि की पुनरावृत्ति, गहराई एवं व्यापकता के अर्थ में इसे साहित्येतिहास का वह स्थान नहीं मिल पाया है।

४.४ डॉ.रामअवध द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा'

सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक शक्तियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की पीठिका को आधार बनाकर सन् १९५६ ई. में प्रकाशित डॉ.रामअवध द्विवेदी का इतिहास प्रकाशित हुआ। अपने विचारों की नवीनता का दावा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने भूमिका में लिखा है,

---

[14].वही, पृ.२२२

"हिन्दी साहित्य का यह संक्षिप्त इतिहास मेरे अपने विचार और दृष्टिकोण से उद्भूत है।"[15]

रामअवध द्विवेदी जी ने अपनी मौलिकता साहित्येतिहास के कालविभाजन में दिखाने का प्रयास किया। उन्होंने हिन्दी साहित्य का आरंभ अपभ्रंश काव्य से मानते हुए लिखा - "भाव-प्रवाह और हिन्दी साहित्य में न केवल साम्य है वरन् इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध भी है।....भाषा की दृष्टि से भी अपभ्रंश धीरे-धीरे विकसित होकर स्वाभाविक रूप से हिन्दी में परिवर्तित हो गई।"[16] उनकी इस मान्यता का प्रभाव उनके द्वारा किए गए काल विभाजन एवं नामकरण पर भी दिखाई देता है। उन्होंने हिन्दी के आदिकाल की परिकल्पना सन् ७००-१००० ई. के बीच मानते हुए उसे 'आदिकाल' का नाम दिया। इसके बाद सन् १०००-१३५० ई. के काल को आचार्य शुक्ल की तर्ज़ पर 'वीरगाथा काल' का शीर्षक दिया है। इसके बाद का आचार्य शुक्ल के इतिहास से सम्पूर्ण काल-विभाजन एवं नामकरण को जस-का-तस ग्रहण किया गया है। सन् १८५०-१८७५ ई. तक के समय को 'संधिकाल' के रूप में विवेचित किया गया है और इसी समय को आधुनिक काल के अन्तर्गत भी विश्लेषित किया गया है, इसके पीछे संभवतः यह कारण है कि मध्ययुगीनता एवं आधुनिकता के पीछे का अवधारणागत अन्तर समझाने के लिए साहित्येतिहासकार ने यह भिन्न अध्याय निर्मित किया है, जिससे साहित्येतिहास में सामाजिक-विज्ञान की अवधारणाओं का भी प्रवेश हो पाया है। अन्तरानुशासनिक अध्ययन के लिए यह साहित्येतिहास आरंभ बिन्दु माना जाए तो गलत न होगा। आधुनिक विभाग के रूप में ही क्रमशः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि शुक्लोत्तर साहित्येतिहासकारों के काल-विभाजन को परिमार्जित करते हुए भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावाद युग तथा इसके बाद के सन् १९३५ ई. तक के काव्य का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। ध्यान से देखा जाए तो यह काल-विभाजन पूर्ववर्ती साहित्येतिहासकारों के आधार पर होते हुए भी इसमें अधिक वैज्ञानिकता एवं तर्कसंगतता लाने का प्रयास किया गया है, जिससे सहमत-असहमत हुआ जा सकता है।

साहित्येतिहास में आलोचना-दृष्टि का परिचय देते हुए डॉ.रामअवध द्विवेदी जी ने कवियों के काव्य के प्रति अपनी स्थापनाएँ भी देने का प्रयास किया है। इन्होंने कबीर के काव्य को विभिन्न मतों और धर्मों का मिलन बिन्दु कहा है। उन्होंने कबीर की काव्य भाषा को पूर्वी तो नानक की

---

[15].हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास-भूमिका-डॉ.रामअवध द्विवेदी

[16].वही, पृ.१२

काव्य भाषा को पश्चिमी हिन्दी कहा है, जो कबीर की अपनी एक कविता में स्वीकारोक्ति के रूप में इस प्रकार आयी है -

मेरी बोली पूरबी ताहे लखि नहिं कोय।
मेरी बोली सो लखे, धुर पूरब का होय॥

इससे बढ़कर रामअवध जी सूफी प्रेमाख्यान काव्यों की परम्परा को फारसी की देन न मानते हुए उसे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा से जोड़ते हुए उसका इतिहास प्रस्तुत करते हैं, जिसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी मानते तो हैं, किन्तु उसकी परम्परा वे भी सिद्ध नहीं कर पाए थे। अपनी इस मान्यता को पुष्ट करने के लिए उन्होंने संस्कृत की प्रसिद्ध रचनाओं उदयन, शालिवहन और हाल आदि की प्रेमकथाओं को आधार बनाया हैं।

जिन कवियों का 'संधि काल' के अन्तर्गत विवेचन करते हैं, उन्हें पुनः 'भारतेन्दु युग' में भी विवेचन का विषय बनाते हैं। अन्य इतिहासकारों की भाँति रामअवध जी ने भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का जन्मदाता माना है। 'सरस्वती' के प्रकाशन एवं भाषा सुधार को लेकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है।

भले ही साहित्येतिहास लेखन की विशाल परम्परा में इसे मान्य इतिहास ग्रंथ न मानकर मात्र परिचयात्मक ग्रंथ माना गया हो, किन्तु साहित्येतिहास लेखन में काल-विभाजन एवं नामकरण तथा समाजवैज्ञानिक मान्यताओं को समाविष्ट करने का श्रेय इन्हें दिया जाना चाहिए।

४.५ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का साहित्येतिहास लेखन

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का साहित्येतिहास लेखन उनके चार ग्रंथों से पूर्ण होता है - सन् १९५९ ई. में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का अतीत' (प्रथम भाग), सन् १९६० ई. में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का अतीत' (द्वितीय भाग), सन् १९६३ ई. में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का सामायिक इतिहास' (सिंहावलोकन) और सन् १९७८ ई. में प्रकाशित 'वाङ्मय विमर्श'। 'हिन्दी साहित्य का अतीत' के प्रथम भाग में आदिकाल से लेकर भक्तिकाल तक के साहित्य का विचेचन है, द्वितीय भाग में केवल 'श्रृंगारकाल' तक को विवेचित किया गया है। 'हिन्दी साहित्य का सामयिक साहित्य' (सिंहावलोकन) में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर दिनकर तक के १७ साहित्यकारों के व्यक्तित्व-कृतित्व को विवेचन-विश्लेषण का विषय बनाया गया है। इस पुस्तक में साहित्य की विभिन्न

धाराओं एवं विविध विधाओं पर आलोचनात्मक लेखों का संग्रह किया गया है। उन्होंने इस पुस्तक के लेखकीय निवेदन में लिखा है - "प्रस्तुत पुस्तक समय-समय पर लिखे गए मेरे लेखों का संग्रह है।"[17]

'वाङ्मय विमर्श' में १) काव्य, २) शास्त्र, ३) साहित्य का इतिहास, ४)भाषा विज्ञान और ५) नागरी लिपि शीर्षक कुल पाँच उप-खण्डों में, भाषा तथा साहित्य के इतिहास को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। वैसे आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के 'अतीत' के दो भागों के अतिरिक्त अन्य दो पुस्तकों को तकनीकी रूप में साहित्येतिहास नहीं माना जा सकता है, किन्तु उनकी साहित्येतिहास सम्बन्धी मान्यताओं को विस्तृत रूप देने के क्रम में यह ग्रंथ भी महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने साहित्येतिहास ग्रंथों में प्रायः पूर्ववर्ती साहित्येतिहासकारों के नामकरण एवं काल-विभाजन को स्वीकृत किया है, किन्तु कई स्थानों पर अपने युगानुरूप उन्होंने इसमें बदलाव भी किए हैं। जैसे भक्तिकाल के नामकरण एवं उसकी समय-सीमा के साथ उसके आचार्य शुक्ल द्वारा किए गए उप-विभाजन, निर्गुण-सगुण, ज्ञानाश्रयी-प्रेमाश्रयी और कृष्णभक्ति-रामभक्ति को यथावत् स्वीकार किया, वहीं उन्होंने रीतिकाल को 'श्रृंगारकाल' नाम दिया है। नामकरण के सन्दर्भ में बड़े ही रोचक ढंग से टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है - "यदि प्रत्येक युग का नाम रस या मनोवृत्ति के विचार से रखा जाए तो रीतिकाल का नाम 'श्रृंगारकाल' और आधुनिक काल का नाम 'प्रेमकाल' रखना विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है।"[18] और उन्होंने इसी प्रकार नामकरण किया है। आगे 'प्रेमकाल' को आदि, मध्य और साम्प्रतिक काल को क्रमशः भारतेन्दु, द्विवेदी और वर्तमान युग के रूप में चिन्हित किया गया है। 'अतीत' के दोनों भागों के सन्दर्भ में डॉ.शिवकुमार ने लिखा है - "इसमें सन्देह नहीं कि ग्रंथ में साहित्येतिहास की सामग्री को युगों में विभाजित करके प्रस्तुत किया गया है तथा इसमें हिन्दी साहित्य की मध्यकालीन धाराओं, प्रवृत्तियों तथा परम्पराओं एवं कवियों का कालक्रम से विवेचन किया गया है। इसलिए ग्रंथ को साहित्यिक इतिहास का रूप देने का प्रयत्न किया गया है।"[19]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के साहित्येतिहास लेखन में अतीत के प्रति अत्यन्त मोह एवं साहित्य पर अत्याधिक विश्वास दिखाई देता है, जिसमें तार्किकता से अधिक भावुकता है।

---

[17].हिन्दी का सामयिक साहित्य (सिंहावलोकन) – आचार्य विश्वाथ प्रसाद मिश्र, पृ.०१

[18].वाङ्मय विमर्श-आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.२४०

[19].हिन्दी साहित्य का इतिहास-दर्शन, - डॉ.शिवकुमार, पृ.२३३

उनके अनुसार, "साहित्य अतीत से अनुराग करता है-प्रधान रूप से।"[20] "क्योंकि साहित्य तो मुक्ति का मार्ग है और वर्तमान युग में मुक्ति की साधना साहित्य ही कर सकता है।"[21] साहित्य पर विश्वास एक भिन्न वस्तु है, किन्तु उस पर अतिविश्वास करना एवं उसके लिए अतीत की खिड़कियों में झाँकना भावुकता का चरमोत्कर्ष है। मुक्तिबोध के शब्दों में कहा जाए तो, "साहित्य में प्रकाश ही प्रकाश है । किन्तु हमें प्रकाश में सत्यों को ढूँढ़ना है । हम केवल साहित्यिक दुनिया में नहीं वास्तविक जीवन में रहते हैं । इस जगत् में रहते हैं । साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है ।"[22]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैन-साहित्य के प्रति पूर्वाग्रहयुक्त दृष्टिकोण रखते थे। उन्होंने जैन-साहित्य को साहित्य ही मानने से इनकार करते हुए लिखा है - "जैनों का साहित्य अपभ्रंश भाषा की दृष्टि से कृत्रिम है और साहित्य की स्वाभाविक सरणि सर्वसामान्य भाव-सत्ता से पूर्ण सम्बद्ध नहीं है, जन मानस का प्रकृत बिम्ब उसमें प्रतिबिम्बित नहीं है। इसलिए उसका विस्तार से विवेचन हिन्दी साहित्य की सहज विकसित परम्परा से पृथक् पड़ता है। वह स्वयं संस्कृत साहित्य से भले ही प्रभावित हो, पर उसने परवर्ती हिन्दी साहित्य को प्रभावित नहीं किया।"[23] यह साहित्य के प्रति ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव का ही कारण कहा जाएगा कि साहित्येतिहासकार जैन साहित्यकारों का हिन्दी साहित्य के विकास में योगदान नहीं मानता जबकि नामवर सिंह ने अपने सन् १९५२ ई. में प्रकाशित शोध-ग्रंथ 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' में इसकी एक पूर्ण परम्परा का उल्लेख किया है।[24]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कुछ इसी प्रकार का दृष्टि-दोष भक्तिकाल एवं रीतिकाल की तुलना के सन्दर्भ में देखने को मिलता है। उन्होंने रीतिकाल को भक्तिकाल का समतुल्य मान लिया था। रीतिकालीन और भक्तिकालीन साहित्य की आलोचना के सन्दर्भ में उनका विचार था कि, "सबसे पहले यही देखना चाहिए कि रीति युगीन साहित्य जन-सम्पर्क का साहित्य है या नहीं। हिन्दी में रीतियुगीन साहित्य भक्ति साहित्य के समानान्तर बनने लगा था। दिखाई यही पड़ता है कि

---

[20].हिन्दी साहित्य का अतीत (प्रथम भाग)-आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.२७

[21].हिन्दी साहित्य का अतीत (प्रथम भाग)-आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.२५

[22].एक मित्र की पत्नी का प्रश्न-चिन्ह शीर्षक लेख- मुक्तिबोध

[23].हिन्दी साहित्य का अतीत (प्रथम भाग)-आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.१४

[24].हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग-नामवर सिंह, ने इसका विस्तृत विवेचन पृ.१५९-२१५ के बीच किया है।

भक्ति का साहित्य यदि जन सम्पर्क का अभिलाषी था तो रीति साहित्य भी उसी के संसर्ग का इच्छुक था।"[25] पता नहीं आचार्य जी को रीतिकालीन काव्य में ऐसी अभिलाषा के दर्शन कहाँ हुए थे। वैसे देखा जाए तो भक्तिकालीन साहित्य जन सम्पर्क का अभिलाषी नहीं था। जन सम्पर्क की आवश्यकता पड़ती है, जो जनता से नहीं उसके दूसरे छोर से निकला हो, किन्तु भक्तिकालीन साहित्य तो जनता द्वारा ही लिखा जा रहा था, ऐसे में उसे जनसम्पर्क की नहीं, उसे टिकाए रखने की अभिलाषा हो सकती है। रीतिकालीन साहित्य में तो 'आगे के सुकबि रीझिहैं तौ कविताई न तौ, राधिका-कान्हाई सुमिरन को बहानौ है' की भावना थी, वे तो भावनाओं-संवेदनाओं के काव्य को तो 'ढेला' मात्र मानते थे, जिसे दरबार में फेंक दिया जाता है। ऐसे में किस जन-सम्पर्क की अभिलाषा की बात आचार्य कर रहे हैं, वे ही जानें। मात्रा की दृष्टि से तो बहुत सारा साहित्य रीतिकाल में लिखा गया, किन्तु जन-सम्पर्क या लोक की दृष्टि से उसमें न तो व्यापकता है और न वह गहराई जो भक्तिकालीन काव्य में सहज रूप में देखने को मिलती है।

भक्तिकालीन उप-धाराओं की तुलना के सन्दर्भ में भी आचार्य विश्वनाथ प्रसाद की इतिहास-दृष्टि चूकती हुई दिखाई देती है। उन्होंने तुलसीदास की महानता को उनके काव्य तथा उसके सामाजिक तत्व के अतिरिक्त उनके द्वारा मूर्ति की स्थापना के माध्यम से देशोद्धार में माना है। कृष्ण भक्ति तथा उससे सम्बन्धित काव्य के प्रति उनका विचार था - "सामाजिक मर्यादा का सत् स्वरूप दिखाई पड़ा। ...कृष्ण भक्ति शाखा ने सात्विक प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करके जीवन में फैले या फैलने वाले बाजारू प्रेम या लोभ की व्यभिचारी वृत्ति का उन्मूलन किया।"[26] किन्तु मैनेजर पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'भक्तिकाल और सूरदास का काव्य' में ठीक इसके विपरित मत प्रस्तुत किए हैं, जहाँ सूरदास द्वारा इसी प्रेम के माध्यम से अपनी गोपिकाओं की स्वच्छन्दता को रेखांकित किया गया। इसी प्रकार सन्त साहित्य के सन्दर्भ में उनका मत था, "जो हो, इन सन्तों को समाज सुधारक कहना ठीक नहीं प्रतीत होता। समाज सुधारक वही कहा जा सकता है, जो समाज को मानने वाला और समाज की रक्षा को माननेवाला है। ये सन्त समाज को ही नहीं मानते हैं, इनकी साधना सामाजिक साधना न होकर वैयक्तिक साधना थी....। इन सन्तों के वचन जगत् में

---

[25].हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग दो)-आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.४११

[26].वही, पृ.१३९

प्रवृत्त करनेवाले नहीं हैं। इसलिए ये समाज सुधारक नहीं कहे जा सकते।"[27] पहली बात तो साहित्येतिहास समाज सुधारक की निश्चित करने के लिए नहीं होता है। दूसरी बात तो यह है कि सन्तों की सामाजिकता को समझने में आचार्य विश्वनाथ जी ने बड़ी भूल की थी और इसे अलग से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ जी ने हिन्दी साहित्य के रीतिकाल तक के साहित्येतिहास को प्रस्तुत करने का प्रयास किया, किन्तु कड़े परिश्रम के बावजूद वे हिन्दी साहित्येतिहास के क्षेत्र में कुछ विशेष नहीं कर पाए। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल को वे इतिहास के रूप में प्रस्तुत न कर सके। अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों की भाँति उन्होंने भी प्रायः अपने समकालीन साहित्य को अनदेखा ही कर दिया।

४.६ सत्यकाम वर्मा कृत 'हिन्दी साहित्यानुशीलन'

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में जिस प्रकार आचार्य शुक्ल का इतिहास सर्वसम्मति पाकर मुखर हुआ, आगे में यही स्थिति आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास लेखन की भी हुई। इसी रूप में सत्यकाम वर्मा ने अपना साहित्येतिहास लिखा, जिसे उन्होंने साहित्य का इतिहास न कहते हुए 'साहित्यानुशीलन' कहा। उनकी मान्यताओं में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यताओं का विरोध मुखर रूप में देखने को मिलता है। सत्यकाम वर्मा ने अपने साहित्येतिहास में आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी दोनों से भिन्न स्थापनाएँ देने का प्रयास किया है। इन्हीं आधारों को प्रस्तुत करनेवाला उनका ग्रंथ 'हिन्दी साहित्यानुशील' सन् १९६२ ई. में प्रकाशित हुआ।

सत्यकाम वर्मा ने आदिकाल को लोकोन्मुखी साहित्य कहते हुए उसकी समय-सीमा सन् १०००-१४०० ई. मानी है। ऐसे में उनके द्वारा प्रस्तावित भक्तिकाल और रीतिकाल का क्रमशः नामकरण 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' एवं 'काव्यविलास का साहित्य' नामकरण एक भ्रम पैदा करता है। क्योंकि जिसे वे लोकोन्मुखी साहित्य कह रहे हैं, उसमें राष्ट्र एवं समाज का वह मुखर रूप नहीं देखने को मिलता, जैसा भक्तिकालीन साहित्य में जातीय चेतना का विकास देखने को मिलता है। रीतिकाव्य मात्र 'काव्यविलास का युग' नहीं है, अपितु वह साहित्य की एक परिवर्तनशील धारा है, जो ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन है। वर्मा जी आधुनिक काल का आरंभ सन् १९०३ ई. से

---

[27].वही, पृ.१४६

मानते हुए उसे 'उत्क्रान्ति काल' नाम देते हैं, जिसके अन्तर्गत 'उत्क्रान्ति युग', 'नवदृष्टि युग' एवं 'यथार्थयुग' नाम से अपने समकालीन साहित्य तक का अनुशीलन किया गया है। इन तीनों कालों को फिर उन्होंने दो-दो विभागों में बाँटा है। जो किसी भी तर्क से हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में स्वीकार्य नहीं हो सकता है।

आदिकालीन साहित्य के सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल की मान्यताओं का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है, "वीरकाव्यों को मुस्लिम आक्रमण की प्रतिक्रिया में प्रशंसा गीत मात्र समझना, भक्तिकाल को इसाई प्रभाव, मुस्लिम प्रतिक्रिया या असहाय और दीन अवस्था में एकमात्र आश्रय की खोज से उत्पन्न समझना तथा इसी प्रकार की कई भ्रान्तियाँ इसी प्रादेशिकता व एकांगिता के कारण उत्पन्न हुईं।"[28] आगे उन्होंने इस सन्बन्ध में दिए गए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतों का खुलकर समर्थन किया है।

डॉ.सत्यकाम वर्मा ने साहित्य की प्रवृत्तियाँ एवं उसमें आनेवाले परिवर्तनों की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "बल्लातोल की राष्ट्रीय कविता हो या त्यागराजम् का भक्ति संगीत, तुलसी, वाल्मीकि और 'कम्ब रामायण' हो या कालिदास का शाकुन्तलम्, नामदेव की मधुर भक्ति हो या भागवत की रासपंचाध्यायी की रासलीला, रवीन्द्र की अन्तर्राष्ट्रीयता हो या बंकिम की राष्ट्रीयता, शरत् और प्रेमचन्द की मानवता हो या यशपाल का झलकता साम्यवाद, दयानन्द और राममोहन के उत्तेजक प्रयत्न हों या गाँधी और विनोबा के शान्त विद्रोह, पन्त व महादेवी की कोमलता हो या निराला, नवीन और दिनकर की योग्यता, सूर की आन्तरिकता हो या प्रसाद की अन्तर्बहिः की सामंजस्यपूर्ण भावना, युग की गतानुगतिकता के प्रति विद्रोह सदा और सार्वत्रिक रहा है।"[29] इस उद्धरण से समझा जा सकता है कि उन्होंने अपने साहित्येतिहास ग्रंथ को 'साहित्यानुशीलन' शीर्षक सही दिया था। उनकी दृष्टि साहित्य के इतिहास को प्रस्तुत करने से अधिक उसमें हुई भूलों-त्रुटियों को सुधारने की ओर अधिक लगी हुई थी।

४.७ राजकिशोर त्रिपाठी कृत 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास'

डॉ.रामकुमार वर्मा के 'आलोचनात्मक साहित्य' और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के

---

[28].हिन्दी साहित्यानुशीलन-सत्यकाम वर्मा, पृ.२६-२७

[29].वही, पृ.२५

'हिन्दी साहित्य का अतीत' (दो भाग) की तरह राजकिशोर त्रिपाठी द्वारा सन् १९६३ ई. में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' भी मध्यकाल तक के ही हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करता है। इस ग्रंथ का शीर्षक भी सन् १९५३ ई. में देवीशरन रस्तोगी द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' से लिया जान पड़ता है।

इसके नामकरण एवं काल-विभाजन की चर्चा यहाँ करना स्थान की व्यर्थता होगी, क्योंकि इतिहासकार ने इसमें किसी भी तार्किकता एवं हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम का कहीं भी ध्यान नहीं रखा है। विषय-प्रवेश में बारह अध्यायों का उल्लेख किया गया है, वे हैं - "१.हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री, २.साहित्य के इतिहास का उद्देश्य, ३.संस्कृत साहित्य और हिन्दी साहित्य, ४.सांस्कृतिक चिन्तन परम्परा, ५.निर्गुणिया सन्त तथा सगुणोपासक भक्त, ६.हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास, ७.हिन्दी साहित्य के आदिकाल की पृष्ठभूमि, ८.हिन्दी साहित्य के पूर्वमध्यकाल के साहित्य की पृष्ठभूमि, ९.प्रेमाख्यान काव्य, १०.हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल या रीतिकाल, ११.हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल (नवजागरण युग), १२.उपसंहार।"[30]

उपर्युक्त विषय-सूची के साथ हिन्दी साहित्य के इतिहास का वर्णित क्रम, स्वरूप अत्यन्त अतार्किक है। आदिकाल के अन्तर्गत अपभ्रंश, जैन के बाद पुरानी हिन्दी में डिंगल, नाथ एवं विद्यापति का साहित्य विवेचित करके आदिकाल को अव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है। पूर्वमध्यकाल में भक्ति का विकास दिखाकर निर्गुणिया सन्त परम्परा, सूफी प्रेम परम्परा के बाद सगुण राम भक्ति परम्परा एवं कृष्णभक्ति काव्य परम्परा का वर्णन करके अर्थों की सूची प्रस्तुत कर दी गई है, जबकि विषय-प्रवेश की सूची के अनुसार उत्तर मध्यकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल का भी वर्णन होना चाहिए।

संवत् १००० विक्रमी से आदिकाल का प्रारंभ मानने वाले डॉ.त्रिपाठी सरहपा से इसकी शुरुआत करते हैं और इसमें आदिकाल, भक्तिकाल के प्रतिनिधि रचनाकारों के अलावा अन्य कवियों का भी विशद वर्णन करके साहित्यिक प्रवाह को बाधित कर कर देते हैं। सगुण राम भक्ति परम्परा को लगभग ७५ पृष्ठों में मूल्यांकित करके तुलसीदास को स्थापित करने का प्रयास किया गया है। लेखक को जहाँ से जो सामग्री मिली, उसे जाँचे-परखे बगैर स्वीकार कर लिया। यही कारण

[30].हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, विषय-सूची-डॉ.राजकिशोर त्रिपाठी, पृ.०१-०३

है कि आचार्य शुक्ल की सूक्ष्म विवेचन पद्धति के आगे इनकी साहित्येतिहास लेखन पद्धति बौनी लगती है। पूरा ग्रंथ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के 'वाङ्मय विमर्श' की पद्धति पर लिखा गया है। मिश्र जी की भाँति इन्हें भी इसका नामकरण 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' नहीं रखना चाहिए था, क्योंकि इसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास का क्रमगत विकास नहीं दिखाया गया है। अतः इसे 'भारतीय वाङमय' व 'साहित्यिक विमर्श' ही कर देना चाहिए था, क्योंकि इसमें हिन्दी साहित्य के विकास का स्वरूप दिखाई नहीं देता है। इसमें अनेक विषयों के मिलने से गड्मड् की स्थिति पैदा हो गई है। विवेचन में त्रिपाठी जी का वैदुष्य झलकता है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव भी सम्पूर्ण इतिहास में खटकता है। साहित्येतिहासकार ने कहीं भी साहित्येतिहास की व्याख्या अथवा उसे स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया है, किन्तु उन्होंने अपने इतिहास को 'विवेचनात्मक' शीर्षक क्यों दिया, इस सन्दर्भ में सविस्तार चर्चा की है। कालों के नामकरण एवं उसके विभाजन से यह ग्रंथ दूरी बनाए रखता है। यह ग्रंथ सही अर्थों में अपूर्ण और अधूरा इतिहास ही सिद्ध होता है, अपनी काल-सीमा में सामग्री प्रस्तुत करने में भी, विवेचन में भी, साहित्येतिहास-दृष्टि में भी और मध्यकाल तक अपने आप को सीमित करने के कारण भी।

४.८ डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त कृत 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' सन् १९६५ ई. में प्रकाशित हुआ, जिसके साथ हिन्दी में आचार्य शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद तीसरे हिन्दी साहित्येतिहास लेखन सम्बन्धी दृष्टिकोण का विकास संभव हो पाया। यह ग्रंथ अपने पूर्ववर्ती साहित्येतिहासकारों से भिन्न स्थापनाओं को लेकर काफी चर्चा में रहा। इसमें उन्होंने इतिहास लेखन की विधेयवादी प्रणाली और आचार्य द्विवेदी की मानवतावादी संस्कृतिमूलक प्रणाली से भिन्न विकासवादी पद्धति के द्वारा हिन्दी साहित्य का नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया। अपने इतिहास के प्राक्कथन में इस विकासवादी पद्धति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, "दूसरी ओर साहित्य के क्षेत्र में अभी तक कोई विकासवादी सिद्धान्त सुप्रतिष्ठित नहीं है। ऐसी स्थिति में मेरे सामने समस्या थी कि मैं किस सिद्धान्त का अनुगमन करूँ। इसके लिए मैंने विभिन्न क्षेत्रों के प्रतिनिधि सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर एक ऐसे सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है, जिसे विकासवाद का सामन्य या सार्वभौमिक (यूनिवर्सल)

सिद्धान्त कहा जा सके तथा जिसे अन्य क्षेत्रों के साथ-साथ साहित्य पर भी लागू किया जा सके। यह नवप्रतिष्ठित सिद्धान्त पाँच सूत्रों में प्रस्तुत है - १.प्राकृतिक सृजनशक्ति, २.परम्परा, ३.वातावरण, ४.द्वन्द्व और ५.सन्तुलन। संक्षेप में, विकास की प्रत्येक क्रिया के मूल में कोई-न-कोई प्राकृतिक सृजन शक्ति निहित रहती है, जो परम्परागत तत्वों एवं सामयिक वातावरण के पारस्परिक द्वन्द्व से उद्दित एवं प्रेरित होकर तब तक सक्रिय रहती है, जब तक कि द्वन्द्व के उभय पक्षों में सन्तुलन स्थापित नहीं हो जाता। सन्तुलन स्थापना ही विकास-प्रक्रिया का चरम लक्ष्य है, जिसकी उपलब्धि के अनन्तर विकास की एक आवृत्ति पूर्ण हो जाती है तथा सृजन शक्ति तब तक के लिए शान्त एवं निष्क्रिय हो जाती है, जब तक कि परिस्थिति भेद से उसका सन्तुलन पुनः भंग न हो जाए।"[31]

डॉ. गुप्त ने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में पहली बार साहित्यिक विकास के सम्पूर्ण क्रम को सूत्रीकरण (Theorized) करने का स्तुत्य प्रयास किया है, किन्तु उनकी इस मान्यता में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'विरोधों का सामंजस्य' वाली सांस्कृतिक धारणा की प्रतिध्वनि एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'स्वाभाविक विकास' वाली मान्यता की पुनरावृत्ति दिखाई दे तो कोई गलत नहीं होगा। असल में उन्होंने सूत्रीकरण के प्रयास में यह भुला दिया है कि साहित्य का विकास हमेशा समाज के विकास पर निर्भर नहीं करता है। कई बार साहित्य का विकास समाज के विकास के रुक जाने पर भी अनवरत रूप से जारी रहता है, किन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि समाज के लगातार विकसित होने पर भी साहित्य का विकास अपनी गति से ही चलता रहता है। समाज एवं साहित्य के विकास को अन्योन्याश्रित मानना नितान्त भूल होगी। इसके उदाहणस्वरूप हम हिन्दी में उपन्यास साहित्य के विकास को ले सकते हैं, जहाँ उसे अपने आरंभिक चरण में राष्ट्रवादी होना चाहिए था, किन्तु वह संस्कृति की रक्षा एवं सुधारवाद में लगा हुआ था, वहीं उसमें स्वाभाविक रूप से प्रेमचन्द के युग तक आते-आते यथार्थवाद एवं आदर्शवाद का योग्य मिश्रण हुआ और उसका समकालीन विकास संभव हो सका।

वे अपनी इतिहास-दृष्टि को स्पष्ट करते हुए अपने इतिहास ग्रंथ के प्राक्कथन में लिखते हैं - "इतिहास का सम्बन्ध अतीत की व्याख्या से है तथा प्रत्येक व्याख्या के मूल में व्याख्याता का दृष्टिकोण अनुस्यूत रहता है। प्रस्तुत इतिहास में प्रयुक्त दृष्टिकोण को 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' की संज्ञा

[31].हिन्दी साहित्य का वैग्यानिक इतिहास-प्राक्कथन-डॉ.गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ.५४

दी जा सकती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी पुष्ट सिद्धान्त या प्रतिष्ठित नियम के आधार पर वस्तु की तथ्यपरक, सर्वांगीण एवं बौद्धिक व्याख्या सुस्पष्ट शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।"[32]

इतिहास केवल अतीत की व्याख्या से सम्बन्धित नहीं होता है, वस्तुतः अतीत के साहित्य की वर्तमान में उपयोगिता पर भी वह भाष्य करता है। इतिहास के ज्ञान के बिना वर्तमान साहित्य अंधा होता है तो वर्तमान बोध के बिना इतिहास लेखन भी देख नहीं पाता है। वैज्ञानिकता से क्या अभिप्राय है? इसे अधिक विस्तार से समझाया जाता तो बेहतर होता, क्योंकि वैज्ञानिकता वस्तुनिष्ठता की माँग करती है और वस्तुनिष्ठता 'ही' वादी होती है, जबकि साहित्य 'भी' वादी होता है। इसमें अन्तिम एवं सर्वकालिक सत्य नहीं होता है, उसी क्रम में साहित्येतिहास में साहित्यकारों की स्थिति बहुत कुछ वर्तमान कालीन परिस्थितियों से तय होती है। वर्तमान ही यह तय करता है कि इतिहास का कौन-सा रचनाकार कितना मूल्यवान है? इस रूप में इतिहास ही वर्तमान को प्रभावित नहीं करता, अपितु वर्तमान भी इतिहास में रचनाकारों की स्थिति तय करता है। अतः इतिहास को वैज्ञानिकता के कटघरे में नहीं बाँधा जा सकता है। यह डॉ.गणपति चन्द्र गुप्त की अपनी वैयक्तिक दृष्टि हो सकती है, किन्तु सार्वभौम इतिहास दृष्टि नहीं।

अपनी वैज्ञानिक दृष्टि के साथ जिस ऐतिहासिक दृष्टि से सम्बन्धित पाँच सिद्धान्तों द्वारा हिन्दी साहित्य का विकासात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह प्रमुखतः तीन रूपों में प्रकट हुआ है - "साहित्य का विकास मुख्यतः तीन दिशाओं में होता है - साहित्य रूपों का विकास, साहित्य की आन्तरिक प्रवृत्तियों का विकास एवं साहित्य के गुणों (विशुद्ध साहित्यिक तत्वों या मूल्यों) का विकास। इस दृष्टि से साहित्य के विकास के तीन विशिष्ट भेदों का भी विवेचन विश्लेषण अलग-अलग अध्यायों में करते हुए अनेक नये निष्कर्षों एवं सिद्धान्तों की स्थापना की गई।"[33]

अपने प्राक्कथन में हिन्दी साहित्य के 'आविर्भाव काल' में हिन्दी का पहला प्रामाणिक काव्य मुनि शालिभद्र सूरि कृत 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' जो सन् ११८४ ई. में लिखित माना गया है। क्योंकि वे इसी से हिन्दी में धार्मिक रास काव्यों की भी एक अविच्छिन्न परम्परा का सूत्रपात समझते हैं। आचार्य शुक्ल की विचार परम्परा का निर्वहण करते हुए डॉ.गुप्त भी 'अपभ्रंश काल'

---

[32].वही, पृ.५३

[33].हिन्दी साहित्य का वैग्यानिक इतिहास-प्राक्कथन-डॉ.गणपति चन्द्र गुप्त, पृ.०७

का समावेश हिन्दी साहित्य में नहीं करते हैं। वे 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' से ही हिन्दी साहित्य का आरंभ मानते हैं और आचार्य द्विवेदी हिन्दी साहित्य का वास्तविक आरंभ भक्तिकाल से मानते हैं। उन्होंने अपभ्रंश को हिन्दी से पृथक् करके मूल्यांकन करने का प्रस्ताव रखते हुए कहा है - "यदि अपभ्रंश और हिन्दी को एक मानते हैं तो निश्चय ही हमें सरहपाद को हिन्दी का पहला कवि स्वीकार करते हुए हिन्दी साहित्य का आविर्भाव काल ७ वीं शती से मानना होगा तथा अपभ्रंश से सभी कवियों को हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान देना होगा, वस्तुतः भाषा वैज्ञानिक, साहित्यिक तथा व्यावहारिक सभी दृष्टियों से अब अपभ्रंश की हिन्दी से भिन्नता सिद्ध हो गई है।"[34] जिस रूप में आचार्य गुप्त हिन्दी और अपभ्रंश की विभिन्नता स्थापित करते हैं, उसे राहुल सांकृत्यायन नहीं मानते हैं, यही कारण है कि उन्होंने सरहपाद को ही हिन्दी का पहला कवि माना था।

उन्होंने साहित्यिक प्रवृत्तियों के काल-विभाजन एवं नामकरण की अपेक्षा हिन्दी साहित्य को प्रारंभिक काल (११८४०१३५०ई.), मध्यकाल (१३५०-१८५७ ई.) और आधुनिक काल (१८५७-अब तक) के सरल ऐतिहासिक काल-खण्डों में विभाजित कर दिया। साहित्यिक प्रवृत्तियों में व्यापकता और संभावनाओं की खोज करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण मध्यकालीन काव्यधारा को आचार्य शुक्ल की भाँति ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, रामकाव्य, कृष्णकाव्य और रीतिकाव्य शीर्षक उप-धाराओं में विभाजित किया, जिन्हें वे पुनः "सन्त काव्य परम्परा, पौराणिक प्रबंध-काव्य-परम्परा, पौराणिक गीति काव्य-परम्परा, रसिक भक्ति काव्य परम्परा, ऐतिहासिक रासो काव्यपरम्परा, ऐतिहासिक चरित्र काव्य परम्परा, ऐतिहासिक मुक्तक काव्य परम्परा, मैथिली गीति परम्परा, शास्त्रीय मुक्तक काव्य परम्परा, रौमैन्टिक काव्य परम्परा और स्वच्छन्द मुक्तक काव्य परम्परा"[35] के उप-शीर्षकों में विभाजित किया। इस रूप में विभाजन के कारण किसी भी धारा अथवा प्रवृत्ति इतिहास के विश्लेषण क्रम में छूट न पाए, इसका ध्यान रखा गया है और इसी कारण उन्होंने काल का नामकरण करते समय प्रारंभिक, मध्य, आधुनिक की पद्धति अपनायी, प्रवृत्तिनुसार नामकरण की अपेक्षा।

इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा है, उत्तर-मध्यकाल की परम्पराएँ "सामान्यतः उत्तर-मध्यकाल के अन्त या आधुनिक काल के आरंभ तक प्रचलित रही है। उन परम्पराओं में मुख्यतः तीन

---

[34].वही, पृ.५४

[35].वही, पृ.०९

उल्लेखनीय हैं - १.रसिक भक्ति काव्य परम्परा, २.शास्त्रीय मुक्तक काव्य (रीतिकाव्य) परम्परा और ३.स्वच्छन्द काव्य परम्परा। कहना न होगा कि यह तीनों परम्पराएँ क्रमशः धर्माश्रय, राजाश्रय और लोकाश्रय में विकसित हुई थीं, जिसमें क्रमशः भक्ति एवं श्रृंगार के विकृत रूपों तथा प्रेम के स्वच्छ रूप के प्रदर्शन होते हैं। वस्तुतः भक्ति, श्रृंगार एवं प्रेम की प्रवृत्तियों का उन्मीलन एवं विकास पूर्व मध्यकाल में ही समुचित रूप में हो चुका था। अतः इस काल के अन्त तक आते-आते उनकी ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रकट होना स्वाभाविक था।"[36] संक्षेप में आचार्य गुप्त भी उसी मान्यता को व्यापक रूप में स्वीकार कर रहे हैं, जिसमें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य को भारतीय परम्परा का स्वाभाविक विकास मानते आ रहे थे।

जिस प्रकार उन्होंने मध्यकालीन साहित्य का कई उप-धाराओं में विभाजन किया है, उसी प्रकार आधुनिक काल के साहित्य को भी आदर्शमूलक चेतना, स्वच्छन्दतामूलक चेतना, यथार्थमूलक चेतना एवं व्यक्तिपरक यथार्थवादी काव्य शीर्षकों में विभाजित किया गया है। सार रूप में देखा जाए तो ये सारी प्रवृत्तियाँ आरंभ से ही आधुनिक कालीन साहित्य में दिखाई देती हैं। उसके अतिरिक्त यह विभाजन काव्य के सन्दर्भ में अधिक सही जान पड़ता है, हिन्दी उपन्यास एवं नाट्य साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में नहीं। क्योंकि हिन्दी उपन्यास साहित्य आरंभ से ही अपनी मूल चेतना में यथार्थवाद आरंभ से ही था। चाहे हिन्दी का उपन्यास साहित्य आरंभ में आदर्शवाद के साथ जासूसी-अय्यारी उपन्यास के क्षेत्र में लेखन करता आ रहा हो, किन्तु आज इसे पूर्णतः यथार्थ से परे का साहित्य नहीं कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में राजेन्द्र यादव की पुस्तक 'दयनीय महानता की दिलचस्प दास्ताँ' को पढ़ना अनिवार्य हो जाता है, जिसमें इसी जासूसी साहित्य के यथार्थवदी पक्ष को प्रस्तुत किया गया है। यही बात हिन्दी नाट्य साहित्य के सन्दर्भ में कही जा सकती है। वह आरंभ से ही यथार्थवाद की भाव-भूमि पर स्थिर रहा है। इस सन्दर्भ में भारतेन्दु के नाटकों को ही उदाहरणस्वरूप लिया जाए तो 'अन्धेर नगरी' किसी भी अर्थ में यथार्थवादी नाटक कहा जा सकता है, जिसमें तत्कालीन सरकार द्वारा शोषण एवं भारतीय जन की स्थिति का यथार्थांकन किया गया है। हिन्दी साहित्य के इस विकास को देखते हुए आचार्य गुप्त का नामकरण एवं उनका काल-विभाजन शंकास्पद हो जाता है। इसके अतिरिक्त रचनाकारों की अपनी पौराणिक चेतना भी होती

---

[36].वही, पृ.४९०

है, जो पौराणिक-ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से समकालीन यथार्थ को अभिव्यक्त करती है, जैसे 'साकेत, 'अंधा युग' आदि में की गई है। ऐसे में इन्हें मात्र पौराणिक या आदर्शमूलक काव्य मान लेना सही नहीं होगा।

यह सही है कि प्रवृत्तिमूलक नामकरण हिन्दी साहित्येतिहास के लिए अनिवार्य है, किन्तु वह अधिकतर काव्य प्रवृत्तियों के आधार पर किया जाता रहा है, ऐसे में साहित्य की अन्य विधाएँ प्रायः उपेक्षित रही हैं। जहाँ तक यथार्थवाद की बात है, वह साहित्य में हमेशा से उपस्थित रहा है, कभी प्रधान रूप में तो कभी क्षीण रूप में, ऐसे में विशेष साहित्यिक धारा को यथार्थवादी धारा का नाम देना सही नहीं होगा। इन विवादों के होते हुए भी आचार्य गुप्त का इतिहास साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में अपना स्थान रखता है, जिसने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में नवीन दृष्टि का सूत्रपात किया। इनके साहित्येतिहास के बाद साहित्येतिहास लेखन सामग्री की प्रस्तुति एवं विश्लेषण के आगे, साहित्यिक विचारधाराओं के इतिहास के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता रहा है। इस रूप में आचार्य गुप्त ने अपने साहित्येतिहास लेखन के माध्यम से हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में अमूलचूल परिवर्तन ला दिया।

४.९ राजनाथ शर्मा कृत 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास'

सन् १९६८ ई.में प्रकाशित इस साहित्येतिहास ग्रंथ के लेखन ने विषय प्रवेश, हिन्दी भाषा का विकास, हिन्दी साहित्य की पूर्वपीठिका, हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन, हिन्दी साहित्य का आरंभिक काल, भक्तिकाल, निर्गुण मार्गी सन्त काव्यधारा, प्रेमाख्यान काव्य परम्परा, सगुण भक्ति धारा, कृष्ण भक्ति काव्य, श्रृंगार काल, पुनर्जागरण का काल (आधुनिक काल) आदि खण्ड-क्रम बनाए हैं। लेखक ने आधुनिक काल में - हिन्दी गद्य परम्परा का इतिहास, संक्रान्ति काल का मूल्यांकन, भारतेन्दु का उदय और हिन्दी साहित्य का बहुमुखी विकास, सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनीतिक नवोन्मेष काल, आधुनिक ब्रजभाषा काव्य, आधुनिक खड़ी बोली काव्य परम्परा, छायावादी काव्यधारा, हालावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता; गद्यखण्ड – निबंध, नाटक, आलोचना, उपन्यास, कहानी, साहित्य की अन्य विधाओं को विभिन्न उपखण्डों में विभाजित किया गया है।

अपभ्रंश को हिन्दी साहित्य में स्थान न देते हुए भी आदिकाल के अन्तर्गत अपभ्रंश के अनेक साहित्यकारों की विवेचन की गयी है। दक्खिनी हिन्दी को हिन्दी साहित्य के प्रामाणिक इतिहासों में स्थान नहीं दिया गया है, परन्तु लेखक ने दक्खिनी हिन्दी के साहित्य को भी सविस्तार विश्लेषित करने का प्रयास किया है। भक्तिकाल की ज्ञानाश्रयी धारा के आदि प्रवर्तक माने गए नामदेव आदि का वर्णन भी आदिकाल में ही कर दिया गया है, जबकि उनका विवेचन भक्तिकाल की पृष्ठभूमि में किया जाना चाहिए था। लेखक ने स्वयं लिखा है - "नामदेव रचित हिन्दी साहित्य का अध्ययन कर इसी कारण हिन्दी के कुछ सुधी आलोचकों ने नामदेव को हिन्दी में सन्त काव्य परम्परा का प्रवर्तक माना।"[37]

लेखक के अनुसार भक्तिकाव्य के दो रूप हैं - १.प्रबुद्ध विचारकों द्वारा प्रचारित रूप और २.अशिक्षित साधकों द्वारा स्थापित रूप।[38] भक्ति आन्दोलन के महत्व को सर्वांगीन रूप में लेखक स्वीकृत करता है। उनका मानना था कि विद्वत्जनों द्वारा प्रचारित भक्ति आन्दोलन के मूल्य समस्त भारतीय समाज में फैल गये थे, जिसने तमाम सामान्य जनता को एकजूट करने का कार्य किया। भाषा के अनुसार कृष्णकाव्य को ब्रज एवं अवधी के कृष्णकाव्य के रूप में विभाजित कर, दोनों का भिन्न-भिन्न विवेचन किया गया है, जिसमें सामान्यतः पूर्ववर्ती इतिहासकारों के मतों का दुहराव एवं तथ्यों को देखा जा सकता है।

डॉ.राजनाथ शर्मा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से प्रभावित दिखाई देते हैं। अनेक प्रमाणों की उपस्थिति के बावजूद भी श्रृंगार काल का प्रवर्तन करने का श्रेय उन्होंने आचार्य चिन्तामणि को दिया है। जबकि त्रिपाठी बन्धुओं में वे मतिराम और भूषण से छोटे सिद्ध हो चुके हैं। उन्होंने भूषण को रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हुए लिखा है - "भूषण इस युग के वीर रस के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। वस्तुतः इतनी अधिक प्रसिद्धि का मुख्य कारण उनके द्वारा वीर-रस का अपनाया जाना ही रहा है। ...भूषण ने हिन्दू राष्ट्र के उद्धार के सशक्त प्रतीक शिवाजी और छत्रसाल को अपने काव्य का नायक बना एक जातीय भावना को उभारा है।"[39]

---

[37].हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास-राजनाथ शर्मा, पृ.१२५

[38].वही, पृ.४४१

[39].वही, पृ.६०७

आधुनिक काल को पुनर्जागरण काल कहा परन्तु सन् १८००-१८५० ई. को संक्रान्ति काल नाम दिया तथा इसके बाद के साहित्य का काल विभाजन करना वे भूल गए। छायावाद के प्रति उनकी दृष्टि थी - "सौन्दर्य भावना, वैयक्तिकता, करुणा, दुख तथा विषाद की भावना में छायावाद के अन्तरंग में एक तीव्र अतृप्ति और असंतोष की भावना भर दी थी। छायावादी कवि बहिर्जगत् की भीषणता से त्रस्त हो उसके प्रति एक तटस्थ-सा भाव रखते हुए अपने कल्पना लोक में जा बैठे।"[40] वस्तुतः छायावाद के प्रति यह सही दृष्टि नहीं है। इनके बाद डॉ.नामवर सिंह ने छायावाद को परिभाषित करते हुए इनसे ठीक विपरित मत दिया है। डॉ.सिंह ने लिखा है - "छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर काव्य रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था तो दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।"[41] इस प्रकार छायावाद सम्बन्धी पुरानी धारणा की मान्यता को दोहराते हुए उन्होंने उसे पलायनवाद का पर्याय मान लिया था और आचार्य शुक्ल की भाँति उसकी शैली को सराहा था।

छायावाद के बाद 'हालावाद' शीर्षक स्वतंत्र अध्याय बनाकर विवेचित किया गया है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद एवं नई कविता की आलोचना में लेखक की समसामयिक स्थितियों के दबाव को परिलक्षित किया जा सकता है। पूर्व खण्ड में काव्य का इतिहास प्रस्तुत किया गया है तथा पश्च खण्ड में गद्य का इतिहास। इस विभाजन पर आचार्य शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास की छाया देखी जा सकती है। इसका नामकरण सन् १९५३ ई.में प्रकाशित देवीशरण रस्तोगी के ग्रंथ के आधार पर ही किया गया मालूम पड़ता है। लेखन ने साहित्येतिहास में युग-विशेष की सारी कृतियों का विवेचन नहीं किया, अपितु उन्होंने युग-विशेष की प्रतिनिधि रचनाओं के माध्यम से तत्कालीन साहित्य को समझने-समझाने-विवेचित करने का प्रयास किया है और अन्य कवियों का नामोल्लेख मात्र कर दिया गया है। अतः यह प्रतिनिधि रचनाकारों का इतिहास बनकर रह गया है।

४.१० रामखेलावन पाण्डेय कृत 'हिन्दी साहित्य का नया इतिहास'

रामखेलावन पाण्डेय ने 'भारतीय भाषा परिषद' के अलीगढ़-अधिवेशन (१९६३ ई.) में अपने अध्यक्षीय भाषण में हिन्दी में साहित्येतिहास लेखन एवं इतिहास-दृष्टि के सन्दर्भ में टिप्पणी करते हुए कहा

---

[40].वही, पृ.

[41].छायावाद-डॉ.नामवर सिंह, पृ.०९

था - "इतिहास तथ्यों, क्रमपूर्वक संचयन, संघठन, आकलन और संकलन नहीं है, वह वक्तृत्व का प्रशस्तिमूलक चारण गान नहीं है, स्मरणीय घटनाओं के स्मरण दिलाने का माध्यम और साधन मात्र नहीं है। वर्तमान समस्याओं का वह दीपाधार भी नहीं है। इतिहास वह नहीं जो स्मृत और सुरक्षित रहे, बल्कि वह है जिसके स्मरण की आवश्यकता का अनुभव होता रहे। इसलिए प्रत्येक युग अपने लिए ऐतिहासिक तथ्यों और तत्वों की नव्य व्याख्या और विवेचना करता है।"[42]

अपनी इसी मान्यता को आगे बढ़ाकर व्यावहारिक रूप देनेवाला रामखेलावन पाण्डेय का 'हिन्दी साहित्य का नया इतिहास' सन् १९६९ ई. में प्रकाशित हुआ। अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों से सर्वथा भिन्न एवं कुछ मौलिक दृष्टि के कारण यह अपने शीर्षक 'नया इतिहास' को सार्थक करता प्रतीत होता है। हिन्दी साहित्य की परम्परा को एक भिन्न रूप में दर्शाने एवं उसके स्वरूप को पहचानने का प्रयास इस ग्रंथ के माध्यम से पाण्डेय जी ने किया है।

रामखेलावन पाण्डेय साहित्येतिहास लेखन को एक गतिशील प्रक्रिया मानते थे। उन्होंने इतिहास लेखन के लिए ऐतिहासिक दृष्टि एवं मूल्यांकन-दृष्टि के साथ वैचारिक अनुशीलन एवं मूल्य दृष्टि में भी सन्तुलन को अवश्यक माना है। उनका यह 'नया इतिहास' आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी की भाँति अपने युग की परिस्थितियों के अनुसार विवेचन से युक्त होते हुए भी उससे सर्वथा मुक्त होने का प्रयास करता है। इसमें आचार्य शुक्ल की इतिहास एवं साहित्य दृष्टि से मुक्त होने का प्रयास हर मोड़ पर दिखाई देता है। उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है कि - "जनता की चित्तवृत्ति, लोकमंगल का विधान ही काव्य की अन्तिम परिणति नहीं है और चित्तवृत्ति ही साहित्य भी नहीं है। साहित्य का इतिहास अभिव्यक्ति की सम्पन्नता का विन्यास भी है।"[43] यह साहित्य को देखने का रूपवादी रूझान हो सकता है, किन्तु यह भी सही है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में रूप के प्रति या तो उदासीनता रही है अथवा वह प्रायः रूपवाद के ही जाल में फँसकर रह गया है। आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी तथा पूर्व और अब तक के साहित्येतिहासकार अधिकांश रूप में साहित्य के रूप पक्ष की ओर उदासीन ही रहे, जबकि बिहारी या देव अथवा देव या बिहारी विवाद में पूर्णतः रूपवाद ही छाया रहा। किन्तु यह वाद साहित्येतिहास लेखन के बाहर ही आलोचना के क्षेत्र में रहा। अतः साहित्य में रूप को समतुल्य दृष्टि से स्थापित करने का यह पहला ही प्रयास कहा जा सकता है। सबसे सकारात्मक बात तो यह है कि उन्होंने यह नहीं कहा कि

---

[42].काव्य और कल्पना-रामखेलावन पाण्डेय, पृ.१३५

[43].हिन्दी साहित्य का नया इतिहास-रामखेलावन पाण्डेय, पृ.१५

साहित्येतिहास केवल साहित्यिक रूपों का ही इतिहास होता है। अतः यह नया ही नहीं, समतोल दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है।

साहित्येतिहास दृष्टि में नएपन के साथ ही काल-विभाजन एवं नामकरण में स्वाभाविक रूप से नयेपन का प्रवेश हो जाता है। उन्होंने स्वयं लिखा है - "ऐसे नामकरण की अपेक्षा है जो निर्दिष्ट अवधि के समस्त साहित्य में अंगीभूत अतर्वृत्ति, बोध अथवा स्थिति का संकेतक हो। अन्तरंगता का अन्वेषण अनिवार्य विशेषता है।"[44] उन्होंने साहित्येतिहास में प्रवृत्तियों के अनुसार काल-विभाजन करते समय मिश्रबन्धुओं एवं रसाल की भाँति शताब्दी से शताब्दी तक आँख मूँदकर प्रस्तुत कर दिया है। आदिकाल की परिसीमा सन् १०००-१४०० ई. मानते हुए उसे 'संक्रमण काल' की संज्ञा दी गई है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न अपभ्रंशों के आधुनिक भाषाओं में संक्रमित होने का उल्लेख किया गया है। 'संयोजन काल' (१४०१-१६०० ई.) में पारम्परिक रूप में भक्ति साहित्य का विवेचन किया गया है। 'संवर्धन काल' (१६०१-१८००) में रीतिकालीन दरबारी एवं लोक साहित्य को विवेचित किया गया है। 'संचयन काल' (१८०१-१९००) में आधुनिक काल के उद्भव के साथ साहित्य में आधुनिकता के प्रवेश एवं उसकी मूल्य चेतना को दर्शाने का प्रयास किया गया है। 'संबोधन काल' (१९०१-१९४७) तक के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना, पत्रकारिता की समाजोन्मुखता, रहस्यवाद, गद्य में यथार्थवादिता को रेखांकित करने का प्रयास किया गया। 'संचरणकाल' (१९४७-अनिश्चित काल) में आस्थाहीन कर्मवाद का संचरण अनिश्चितता एवं विवर्त का संयोग बताया गया है। डॉ.सुमन राजे ने इस नामकरण पर सटीक टिप्पणी करते हुए लिखा है, "यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि यह किसी वस्तु का संक्रमण, संयोजन, संवर्धन, संचयन, सम्बोधित एवं संचरण है-साहित्य का अथवा चेतना का?"[45]

वास्तविक रूप में यह काल-विभाजन 'अभिव्यक्ति की सम्पन्नता' को दृष्टि में रखकर किया गया है। इसके प्रति उनका कथन है - "प्राचीन साहित्येतिहासों की युग निर्धारक सीमाएँ अव्यवस्थित, अतात्विक और अयथार्थ हैं। कोई वृत्ति प्रधान या गौण नहीं है। किसी भी युग की समस्त प्रक्रियाएँ एक नहीं होतीं। विभिन्न सांस्कृतिक धरातलों की प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं, किसी एक को ही लोक वृत्ति का प्रतिमान मानना अनुचित है।...साहित्य समाज का दर्पण मात्र नहीं, साहित्य समाज का छविकार

---

[44].वही, पृ.२८

[45].साहित्येतिहास : संरचना एवं स्वरूप-सुमन राजे, पृ.३२९

ही नहीं, बल्कि अन्तरंग चेतना का शिल्पी है। शिल्पात्मक संघटन ऐतिहासिक विवेचन का आवश्यक आधार है। वक्तव्य ही साहित्य नहीं, अभिव्यक्ति में ही साहित्य संस्कार है।"[46] जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, इन्होंने साहित्येतिहास में रूपवादी रुझान को जन्म देने का प्रयास किया, जो यहाँ भी स्पष्टतः देख जा सकता है।

पाण्डेय जी ने अपने इस इतिहास में नवीन उद्भावनाएँ करने की अवश्य कोशिश की है और पूर्ववर्ती इतिहासों में लिखित मूल्यांकन से सर्वथा भिन्न भी हैं। इस दृष्टि से अवश्य यह नया इतिहास बन जाता है। उनके अनुसार - "सन्देश रासक और बीसलदेव रासो के सन्दर्भ में विचार करने से स्पष्ट होता है कि प्रारंभ में 'पृथ्वीराज रासो' मुख्यतः प्रेमकाव्य था, पृथ्वीराज के इन प्रसंगों का आख्यान था एवं कालान्तर में शहाबुद्दीन से होनेवाले युद्ध को हिन्दू जागरण के रूप में अभिचित्रित करने की आकांक्षा सजग हुई एवं ऐतिहासिक किंवदन्तियों से इसके विवरण अलंकृत कर दिए गए। किन्तु इसका संयोजन १३वीं-१४वीं शताब्दी तक हो चुका था।"[47] यह बात तो सही हो सकती है, किन्तु उन्होंने इसे ऐतिहासिक प्रक्रिया में दिखाने का उपक्रम नहीं किया है। रामानन्द के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है - "स्पष्ट है कि दो रामानन्द हुए एक निर्गुणिया एवं दूसरे सगुणोपासक; कालान्तर में दोनों का समीकरण हो गया जिसके कारण एक ओर तो वे निर्गुण सम्प्रदाय के प्रेरणास्रोत हो गए एवं दूसरी ओर सगुण रामभक्ति के आदिकल्प।"[48] यह मात्र एक स्थापना है, जिसे वे ऐतिहासिक तथ्यों से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं समझते, जिसे झुठलाया तो नहीं जा सकता है, किन्तु तथ्यों के अभाव में स्वीकृत भी नहीं किया जा सकता है।

प्रेममार्गी जायसी को उन्होंने कट्टर मुसलमान मानते हुए, इसे हिन्दू विरोधी बताते हुए लिखा है कि सूफी सम्प्रदाय का मूल उद्देश्य धर्मान्तरण ही है - "जायसी को सूफी सन्त मानने का भ्रम फैलाया गया है, वस्तुतः जायसी महदवी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनके गुरु और अगुआ शेख बुरहान का इस सम्प्रदाय के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सम्प्रदाय का मूल उद्देश्य था इस्लाम का इस्लामी संगठन एवं पुनर्जागरण।"[49] इस सन्दर्भ में 'जायसी' शीर्षक पुस्तक में विजयदेव नारायण साही द्वारा की गई स्थापनाओं पर ध्यान देना रोचक होगा। उन्होंने भी जायसी को साधार सूफी नहीं माना है, उनका स्पष्ट कहना था कि

---

[46].वही, पृ.२७

[47].वही, पृ.२७

[48].वही, पृ.२७

[49].वही, पृ.८८

'यदि जायसी सूफी माने भी जाते हैं तो वे कुज़ात सूफी थे।' उन्होंने लिखा - "जायसी में अपने स्वाधीन चिन्तन और प्रखर बौद्धिक चेतना के लक्षण मिलते हैं जो गद्दी और सिलसिलों की मठी या सरकारी नीतियों से अलग हैं । इस अर्थ में जायसी सूफ़ी हैं तो कुज़ात सूफ़ी हैं ।" जहाँ तक महदवी सम्प्रदाय और उनके गुरु का प्रश्न है, इस सन्दर्भ में साही जी का मत साधार माना जा सकता है। उन्होंने काफी शोध के बाद यह स्थापना दी थी कि जायसी का नाम किसी भी सूफी परम्परा में लिखित नहीं मिलता है। ऐसे में जायसी को धर्म प्रचार आदि से जोड़ देना सही नहीं होगा। जायसी और उनके महाकाव्य को सूफ़ीमत के किसी सम्प्रदाय से जोड़ने को ग़लत मानते हुए उन्होंने लिखा है कि, ''जायसी के 'पद्मावत' में न सिर्फ एक विशेष जीवन दृष्टि है, बल्कि एक विशेष सामाजिक-सांस्कृतिक समन्वय भी है । गुरुओं की समूची सूची से इसका मिज़ाज़ बैठाना कठिन है ।'' इसके अतिरिक्त सूफ़ियों की कुछेक शाखाएँ आवश्य धर्म प्रचार में लगी होंगी किन्तु महदवी सम्प्रदाय के इससे जुड़े होने के कोई संकेत नहीं मिलते हैं। इसे आधुनिक शोधार्थी एन.आर.फ़ारुकी द्वारा लिखित 'सूफ़ीवाद' शीर्षक पुस्तक से जाना जा सकता है।

डॉ.शिवकुमार ने इनके इतिहास के बारे में लिखा है - "डॉ.पाण्डेय के इतिहास द्वारा वर्तमान युग में शुक्ल जी की इतिहास लेखन पद्धति से मुक्ति की आकांक्षा अपने तीव्रतम रूप में अभिव्यक्त हुई है, परन्तु इसके द्वारा सहित्येतिहास लेखन में कोई सार्थक मोड़ उपस्थित नहीं हो सका।"[50] डॉ.रामखेलावन पाण्डेय अपनी विचारधारानुरूप साहित्य के इतिहास को प्रस्तुत करने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। अनेक पूर्वाग्रहों एवं तथ्यों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने का इन्होंने प्रयास किया, किन्तु यह प्रयास अधिक सफल न हो पाया। साहित्येतिहास लेखन के इतिहास में तो इन्होंने अपना नाम दर्ज करवा लिया, इससे बढ़कर कोई स्थापना या साहित्येतिहास दृष्टि में वे कोई अमूल्य योगदान न दे सके।

४.११ पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कृत 'हिन्दी साहित्य : एक ऐतिहासिक समीक्षा'

बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य : एक ऐतिहासिक समीक्षा' सन् १९६९ में प्रकाशित हुआ। लेखक ने न तो इसकी विषय-सूची प्रस्तुत की और न अन्त में सन्दर्भ ग्रंथों की सूची दी, अतः इसकी संदिग्धता पर कई प्रश्न चिन्ह स्वतः ही खड़े हो जाते हैं। भूमिका के रूप में ३३ पृष्ठों में हिन्दी भाषा का विकास, साहित्यिक विकास तथा सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का वर्णन

---

[50].हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन-डॉ.शिवकुमार, पृ.२३९

कर दिया गया है। इसके बाद हिन्दी साहित्य में तीन धाराओं को स्थापित करने का भरसक प्रयास उन्होंने किया है। उनके अनुसार, "सभी भाषाओं के साहित्यिक विकास में उनकी तीन स्थितियाँ देखी जा सकती हैं। पहली स्थिति में जब कोई भाषा एक मात्र जन-भाषा रहती है, जब तक वह केवल एक बोली के रूप में रहती है तब तक उसमें लौकिक साहित्य की रचना होती है।..(द्वितीय) इसके बाद भाषा का रूप और अधिक परिष्कृत हो जाता है, तब उसमें रस-साहित्य की रचना होती है....(तृतीय) जब रस-साहित्य का विशेष निर्माण होने लगता है, तब वह जनता से पृथक् हो जाता है। उसमें कला का जो सौष्ठव रहता है, वह साधारण लोगों के लिए अनधिगम्य हो जाता है। तब लोगों के बौद्धिक विकास के लिए बौद्धिक साहित्य की आवश्यकता होती है।"[51] स्पष्टतः उनकी भाषायी मान्यताओं को साहित्यिक मान्यताओं में परिवर्तित होते हुए देखा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि लोक-साहित्य में, अर्थात् भाषा की पहली अवस्था में रचित साहित्य में कला का अभाव होता है, वस्तुतः वहीं सर्वाधिक कला देखने को मिलती है। आचार्य शुक्ल की भाषा की धारणा को उन्होंने साहित्य पर चस्पा करना चाहा, जिसके ऐवज में सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी उनकी मान्यता में भी फाँक नज़र आती है। वस्तुतः यह साहित्य को देखने का शास्त्रीय नज़रिया हो सकता है, सार्वभौमिक नहीं।

उन्होंने परिकल्पित भाषा की अवस्थाओं को साहित्य की अवस्थाएँ मानते हुए हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन करने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में उनका मत है - "पहला काल लौकिक साहित्य की रचना का काल होता है। दूसरा काल रस-साहित्य का निर्माण काल होता है। तीसरे काल में बौद्धिक साहित्य की रचना होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में ११०० ई. से लेकर १५०० ई. तक हिन्दी का लौकिक-साहित्य रचना काल था। १५०० ई. से १८५० ई.तक हिन्दी का मध्यकाल है, जिसमें रस-साहित्य की रचना हुई। १८५० ई. से अभी तक बौद्धिक साहित्य का जो निर्माण हो रहा है, उसे हम आधुनिक काल कहेंगे।"[52]

इसी क्रम में उन्होंने अपने साहित्येतिहास के पहले अध्याय को 'लौकिक साहित्य : रचनाकाल' नाम दिया है । सरहपा की चर्चा के बाद मत्स्येन्द्रनाथ से शुरुआत की गई। पूरे ग्रंथ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के साथ हरिऔध जी के 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का

---

[51].हिन्दी साहित्य : एक ऐतिहासिक समीक्षा-पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, पृ०६-०७

[52].वही, पृ.३७

गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। एक उदाहरण की साम्यता देना अनिवार्य है - आचार्य शुक्ल- "ये हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य।"[53] बख्शी - "चन्द – ऐसे वीरगाथाकारों में अग्रगण्य हैं। उनका 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य कहा जा सकता है। लोक साहित्य की अधिकांश रचनाओं में स्थायित्व नहीं रहता।"[54] इतना ही नहीं, शुक्ल द्वारा किए गए 'अपभ्रंश साहित्य' की चर्चा को आधार बनाकर सरहपाद की चर्चा के अनुसार रासो आदि देश-भाषा-काव्यों का वर्णन समान रूप से बख्शी जी ने भी किया है। प्रथम अध्याय 'लौकिक साहित्य' में अपभ्रंश के ग्रंथों के साथ जैन, नाथों के अतिरिक्त डिंगल, पिंगल और प्रेमाख्यान काव्य परम्परा को भी विवेचित कर दिया गया है। जिसे उन्होंने रस-साहित्य कहा है, उसी के अन्तर्गत सूरदास-तुलसीदास जैसे कवियों के साथ केशवदास आदि रीतिकालीन कवियों का विश्लेषण उन्हें करना पड़ा, जो साहित्यिक प्रवृत्तिनुसार देखने पर सही नहीं माना जा सकता है। जब भक्ति आन्दोलन के समन्वित प्रभाव को आन्दोलन के रूप में रेखांकित किया जा सकता था और ऐसा करना अनिवार्य भी है, ऐसे में कबीर को लौकिक साहित्य में और सूफी, रामभक्ति एवं कृष्णभक्ति काव्य-परम्परा को रस-साहित्य में विभाजित करके भक्ति आन्दोलन की एकता को खण्डित करने का प्रयास इतिहासकार ने किया है।

दूसरा अध्याय शीर्षक 'रस साहित्य का रचना काल' है, जिसे रसात्मक बोध अलौकिक आनन्द से युक्त माना गया है। उनके ही काल-विभाजन को माना जाए तो रसात्मक बोध के साहित्य की शुरुआत सूरदास से होनी चाहिए थी, किन्तु इतिहासकार ने इसका आरंभ जायसी से किया है। इस अध्याय में सूरदास के चित्रण को सराहते हुए साहित्येतिहासकार कहते हैं - "सूरदास के वर्णन की विशेषता यह है कि वे एक दर्शक की भाँति, एक भक्त अनुरक्त सखा की भांति, श्रीकृष्णचन्द्र जी की लीलाओं का वर्णन करते हैं। उनके वर्णन में प्रेम है, उल्लास है, भक्ति है। परन्तु उनके वर्णन में कहीं भी वियोग की व्याकुलता नहीं।"[55] इस पंक्ति के लेखक ने संभवतः सूरदास के सम्पूर्ण काव्य का अध्ययन नहीं किया था। शायद उन्हें बिहारी की नायिका की भाँति वियोग में हिचकोले खानेवाली नायिका की तलाश थी, इसी कारण सूरदास के विरह वर्णन पर उनकी दृष्टि नहीं गई।

---

[53].हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.२७

[54].हिन्दी साहित्य : ऐतिहासिक समीक्षा-पदुमलाल पुन्नालाल बख्षी, पृ.३७

[55].वही., पृ.७५

४.१२ डॉ.मोहन अवस्थी कृत 'हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास'

डॉ.मोहन अवस्थी ने साठ के दशक में पहले 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' लिखा था, जिसमें प्रयाग विश्वविद्यालय के अनुसंधाताओंमें भोलानाथ, श्रीकृष्णलाल, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के साथ पंडित श्रीशंकर शुक्ल का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है, जिन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा की शुरुआत की थी। इसके बाद डॉ.अवस्थी ने सन् १९७२ ई. में 'हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास' प्रकाशित करवाया। यद्यपि लेखक ने अपने प्राक्कथन में इतिहास के लेखन के उद्देश्य को बताते हुए स्पष्ट कर दिया था कि उन्होंने यह साहित्य का इतिहास हिन्दी के विद्यार्थियों की साहित्यिक चेतना को अद्यतन कर उसे अधिक व्यापक करने के लिए लिखा है। इसी क्रम में इस इतिहास को लिखने का अपना दूसरा महत् उदेश्य उन्होंने साहित्य में तब तक प्रचलित विवाद, भ्रामक मत आदि पर सन्तुलन स्थापित करना तय किया था, जिसके लिए वे वचनबद्ध हैं। स्पष्टतः किसी महत्तोद्देश्य के चलते हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने का प्रयास नहीं किया, अपितु उन्होंने इसकी मूल स्थापनाओं की पुनर्व्याख्या करने मात्र का प्रयास किया।

इन्होंने 'साहित्येतिहास की समस्याएँ' के अन्तर्गत साहित्य के इतिहास की परिभाषा दी है, जिस पर आचार्य शुक्ल का प्रभाव देखा जा सकता है - "राजनैतिक परिवर्तन यदि समाज के आन्तरिक जीवन का अंग बन जाए तो वह भी सामाजिक चेतना के अन्तर्गत माना जाएगा। सामाजिक चेतना ही सामाजिक इतिहास है। साहित्य इस चेतना की अभिव्यक्ति है, इस अभिव्यक्ति का कालक्रम से विकास प्रस्तुत करना साहित्य का इतिहास है।"[56] आचार्य शुक्ल द्वारा प्रयुक्त 'चित्तवृत्ति' के स्थान पर 'चेतना' को रखकर उन्होंने साहित्येतिहास की व्याख्या प्रस्तुत कर दी है।

काल को एक सतत प्रक्रिया और अविच्छिन्न धारा बताते हुए भूत, वर्तमान, भविष्य के आधार पर साहित्य के काल-विभाजन को व्यवहारिक नहीं माना है। इस कारण वे कालक्रमानुसार विभाजन की पद्धति को त्यागकर विषयानुसार वर्गीकरण की पद्धति को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार - "काल विभाजन तथा काल नामकरण का आधार प्रायः एक ही होता है। कृतियों की तरह रचनाओं के आधार पर भी विभाजन एवं नामकरण करते हैं। कभी-कभी विषय या विशेष पद्धति को भी ध्यान में रखा जाता है।"[57] यह सही है कि युग की धारा साहित्य में भी अविचल गति से चलती रहती है, किन्तु साहित्य की

---

[56].हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास-मोहन अवस्थी, पृ.२३

[57].वही, पृ.०३

धारा को खण्डित करने के लिए काल-विभाजन नहीं किया जाता है, अपितु अध्ययन की सुविधा के लिए इतिहास में काल-विभाजन किया जाता है। यदि साहित्य की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को आधार बनाया जाए तो साहित्य में नामकरण संभव ही नहीं होगा। वैसे हर युग में साहित्य की कई धाराएँ विकसित होती हैं और विलुप्त हो जाती हैं, वे सारी साहित्येतिहास का भाग बनने के लिए नहीं होती हैं। ऐसे में नामकरण अधिकांश साहित्य की उपलब्धता के आधार पर ही किया जाता है। यह सही है कि इसमें सारी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व प्रायः नहीं होता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम साहित्येतिहास में काल-विभाजन एवं नामकरण ही न करें। इससे साहित्येतिहास रूपक-कथा बनकर रह जाएगा।

इसी क्रम में वे अपने द्वारा किए गए काल-विभाजन के सन्दर्भ में सशंकित हैं। उन्होंने लिखा - "इस काल (आदिकाल) में देशी भाषाओं का विकास हो रहा था, इसलिए इसे हम भाषा का आदिकाल कह सकते हैं। परन्तु भाव, शैली, रस, सन्देश, छन्द सभी क्षेत्रों में वह अत्यन्त आढ्य एवं स्वयंपूर्ण है। हिन्दी साहित्य की अगली पीढ़ी ने उसका मुक्त हृदय से उपभोग किया। इस दृष्टि से इसे हिन्दी साहित्य का 'आधार काल' कहा जाना चाहिए।"[58] उन्होंने काल-विभाजन एवं नामकरण की महत्ता को कम करके आँकते हुए भी आचार्य शुक्ल आदि इतिहासकारों द्वारा किये गये भक्तिकाल एवं रीतिकाल के नामकरण तथा काल-विभाग को ही स्वीकार कर अपना विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु आधुनिक काल के नामकरण एवं काल-विभाग को ही स्वीकार नहीं करते बल्कि उससे सम्बन्धित पूर्ववर्ती इतिहासकारों की दृष्टि को भी जस-का-तस स्वीकार करते हैं।

वे हिन्दी भाषा का आरंभ पीछे ले जाते हुए ७०० ई. से उसकी शुरुआत मानते हैं तथा ७४० ई. में हुए सरहपा को प्रथम कवि सिद्ध करते हुए सिद्धों से हिन्दी साहित्य की परम्परा का सूत्रपात मानते हैं। हिन्दी साहित्य के आधार काल में अपभ्रंश साहित्य को धार्मिक साहित्य माना गया है और उसके अन्तर्गत अर्धलौकिक काव्य चर्चरी, फागु, चउवई आदि लोक-काव्य रूपों का संक्षेप में परिचय दिया गया है। भक्ति आन्दोलन के प्रादुर्भाव के सन्दर्भ में अपनी नई दृष्टि प्रस्तुत करते हुए उन्होंने 'भक्ति द्रविड़ी उपजी, लाए रामानन्द' को वैदुष्य स्तर पर नकार दिया है। रामानन्द द्वारा भक्त एवं इष्ट का समन्वय, लोकवाद को केन्द्र में रखकर रामावत सम्प्रदाय की स्थापना करना और संस्कृत के स्थान पर हिन्दी लोकभाषा को अपनाकर अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के कारण भक्ति आन्दोलन का संभव होना माना है। यह सर्वथा नवीन दृष्टि थी । इसी के दो सम्प्रदाय निर्गुण की सन्त काव्यधारा एवं सगुण की रामकाव्य धारा से हिन्दी

---

[58].वही, पृ.०३

का विकास मानते हुए भक्ति का जन्म बताया है। इसे स्थापित करने के लिए अवस्थी जी ने लिखा है - "लोक कल्याण की भावना, सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति के साथ ही अपूर्व काव्य वैभव देखकर कहना पड़ता है कि भक्तिकाल के समान कोई दूसरा काल हिन्दी में नहीं आया।"[59] यह भक्तिकालीन साहित्य के सन्दर्भ में पूर्व स्थापित मान्यता की ही पुनरुक्ति है।

भक्तिकालीन लोक-मंगल एवं लोक से जुड़े साहित्य के पश्चात् घोर श्रृंगारी एवं दरबारी साहित्य का प्रादुर्भाव कैसे हो गया? इस प्रश्न का सामना प्रायः प्रत्येक पीढ़ी के आलोचकों और साहित्येतिहासकारों ने किया है। इसी प्रश्न का उत्तर खोजने के प्रयास में डॉ.अवस्थी ने लिखा है - "साहित्य के जिस काल पर हम विचार करेंगे, उसमें या तो लक्षण ग्रंथों का निर्माण हुआ अथवा लक्षण ग्रंथों को पढ़कर उनके आधार पर सप्रयत्न कविता बनाई गयी। इन दोनों को ध्यान में रखकर इस काल को रीतिकाल कहते हैं और इन दोनों का प्रवर्तन सबसे पहले आचार्य केशवदास ने किया।"[60] यह भी एक प्रकार का सरलीकरण है और इसमें भक्तिकाल से रीतिकाल में परिवर्तन का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

इसके बाद रीतिकाल को रीतिबद्ध एवं रीतिस्पर्शी कवि नामक दो धाराओं में विभक्त कर उसका विवेचन किया है। रीतिकाल से ही हिन्दी गद्य और नाटक का विकास दिखाते हुए लेखक ने नाट्य साहित्य का जन्म १६१० ई. में 'महारामायण नाटक' से आरंभ माना है तथा १७४२ ई. में पंडित रामप्रसाद निरंजनी के 'भाषा योगवसिष्ठ' का लिखा जाना आश्चर्यपूर्ण बताया। आधुनिक काल का प्रादुर्भाव १८५७ ई. मानते हुए भारतेन्दु युग में परम्परा के प्रति विद्रोह, प्रगतिवाद युग में सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह और नई कविता, नई कहानी एवं उपन्यास, नाट्य साहित्य में जीवन तथा समाज के प्रति विद्रोही की अभिव्यक्ति को महत्व दिया है। इसमें कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध, आलोचना एवं हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता के उतार-चढ़ावों और पारम्परिक विकास का गहन विवेचन किया गया है। इसमें किए गए अध्ययन पर समय की धूल भले ही चढ़ गई हो, किन्तु अपने समय के अनुसार इसमें साहित्येतिहास लेखन में मौलिक दृष्टि को स्थापित करने का प्रयास किया है।

४.१३ रामस्वरूप चतुर्वेदी का साहित्येतिहास लेखन

डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी का हिन्दी साहित्येतिहास लेखन अपनी युगीन संवेदनाओं से परिचालित

---

[59].वही, पृ.४४

[60].वही, पृ.४०

होते हुए भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि का ही विस्तार कहा जा सकता है। वास्तव में डॉ.चतुर्वेदी की इतिहास-दृष्टि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास लेखन की पूरक बनकर उपस्थित होती है, क्योंकि आचार्य शुक्ल का इतिहास जहाँ समाप्त होता है, उसके आगे डॉ.चतुर्वेदी का इतिहास लेखन संभावनाओं की तलाश करता है। आचार्य के साहित्येतिहास लेखन का अन्त छायावादी काव्य के साथ हो जाता है, किन्तु उनकी इतिहास, साहित्य, समाज एवं साहित्येतिहास सम्बन्धी मान्यताएँ गतिशील रूप में सक्रिय रहती हैं, जिसे डॉ.चतुर्वेदी अपने साहित्यिहास लेखन का आधार बनाकर अगली कड़ी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि डॉ.चतुर्वेदी के इतिहास लेखन का एक तिहाई भाग आधुनिक साहित्य के विवेचन में अपनी ऊर्जा निवेश करता है।

डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी के इतिहास ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य एवं संवेदना का विकास' का प्रकाशन सन् १९८६ ई. में हुआ, किन्तु इससे पूर्व उन्होंने 'इतिहास और आलोचना दृष्टि' (१९८२) लिखी थी। वे अपनी 'संवेदना के विकास' को इसी ग्रंथ का रचनात्मक प्रतिफलन मानते हैं - "इतिहास और आलोचना-दृष्टि' (१९८२) शीर्षक के पुस्तक के लिए जो तैयारी हुई थी वह अब पूर्णतर और रचनात्मक रूप में प्रतिफलित हो रही है।"[61] अपने साहित्येतिहास लेखन को अधिक विस्तारित रूप देने के लिए अपनी 'संवेदना का विकास' की मान्यताओं और प्रायः उसी सामग्री एवं लेखन का उपयोग करते हुए डॉ.चतुर्वेदी ने 'हिन्दी काव्य संवेदना का विकास' और 'हिन्दी गद्य संवेदना का विकास' शीर्षक इतिहास ग्रंथ भी लिखे हैं। ये दोनों ग्रंथ उनके 'संवेदना का विकास' के ही पुनः प्रकाशन कहे जा सकते हैं, क्योंकि इतिहास-दृष्टि के रूप में इसमें किसी भी नयी पद्धति या नवीन मान्यता की स्थापना करने का प्रयास नहीं किया गया है। अतः डॉ.चतुर्वेदी की इतिहास-दृष्टि को 'हिन्दी साहित्य एवं संवेदना का विकास' इतिहास ग्रंथ को केन्द्र में रखकर सम्पूर्णतः जाना जा सकता है।

प्रायः आचार्य शुक्ल की मान्यताओं को मानने वाले डॉ.चतुर्वेदी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इतिहास-दृष्टि एवं आलोचकीय मूल्य 'रामचरितमानस' से अधिक उनके युगीन साहित्य-सृजन से परिचालित मानते हैं। उन्होंने इसका सिद्धान्तीकरण करते हुए लिखा है - "आलोचना और इतिहास-विवेक समकालीन साहित्य अध्ययन और उसकी परख से निःसृत होकर तथा युगीन सन्दर्भों से जुड़कर ही प्रामाणिक तथा प्रगतिशील बनता है।...रामचन्द्र शुक्ल सांस्कृतिक मूल्यों के लिए रामचरितमानस को

---

[61].हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.०९

भले केन्द्र में रखते हों, पर उनका आलोचना और इतिहास-विवेक उनके युगीन साहित्य-सृजन छायावाद से जुड़कर ही पुष्ट हुआ है।"[62] किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि स्वयं डॉ.चतुर्वेदी ने अपने समकाल से बहुत ही कम ग्रहण किया, जिससे उनका आलोचना एवं साहित्य विवेक आचार्य शुक्ल से बहुत अधिक आगे नहीं बढ़ सका।

उन्होंने अपने 'संवेदना के विकास' में पूर्णतः आचार्य शुक्ल के काल-विभाजन एवं नामकरण को स्वीकार कर लिया है। प्रायः आचार्य शुक्ल के नामकरण एवं काल-विभाजन को कई स्थानों पर नए आधार देने का प्रयास दिखाई देता है। जैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रयुक्त 'वीरगाथा काल' नामकरण को अनुचित ठहराते हुए 'आदिकाल' नामकरण प्रस्तावित किया था, जो कि साहित्यिक प्रवृत्ति एवं साहित्येतिहास के सन्दर्भ में सही कहा जा सकता है, किन्तु डॉ.चतुर्वेदी सप्रयास इसे सिद्ध करने पर तुल जाते हैं कि आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया 'वीरगाथा काल' नामकरण ही सही है।

भाषा और साहित्य के आरंभ की शुरुआत के लिए डॉ.चतुर्वेदी ने एक कसौटी तय की है। हिन्दी के विकास के सम्बन्ध में उनका मत है, "इस सन्दर्भ में एक कसौटी यह हो सकती है कि जहाँ भाषा में परसर्ग-रूप उभर आए हैं वहाँ से हिन्दी का आरंभ माना जाए, क्योंकि आधुनिक आर्य भाषाओं के विश्लेषणात्मक रूपों की यह एक सही पहचान होगी।"[63] इसी प्रकार आदिकालीन साहित्य के आरंभ को तय करने के लिए भी उन्होंने एक पैमाना तय किया है - "किसी साहित्य के आरंभ की पहचान वहाँ की जा सकती है, जहाँ वह धार्मिक कर्मकाण्ड और रहस्य भावना से क्रमशः उन्मुक्त हो रहा है। संगीत, नृत्य, नाट्य और चित्रकला के बारे में भी यह बात सच होगी।"[64]

यह आचार्य शुक्ल की उस धारणा की पुनरावृत्ति है, जिसमें उन्होंने आदिकालीन (वीरगाथाकालीन) जैन-नाथ साहित्य को धार्मिक साहित्य मानते हुए साहित्य क्षेत्र से बाहर रखने का सुझाव दिया था। इसे आगे के आलोचकों ने यह कहकर खारिज करने का प्रयास किया कि इसी तर्क को ध्यान में रखा जाए तो भक्तिकाल का सारा साहित्य, साहित्य क्षेत्र से वंचित हो जाएगा, जो हिन्दी साहित्य का प्रतिनिधि काल माना जाता है। इसी मान्यता का सैद्धान्तीकरण यहाँ डॉ.चतुर्वेदी ने किया है। जहाँ तक भाषा के

---

[62].वही, पृ.वही

[63].वही, पृ.२१

[64].वही, पृ.२०

परसर्ग-रूपों का विकास है, उसकी निश्चित तिथि तय नहीं की जा सकती है। वह कई पीढ़ियों तक घटित होनेवाली घटना थी। ऐसे में मात्र धार्मिक कर्मकाण्ड से मुक्ति को साहित्य का आरंभ मानना प्रश्नाकिंत होता है। रही रहस्य भावना की बात तो वह तो कबीर, जायसी और यहाँ तक कि छायावादी कवियों में भी मिलती है, ऐसे में क्या हिन्दी साहित्य का आरंभ प्रगतिवादी साहित्य से माना जाना चाहिए? जहाँ तक संगीत, नृत्यादि की बात है, वह तो अभी तक धार्मिक भावना से मुक्त नहीं हो पाए हैं, तो क्या ऐसे में उन्हें कला क्षेत्र से वंचित कर दिया जाना चाहिए? साहित्य के अपने मूल्य होते हैं, वह हमेशा सामाजिक नियमों के अधीन नहीं होते हैं। सामाजिक मूल्य एवं साहित्यिक मूल्यों को इतना परस्पराश्रित नहीं माना जा सकता और न उनके सम्बन्ध को इस प्रकार की एकांगी दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता है।

डॉ.चतुर्वेदी ने हिन्दी साहित्य की दृष्टि के केन्द्र में चित्रित होनेवाली विषय-वस्तु, मानव एवं साहित्य के सम्बन्धों को भी सैद्धान्तिक रूप देने का प्रयास किया है। उनके साहित्येतिहास में कई बार इस धारणा की पुनरावृत्ति हुई है कि - "मनुष्य की अवधारणा के रूप हिन्दी साहित्य में कई बार बदलते हैं, और इसी के साथ परम तत्व को लेकर उनके रिश्ते भी। आदिकाल के प्रसंग में हमने लक्षित किया था कि यहाँ मनुष्य की ईश्वर की महिमा से युक्त रूप में वर्णन हुआ है, जबकि भक्तिकाल में यह चित्रण ईश्वर का मनुष्य रूप में हुआ है, आगे फिर रीतिकाल में ईश्वर और मनुष्य दोनों का मनुष्य-रूप में चित्रण होता है। आधुनिक काल में आकर मनुष्य सारे चिन्तन का केन्द्र बनता है, और ईश्वर की धारणा व्यक्तिगत आस्था के रूप में स्वीकृत होती है, साहित्य या कि कलाओं में उसका चित्रण प्रासंगिक नहीं रह जाता।"[65]

उन्होंने अपनी इस धारणा की पुनरावृत्ति आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक प्रत्येक युग के आरंभ में ही नहीं, अपितु कई बार कवि-दर-कवि की है। केवल छायावाद में ही क्रमशः प्रसाद, निराला एवं पंत का मूल्यांकन इसी मान्यता को कसौटी बनाकर किया गया है। इतना ही नहीं, निराला की 'राम की शक्तिपूजा' एवं 'तुलसीदास' कविताओं की तुलना करते समय गोस्वामी तुलसीदास को बार-बार उद्धृत करने तक ठीक था, किन्तु रीतिकालीन कवियों की प्रसाद की 'कामायनी' से तुलना कर सम्पूर्ण छायावाद की मूल प्रेरणा को रीतिकालीन साहित्य से जोड़कर सिद्ध करने का प्रयास साहित्येतिहासकार की हठधर्मिता को उजागर करता है। इसी के साथ आचार्य शुक्ल की मान्यता कि छायावाद बांग्ला साहित्य - विशेषतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' के मार्ग से विदेश से छाया ग्रहण करनेवाला काव्यान्दोलन है, इसे सिद्ध

---

[65].हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.७८-७९

करने के लिए इतिहासकार बार-बार मराठी से ग्रहण की गई द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता और बांग्ला की कोमलकान्त पदावली युक्त शब्दावली की तुलना करता है। निराला की काव्य-प्रेरणा के रूप में भी उसने बांग्ला नवजागरण की चेतना को रेखांकित किया है, जहाँ वे छायावाद को शक्ति काव्य भर मानकर उसे 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' का काव्य कहते हैं। उन्होंने अपनी नई उद्भावना करते हुए सांस्कृतिक पुनर्जागरण को राष्ट्रीय पुनर्जागरण पर वरीयता दी है। उन्होंने लिखा है - "यहाँ शक्ति काव्य का सामान्य साधारण अर्थ 'राष्ट्रीय काव्य' नहीं लगाना है। इस टिप्पणी का उद्देश्य राष्ट्रीय काव्य के महत्व को कम करना नहीं, पर यह ध्यान दिलाना है कि छायावादी काव्य में राष्ट्र जागरण से अधिक समग्र चेतना का जागरण और आह्वान है, उसमें अन्तर्निहित शक्ति के विकास का रचनात्मक उपक्रम है। यहाँ राष्ट्रीय से अधिक सम्पूर्ण सांस्कृतिक जागरण प्रधान है, राष्ट्रीय जागरण वस्तुतः सांस्कृतिक जागरण के अंग रूप में आता है, जो पुनर्जागरण की मूल धारा के अनुरूप है। यों कह सकते हैं कि छायावाद की राष्ट्रीयता में आधार राजनीति की अपेक्षा संस्कृति है।"[66] डॉ. चतुर्वेदी ने शक्ति काव्य की परिभाषा करना अनिवार्य नहीं समझा। उनके ही लहज़े में कहा जाए तो, यों उन्होंने जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है उसमें छायावाद की समकालीन राष्ट्रीय काव्यधारा एवं हालावाद को अनदेखा कर दिया गया है।

आधुनिक काल का आरंभ नाट्य साहित्य से होता देख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चौंक गए थे, ठीक वैसे ही डॉ.चतुर्वेदी न केवल चौंकते हैं, अपितु वे उसका उत्तर भी खोजने का प्रयास करते हैं। उन्होंने उसका उत्तर खोजने के क्रम में भारतीय पुनर्जागरण (या हिन्दी प्रदेश में होनेवाले पुनर्जागरण मात्र) को व्याख्यायित करने का प्रयास किया। उनके अनुसार इस पुनर्जागरण की चेतना में समग्रता की चेतना निहित थी और नाटक अपने आप में सामाजिक विधा है। इसका मंचन अकेले नहीं हो सकता और आस्वादन भी। ऐसे में नाटकों से हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का प्रवर्तन होना उन्हें अचरज का विषय नहीं लगता है। वे भारतीय (हिन्दी) नवजागरण की अन्य विशेषताएँ गिनाते हुए उसका पूर्ण रचनात्मक समाहार भारतेन्दु हरिश्चंद्र में पहले पहल पाते हैं, किन्तु उनके अनुसार - "पुनर्जागरण का भारतीय साहित्य में पहला प्रतिफलन माइकेल मधुसूदन दत्त के बँगला (बांग्ला) काव्य 'मेघनाद वध' (१८६१) को माना गया है। परम्परा से मेघनाद के उपेक्षित चरित्र को इसमें एक नयी सहानुभूति देने का, नयी चिन्तन प्रक्रिया में सफल उपक्रम है।"[67] और इसे आगे समझाते हुए इतिहासकार ने भारतेन्दु की पुनर्जागरण की चेतना को

---

[66].वही, पृ.११४

[67].वही, पृ.८३

भी बांग्ला प्रभाव सिद्ध करने का प्रयास किया है।

वास्तविक रूप में देखा जाए तो डॉ.चतुर्वेदी का यह इतिहास हिन्दी काव्य संवेदना को ही रेखांक्ति करने का अधिकांश प्रयास करता है, किन्तु इसमें उपन्यास, कहानी, निबंध आलोचना आदि को भी स्थान दिया गया है, जो अपेक्षाकृत कम है। हिन्दी उपन्यास का आरंभ वास्तविक रूप में प्रेमचन्द से ही माना गया है। इसके पीछे मान्यता यह हो सकती है कि वास्तविक रूप में हिन्दी उपन्यास प्रेमचन्द से ही सामान्य जन-जीवन से जुड़ता हुआ दिखाई देता है। किन्तु अब यह पुरानी धारणा हो चली है कि भारतेन्दु युगीन सुधारवादी, जासूसी, अय्यारी आदि प्रवृत्ति के उपन्यास समान्य जन-जीवन से नहीं जुड़े थे। राजेन्द्र यादव ने अपनी पुस्तक 'दयनीय महानता की दिलचस्प दास्ताँ' में इसे सप्रमाण सिद्ध किया है कि जासूसी उपन्यासों का भी अपना समाजशास्त्र था। आचार्य शुक्ल की भाँति डॉ.चतुर्वेदी भी इन उपन्यासों को हिन्दी का प्रचार करने का साधन मात्र मानते हैं और इन्हें आज के लोकप्रिय साहित्य के समकक्ष रख देते हैं, जो किसी भी दृष्टि से न्यायसंगत नहीं लगता है। हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना का आरंभ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'नाटक' निबंध से और व्यावहारिक आलोचना का आरंभ लाला श्रीनिवास दास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' के नाटक की बालकृष्ण भट्ट द्वारा लिखी गई समीक्षा 'सच्ची समालोचना' से मानते हैं। लेकिन वे हिन्दी में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों आलोचना के शिखर पुरुष के रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को ही स्थापित करते हैं।

यद्यपि इतिहासकार ने जयशंकर प्रसाद एवं अज्ञेय के कवि रूप के साथ-साथ उपन्यासकार, कहानीकार एवं आलोचक रूप को भी रेखांकित किया, किन्तु निराला, मुक्तिबोध आदि रचनाकारों के सन्दर्भ में वे ऐसा नहीं करते हैं। इसी प्रकार यह मात्र प्रत्येक युग के प्रतिनिधि रचनाकारों का इतिहास मात्र कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें सभी युगों के सभी रचनाकारों के कृतित्व की समीक्षा नहीं की गई है। भक्तिकाल में कबीर, जायसी, सूर, मीराँ और तुलसी के अतिरिक्त सभी कवियों के नाम गिना दिए गए हैं, इतना ही नहीं अष्टछाप के कवियों में भी केवल कुंभनदास पर पाँच-दस पंक्तियाँ लिखकर अन्य कवियों का केवल नामोल्लेख कर दिया गया है। रीतिकालीन कवियों में भी केशव, भूषण, पद्माकर, देव, मतिराम आदि कुछेक कवियों के साहित्य पर प्रकाश डालकर अन्य कवियों के नाम गिना दिए गए हैं। यही क्रम भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावादी युग आदि में भी जारी रखा गया है। छायावादी काव्य के समकालीन राष्ट्रीय काव्यधारा एवं हालावादी काव्यधारा का तो उल्लेख मात्र किया गया है, जिस कारण माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान आदि महत्त्वपूर्ण कवियों का योग्य विवेचन-विश्लेषण इस इतिहास में नहीं

हो पाया है। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, आलोचना आदि से सम्बन्धित लेखन में भी यही नीति अपनायी गई है। प्रयोगवादी कवियों में अज्ञेय को आवश्यकता से अधिक तूल दिया गया है, जबकि मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन के साथ सौतेला व्यवहार किया गया है। आचार्य शुक्ल की 'विरुद्धों का सामंजस्य' की अवधारणा पर इतिहासकार का श्रद्धा की हद तक विश्वास है, जो वह अपने विवेचन में नहीं दिखा पाया।

अब तक के इतिहासकारों में केवल आचार्य शुक्ल की दृष्टि कवियों की भाषा की ओर गई थी, डॉ.चतुर्वेदी काव्य-भाषा की विवेचना के माध्यम से साहित्य संवेदनाओं को परखने की परम्परा का विकास अपने चरम तक करते दिखाई देते हैं। उन्होंने प्रत्येक युग के प्रायः प्रत्येक प्रतिनिधि कवि की काव्यभाषा को जाँचा-परखा एवं उसकी संवेदनाओं तक काव्य-भाषा के माध्यम से पहुँचने का स्तुत्य प्रयास किया है। साहित्येतिहास की तुलनात्मक लेखन पद्धति का चरम विकास डॉ.चतुर्वेदी के साहित्येतिहास लेखन में दिखाई देता है। उन्होंने साहित्येतिहास लेखन की तुलनात्मक पद्धति का जैसा संतुलित प्रयोग किया है, वैसा संभवतः हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में किसी भी साहित्येतिहासकार ने नहीं किया। इस प्रक्रिया में वे पश्चिमी साहित्य, संस्कृत, भारतीय, राष्ट्रीय, हिन्दी साहित्य आदि किसी भी धारा से आक्रान्त नहीं होते, बल्कि जहाँ जिस भी भाषा, धारा, काल के कवि-रचनाकार से तुलना की जा सकती है, वे बेहिचक करते हैं, इस सन्दर्भ में वे पूर्णतः पूर्वाग्रहों से मुक्त हो पाने में सफल नज़र आते हैं। जैसे उन्होंने निराला की तुलना अंग्रेज़ी कवि ह्विटमैन से की है, उसी क्रम में 'कामायनी' के अप्रकाशित पद्यों की तुलना रीतिकालीन कविता से, 'वेस्ट लैंड' के अप्रकाशित पद्यों की 'श्रीमद्भागवद्गीता' की पंक्तियों से बेहिचक एवं योग्य तुलना प्रस्तुत की है। काव्यभाषा को विश्लेषित करने के क्रम में उन्होंने काव्य-लय एवं गद्य की लय को भी रेखांकित किया। प्रतिनिधि कवियों को विश्लेषण का विषय बनाए जाने के कारण सामग्री की निःसंदिग्धता पर भी उन्होंने बराबर ध्यान दिया, जिससे साहित्य में विश्वसनीयता आ गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इतिहास-दृष्टि का अनुगमन करने के पश्चात् भी अपनी विवेचन की मौलिकता एवं लेखन की सरसता के कारण यह साहित्येतिहास ग्रंथ अपने आप में डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी एवं हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

४.१४ डॉ.बच्चन सिंह कृत 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास'

'अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगें/तोड़ने ही होंगें मठ और गढ़ सभी' की तर्ज़ पर डॉ.बच्चन

सिंह अपने साहित्येतिहास ग्रंथ के शीर्षक में प्रयुक्त 'दूसरा इतिहास' (१९९६ ई.) पर स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं - "नए इतिहास के लिए शुक्ल जी का इतिहास एक चुनौती है। उनसे बहुत कुछ सीखने के साथ ही उनके ऐतिहासिक पैटर्न को तोड़ना होगा, जब रचनात्मक साहित्य पुराने पैटर्न को तोड़कर नया बनता है तो साहित्य के इतिहास पर वह क्यों न लागू हो? नया पैटर्न बनाना खतरे से खाली नहीं। नया इतिहास लिखने के लिए यह खतरा उठाना ही होगा।"[68] उनके कहने के यहाँ कई निहितार्थ निकलते हैं। पहली बात तो यह है कि नए साहित्येतिहास लेखन पद्धति की आवश्यकता पर यहाँ बल दिया गया है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनके अनुसार आचार्य शुक्ल के बाद के सारे हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने कहीं-न-कहीं आचार्य शुक्ल की ही साहित्येतिहास लेखन पद्धति को अपनाया है, उसे बदलने की आवश्यकता इसलिए महसूस की गई है।

ऐसा लगता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद इतिहास लेखन के स्थापित ढाँचे से टकराने का ऊर्जात्मक प्रयास डॉ.बच्चन सिंह ने किया है, किन्तु यह पूर्णतः सत्य नहीं है। आचार्य शुक्ल के बाद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ.रामविलास शर्मा, डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि महत्त्वपूर्ण इतिहासकारों ने इतिहास लेखन की पद्धति एवं तत्संबंधी दृष्टि से टकराने तथा उसे विकसित करने का बखूबी प्रयास किया और अपनी बात को 'जोर' देकर स्थापित करने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने अपने साहित्येतिहास लेखन में 'लोक मंगल' और 'जनता की चित्तवृत्तियों' को केन्द्र में रखा तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के यहाँ इसके विकास या प्रतिरोध के रूप में 'लोक और शास्त्र का द्वन्द्व' देखने को मिलता है। डॉ.रामविलास शर्मा ने साहित्येतिहास तो नहीं लिखा किन्तु उनका तमाम लेखन शुक्ल जी की परम्परा का पोषण करते हुए भी उसमें मौलिकता की तलाश करता है। उन्होंने जाति (वर्ण नहीं) और वर्ग की अवधारणाओं को हिन्दी जाति के सन्दर्भ में विकसित कर एक प्रकार से भारतेन्दु, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि के कार्यों को पुनर्जागरण की चेतना के आलोक में मूल्यांकित करने का सफल प्रयास किया है। डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी के इतिहास सम्बन्धी विचारों एवं उनके इतिहास लेखन पर हम पीछे प्रकाश डाल आए हैं, अतः यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे में सर्वथा नवीन इतिहास लिखने और शुक्ल जी की परम्परा को तोड़ने का पहला प्रयास होने की बात मात्र दंभ बनकर रह जाती है।

डॉ.बच्चन सिंह शुक्ल जी की परम्पराओं को तोड़ने के प्रण में अपनी परम्परा का भी आदर करते हैं। वे शुक्ल या पूर्ववर्ती साहित्येतिहास लेखन की परम्परा को पूर्ण रूप से नकार नहीं देते हैं, अपितु उससे

---

[68].हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास-भूमिका-डॉ.बच्चन सिंह, पृ.VII

जो सर्वथा उपयुक्त लगा उसे अकुंठ भाव से स्वीकार भी करते हैं। काल-विभाजन एवं नामकरण पर बात की जाए तो शुक्ल जी के यहाँ जो 'वीरगाथाकाल' है, उनके यहाँ वही 'अपभ्रंश काल है'। 'भक्तिकाल' एवं 'रीतिकाल' के नामकरण एवं काल-विभाजन को यथावत् स्वीकार किया गया है। रीतिकाल के अन्तर्गत जहाँ आचार्य शुक्ल ने उसे दो उपविभागों - रीतिग्रंथकार कवि और रीति के अन्य कवि - के रूप में विभाजित किया था, वहीं डॉ.सिंह उसे केवल दो ही उप-विभागों - बद्ध रीतिकाव्य और मुक्त रीतिकाव्य, में विभाजित करते हैं। इस सन्दर्भ में उनका तर्क है - "रीतिकाल वस्तु, शैली, छन्द, रूप-विधान में भक्तिकाल से भिन्न भूमिका पर खड़ा है। यह अपने आप में स्वतंत्र काल है। इसे उत्तर मध्यकाल कहना गणितीय भ्रमोत्पादन है। शुक्ल जी इसे दो भागों में बाँटते हैं - रीतिग्रंथकार कवि और अन्य कवि। अन्य कवि एक गोल शब्द है। इस कोटि में अर्थ की दृष्टि से हल्के कवि आएँगें। घनआनन्द को शुक्ल जी रीतिकाल के सर्वोत्कृष्ट कवियों में मानते हैं। फिर उन्हें अन्य कवियों की बिरादरी में क्यों बैठाया जाता है? यहाँ पर उनकी इतिहास-दृष्टि में खोट दिखाई पड़ती है। प्रवृत्ति की दृष्टि से वे एक को रीतिबद्ध और दूसरे को रीतिमुक्त कहते हैं। इसके आधार पर रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध आदि अवैज्ञानिक उप-विभाजन होते रहे। वास्तविकता तो यह है कि रीतिनिर्मुक्त तो कोई नहीं है। रीतिकाल नाम इसी को लेकर सार्थक होता है। रीतिमुक्त होकर कोई रीतिकालीन कैसे होगा? रीतिबद्ध और रीतिमुक्त को मैंने उलट दिया है। यानी रीतिबद्ध को बद्ध रीति और रीतिमुक्त को मुक्त रीति कहा है। घनआनन्द, ठाकुर, बोधा आदि रीति से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। उनमें रीतितत्व है, पर उसकी बद्धता नहीं है। इस नाम से नैरन्तर्य भी बना रहता है और उसका बदलाव भी।"[69] वैसे साहित्येतिहास की वैज्ञानिक दृष्टि और साहित्यिक दृष्टि से देखा जाए तो यह उप-विभाजन स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि इसमें सर्वथा तर्काधारित दृष्टि के भी दर्शन होते हैं।

रीतिकाल के विवेचन में पुनः 'बद्ध रीतिकाव्य' को 'रीति चेतस्' और 'काव्य चेतस्', इन दो उप-विभागों में बाँटकर विवेचित किया गया है। इस सन्दर्भ में केशवदास एवं चिन्तामणि की दो परम्पराओं को आचार्य शुक्ल की भाँति नैरन्तर्य एवं खण्डित के रूप में ही देखते हुए रीतिकाल का आरंभ वास्तविक रूप में चिन्तामणि से ही माना गया है, जबकि आचार्य शुक्ल ने केशवदास से माना था। 'मुक्त रीतिकाव्य' को भी पुनः 'अभिजात वर्ग' 'स्वच्छन्द काव्यधारा' और 'हिन्दी की उर्दू शैली का काव्य' शीर्षक तीन उप-विभागों में विश्लेषित किया गया है। अकेले बिहारी को ही किस उप-विभाग में रखा जाए, इस सन्दर्भ में

---

[69].हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास-डॉ.बच्चन सिंह, भूमिका, पृ.IX

साहित्येतिहासकार की दृष्टि स्पष्ट नहीं दिखाई देती है। उन्होंने बिहारी को 'काव्य चेतस' और 'अभिजात वर्ग' दोनों स्वकल्पित श्रेणियों में विवेचित किया है। रीतिकालीन कवियों के सन्दर्भ में उप-विभाग बनाते समय इतना ध्यान रखना चाहिए था कि प्रायः सारे रीतिकालीन कवि मध्यवर्ग से आते हैं और अपने आश्रयदाताओं के यहाँ पनाह पाकर उनके गुणगान करते हैं, किन्तु बीच-बीच में उनका मन अपनी मूल वृत्ति (जन वृत्ति) की और अवश्य जाता है, ऐसे में उनके काव्य में राजदरबार एवं नगरों-कस्बों का चित्रण लगातार दिखाई देता है। उनके यहाँ मौजूद अधिकांश बिम्बों में यह खण्डित दृष्टि देखी जा सकती है। ऐसे में बिहारी हो या भूषण या अन्य अधिकांश रीतिकालीन कवि, उनकी कविता को इतने सूक्ष्म रूप में विभाजित नहीं किया जा सकता है। 'स्वच्छन्द काव्यधारा' के अन्तर्गत पारम्परिक रूप से स्वच्छन्द माने जानेवाले आलम, बोधा, ठाकुर, घनआनन्द आदि कवियों को ही विवेचित किया गया है, किन्तु जिस रूप में डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने तत्कालीन उर्दू या नस्तालिक लिपि में लिखे जा रहे साहित्य का सम्बन्ध रीतिकालीन स्वच्छन्द काव्यधारा से जोड़ा था, वैसा सम्बन्ध डॉ.बच्चन सिंह नहीं जोड़ पाए हैं। अतः उनके यहाँ 'हिन्दी की उर्दू शैली का काव्य' शीर्षक के अन्तर्गत विवेचित वली दक़नी, मीर, मीर्ज़ा असदुल्ला खाँ ग़ालिब और नज़ीर अकबराबादी के काव्य का हिन्दी साहित्येतिहास में विश्लेषण का कोई तर्क नहीं रह जाता है। वैसे नज़ीर अकबराबादी हिन्दी साहित्येतिहास के कालों के अनुसार देखे जाएं तो भारतेन्दु युग के रचनाकार हैं, जिसे डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भारतेन्दु युगीन पत्रकारिता के सन्दर्भ में 'शिवशंभु के चिट्ठे' के सन्दर्भ में उनका 'तोप हो मुकाबिल तो अख़बार निकालो' शेर को केन्द्र में रखकर तत्कालीन हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी पत्रकारिता के महत्व को रेखांकित किया था।

इसी प्रकार उन्होंने भक्तिकाल सम्बन्धी आचार्य शुक्ल के नामकरण एवं काल-विभाजन को तो स्वीकार कर लिया, किन्तु साहित्येतिहास एवं साहित्य की मूल्य-दृष्टि में सर्वथा नवीनता देखी जा सकती है। आचार्य शुक्ल की ही तरह वे 'भक्ति द्रविड़ी उपजी' का वैदुष्य स्तर पर समर्थन करते हैं। किन्तु वे भक्ति के हिन्दी प्रदेश में आन्दोलन का रूप ग्रहण करने के सन्दर्भ में न तो आचार्य शुक्ल की 'भगवान के शरण में जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग न था' और न तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'बारा आना वैसे ही होता' वाली धारणा का समर्थन करते हैं। आचार्य शुक्ल के मत को खण्डित करने के लिए उन्होंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मत का सहारा लिया और उनके मत को खण्डित करते हुए उन्होंने लिखा - "द्विवेदी जी का कथन भी अर्द्धसत्य ही है। यदि मुसलमान न आए होते तो न सन्त काव्य लिखा जाता और न सूफी काव्य। क्षितिमोहन सेन और इतिहासकार ताराचन्द ने स्पष्ट रूप से सन्त कवियों पर सूफियों

का प्रभाव स्वीकार किया है। शुक्ल जी का मत भी इससे भिन्न नहीं है। निम्न वर्ग के जिन लोगों ने इस्लाम स्वीकार किया था, वे हिन्दुओं से भी तिरस्कृत थे और मुसलमानों से भी।"[70] इन्होंने कबीर के 'ना हिन्दू ना मुसलमान', गुरु, रचनाओं, कबीर के 'अस्वीकार के साहस' और उनके साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र को विशेष रेखांकित किया है। संभवतः पहली बार किसी साहित्येतिहासकार ने सिख गुरुओं की वाणियों को विस्तृत विवेचन हिन्दी साहित्येतिहास में किया है। जायसी के सन्दर्भ में इनका विवेचन प्रायः शुक्ल जी से आगे नहीं बढ़ पाया है। शुक्ल के यहाँ तुलसीदास के बाद जायसी ही सर्वश्रेष्ठ कवि थे, इनके यहाँ इतिहास की मात्र एक घटना।

आचार्य शुक्ल ने जहाँ सूरदास के काव्य में अभिव्यक्त 'गृहस्थ जीवन' को रेखांकित किया था, वहीं उन्होंने इसे पांचरात्र सम्प्रदाय आदि के विषय में विवेचित करने का प्रयास किया है। मीराबाई का अष्टछाप के कवियों के साथ विश्लेषण किया गया है, जो कि गलत है, क्योंकि मीराबाई कृष्णभक्त कवयित्री तो थीं किन्तु वह किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित न थी। रसखान के साथ भी यही किया गया है। रामभक्ति शाखा में तुलसीदास के साथ केशवदास को भी रख दिया गया है और बाद में रीतिकाल के सन्दर्भ में भी केशवदास के साहित्य का विवेचन कर दिया गया है। इस रूप में देखा जाए तो जैन कवियों की रामकथाओं से रामभक्ति शाखा का आरंभ मानना पड़ेगा, जो कि साहित्य एवं सांस्कृतिक मूल्य दृष्टि से गलत होगा। अचरज का विषय है कि साहित्येतिहासकार को तुलसीदास और केशवदास की रामकथा में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। साहित्येतिहास में इन्होंने दक्खिनी साहित्य को भी भक्तिकालीन साहित्य के सन्दर्भ में स्थान दिया है, जो अलग शीर्षक के अन्तर्गत विवेचित किया गया है। वास्तविक रूप में इसका अधिकांश विवेचन सूफी एवं निर्गुण साहित्य के साथ प्रवृत्तिनुरूप विभाजित करके होना चाहिए था। दक्खिनी साहित्य के सन्दर्भ में साहित्येतिहासकार ने प्रवृत्तियों पर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा। इसके अतिरिक्त मराठी सन्त-भक्त कवियों द्वारा लिखित दक्खिनी या हिन्दुस्तानी काव्य की ओर भी साहित्येतिहासकार का ध्यान नहीं गया है, जबकि 'हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास' में इसे विवेचित कर भक्ति आन्दोलन एवं रीतिकाव्य के सन्दर्भ में उसके योगदान की चर्चा की जा चुकी थी। इस अर्थ में दक्खिनी साहित्य का यह समावेश नाम के लिए ही किया गया है, इसमें कोई व्यापक दृष्टि नहीं दिखाई देती है।

अपनी इतिहास लेखन की प्रक्रिया में इतिहासकार को इस बात का पूर्ण भान है कि वह उत्तर-

---

[70].वही, पृ. ७७

आधुनिक समय में इतिहास लिख रहा है, जहाँ विचारधाराविहीनता को प्रचारित कर इतिहास के अन्त की घोषणाएँ की जा रही थीं। ऐसे में इतिहास के प्रति उसका पूर्ण विश्वास कार्यात्मक रूप में उनके इतिहास लेखन में, विशेषतः आधुनिक साहित्य के विवेचन में पूर्णतः झलकता है। वे इतिहास को मोहित होकर नहीं, निर्भीक-निडर होकर तथ्यों की खिड़की से देखते हैं और उसी बेबाक़ी से उसे शब्दों में अभिव्यक्त भी करते हैं। यह इतिहासकार पर अपने समय का दबाव ही कहा जा सकता है।

डॉ.बच्चन सिंह ने हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग का आरंभ अन्य इतिहासकारों की भाँति सन १८५० ई.से मानने से इन्कार करते हुए उसका आरंभ १८५७ ई. से माना है। इस सन्दर्भ में उनका कहना है - "संयोग है कि हिन्दी साहित्य में आधुनिक जीवन बोध को प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चंद्र का जन्म सन १८५० – ठीक उन्नीसवीं शती के मध्य – में होता है। अतः इतिहास लेखकों ने इस वर्ष को ही आधुनिक हिन्दी साहित्य की शुरुआत का वर्ष मान लिया। किन्तु यह वर्ष स्वयं इतिहास की गतिमानता या बदलाव में किसी तरह की भूमिका अदा नहीं करता। इतिहास के काल विभाजन की रेखा कम-से-कम दो विभिन्न प्रवृत्तियों को स्पष्टतः अलगाने वाली तथा इस अलगाव के लिए खुद भी बहुत कुछ उत्तरदायी होनी चाहिए। यदि सन १८५७ को आधुनिक काल का प्रारंभिक बिन्दु मान लिया जाए तो ऊपर्युक्त दोनों शर्तें पूरी हो जाती हैं।"[71]

इसके पश्चात् उन्होंने सन् १८५७ से हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का आरंभ मानने के पक्ष में दलील देते हुए लिखा है - "सन् १८५७ ई. का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम (जो पहले गदर के नाम से प्रसिद्ध था) ब्रिटिश सम्राज्यवाद की जड़ें हिला देनेवाला सिद्ध हुआ। इसके पहले देश के अन्य भागों में छिटपुट विद्रोह हो चुके थे। उदाहरणार्थ, बंगाल का सन्यासी विद्रोह (१८६३-१८००), उडिसा के जमींदारों का विद्रोह (१८०४-१८१७), विजयनगरम् के राजा का विद्रोह (१७९४) आदि। सन १८५७ का विद्रोह भी हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के एक सीमित भाग तक ही फैलकर रह गया था, यद्यपि यह क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था। किन्तु अपनी प्रकृति और संरचना में यह भिन्न था।"[72]

वास्तव में राजनीतिक गतिविधि से साहित्य के काल-विभाजन की पद्धति अंग्रेजी साहित्य में प्रचलित रही है। वहाँ राजाओं-रानियों के सत्ता में आने-जाने को लेकर साहित्य का काल-विभाजन किया जाता रहा है, किन्तु सन १८५७ का प्रथम स्वतंत्रता सग्राम उस रूप में पूर्णतः राजनैतिक आन्दोलन भी

---

[71].वही, पृ. vii

[72].वही, वही

नहीं था और वह इतना भी साहित्य पर प्रभावशाली नहीं था कि उससे साहित्य का काल-विभाजन एवं नामकरण किया जा सके। वैसे इस काल-विभाजन के सन्दर्भ में डॉ.सिंह के तर्क को साधार स्वीकार किया जा सकता है, इस सन्दर्भ में उन्होंने ऊपर के उद्धरण में पूर्ण स्पष्टीकरण दे दिया है। उन्होंने इस काल का नाम 'पुनर्जागरण काल' दिया है। यहाँ पर उनकी दृष्टि में फाँक नज़र आती है। क्योंकि पुनर्जागरण एक सांस्कृतिक चेतना का अंग है और सन १८५७ का स्वतंत्रता संग्राम सांस्कृतिक से अधिक राजनैतिक-आर्थिक चेतना का अंग था। इन दोनों को वैसे पूर्णतः अलगाया भी नहीं जा सकता है, किन्तु दोनों को एक मानकर साहित्येतिहास में नामकरण भी नहीं किया जा सकता है। नामकरण के लिए उन्होंने एक ओर पुनर्जागरण की चेतना का आधार लिया तो काल-विभाजन के लिए स्वतंत्रता संग्राम का। वैसे तत्कालीन साहित्य में राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक चेतना, दोनों की अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु भारतेन्दु आदि कवियों में राज्यभक्ति भी देखी जा सकती है, यह प्रवृत्ति उनके इस पुनर्जागरण नामकरण में अँट नहीं पाती है। ये कैसा पुनर्जागरण है, जो राज्यभक्ति पर टिका है, वह भी विदेशी! ऐसे में रीतिकालीन राज्यभक्ति और भारतेन्दु कालीन राज्यभक्ति में कैसा अन्तर था, कितनी मात्रा में था, इसे वे स्पष्ट कर पाते तो बेहतर होता।

डॉ.बच्चन सिंह ने व्यक्तियों के नाम पर आधारित काल-विभाजन एवं नामकरण का मुखर रूप में विरोध किया है। उन्होंने लिखा - "कुछ लोगों ने आधुनिक काल के विकास के प्रथम दो चरणों को भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग कहना अधिक संगत समझा। किन्तु इन नामों की ग्राह्यता को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की परिकल्पना कर लेने पर युगों की बाढ़ आ गई। 'भारतीय हिन्दी परिषद', प्रयाग से प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य' (तृतीय खण्ड में) उपन्यासों के सन्दर्भ में 'प्रेमचन्द युग' और नाटकों के सन्दर्भ में 'प्रसाद युग' की कल्पना की गई। पता नहीं, समीक्षा के सन्दर्भ में 'शुक्ल युग' क्यों नहीं लिखा गया? जितने युग उतने सन्दर्भ!"[73] इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने द्विवेदी युग को हिन्दी साहित्य से हटाकर १९२० ई. तक के साहित्य का मूल्यांकन 'पुनर्जागरण युग' के अन्तर्गत कर दिया है। यह सही है या नहीं, कहा नहीं जा सकता है, किन्तु उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के मूल्य को किसी प्रकार से कम करके नहीं आँका है।इसलिए उनके द्वारा नामकरण में इन दोनों का उल्लेख न करना गलत नहीं माना जाना चाहिए। द्विवेदी काल के स्थान पर उन्होंने सन् १९००-१९१८ ई.के बीच के काल को 'पूर्व-स्वच्छन्दतावाद-काल' के

---

[73].वही, पृ.ix

नाम से अभिहित किया है। इस काल को उन्होंने छायावाद की पूर्वपीठिका में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, जिसमें छायावाद के लिए खड़ी बोली को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के कारखाने में खड़ी बोली को कोमलकान्त पदावली में ढाला जा रहा था। राष्ट्रीय काव्यधारा का उदय भी वे इसी काल के भीतर मानते हैं, किन्तु भारतेन्दु युगीन (पुनर्जागरण कालीन) राष्ट्रीयता से उसे जोड़ना आवश्यक नहीं समझते हैं।

डॉ.बच्चन सिंह ने छायावाद का प्रारंभ सन १९२० से माना है तथा उसे 'स्वच्छन्दतावाद' के नाम से अभिहित किया है। उन्होंने छायावाद नामकरण को अव्याप्ति दोष से युक्त सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है। इसी क्रम में उन्होने स्वच्छन्दतावाद को न तो योरोप का प्रभाव माना है और न बांग्ला कविता का। उनके अनुसार "हिन्दी का स्वच्छन्दतावाद अंग्रेजी स्वच्छन्दतावाद के अनुरूप न होकर पूर्वी योरोप के स्वच्छन्दतावाद के अनुरूप है।"[74] इस विवाद में न उलझते हुए कि स्वच्छन्दतावाद का प्रथम कवि कौन है, उन्होंने स्वच्छन्दतावादी कवियों का सम्यक दृष्टि से विवेचन किया है।

अत्यन्त द्रुत गति से समय के चक्र को घुमाते हुए डॉ.बच्चन सिंह ने १९४०-१९८० ई. तक के कविता का विश्लेषण 'उत्तर स्वच्छन्दतावाद' शीर्षक के अन्तर्गत कर दिया है। इसमें उन्होंने किसी भी उप-विभाग के निर्माण की आवश्यकता नहीं समझी, वास्तव में जो सबसे अधिक थी। स्वच्छन्दतावाद के बाद आए प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता आदि किसी भी काव्य आन्दोलन को वाद या आन्दोलन के रूप में रेखांकित करने की आवश्यकता न समझते हुए हरिवंशराय बच्चन से धूमिल तक के कवियों को एक क्रम में प्रस्तुत कर दिया गया है। इस विवेचन क्रम में इतिहासकार ने विचारधारा, काव्य-शैली, साहित्य-दृष्टि, विभिन्न काव्यान्दोलन आदि किसी भी स्थिति-परिस्थिति का ध्यान नहीं रखा है। इतना ही नहीं विभाजन एवं स्वतंत्रता जैसी बड़ी घटनाओं को भी उसने काव्य की संवेदना में परिवर्तन की विभाजक रेखा के रूप में चिन्हित नहीं किया है, जबकि १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम को वे बड़ी तत्परता के साथ रेखांकित करते हुए काल-विभाजन करते हैं।

इस इतिहास ग्रंथ पर सरसरी नज़र भी दौड़ायी जाए तो पता चल जाता है कि यह हिन्दी काव्य मात्र का इतिहास है, क्योंकि इसमें गद्य साहित्य को ध्यान में रखकर न तो काल-विभाजन हुआ है और न नामकरण । स्वच्छन्दतावाद के सन्दर्भ में अवश्य लेखक इस ओर ध्यान देता है, किन्तु इस काल के प्रेमचन्द जैसे उपन्यासकार इस नामकरण में समा नहीं पाते हैं। उन्होंने 'उत्तर-स्वच्छन्दतावाद-काल (गद्य)'

---

[74].वही, पृ. पृ.१३८

शीर्षक से जो नामकरण किया, उसे भी काव्य की भाँति १९४०-१९८० तक समेट लिया गया है। अतः इसमें भी वही दोष आ गए हैं, जो 'उत्तर-स्वच्छन्दतावादी काल' में काव्य के सन्दर्भ में आए थे। इसमें उन्होंने नाटक, कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि उप-शीर्षकों में गद्य साहित्य चलता-सा वर्णन मात्र कर दिया है।

साहित्येतिहासकार ने जिस प्रकार प्रण लेकर हिन्दी साहित्येतिहास की दूसरी धारा को विकसित करने का प्रयास किया है, उसमें उसे काफी सफलता मिली है, किन्तु इस क्रम में वह कई बार 'विरोध के लिए विरोध' का भी शिकार होता दिखाई देता है। इस क्रम में वह कई स्थानों पर पूर्वाग्रहों एवं आग्रहों से मुक्त नहीं हो पाता है। साहित्य पर अपनी स्थापनाएँ थोपने के क्रम में वह भक्तिकालीन साहित्य एवं रीतिकालीन चारण परम्परा को समानान्तर मानने लगता है। इतना होते हुए भी अपनी स्थापनाओं की नवीनता और साहित्येतिहास और आलोचना के सम्बन्धों में नवीन दृष्टि का सूत्रपात कर उसे अधिक गांभीर्य के साथ अभिव्यक्त करने के सन्दर्भ में डॉ.बच्चन सिंह का साहित्येतिहास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है।

४.१५ डॉ. सुमन राजे कृत 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास'

डॉ.सुमन राजे का इतिहास लेखन अपने शोधों एवं उसके प्रस्तुतीकरण के कारण चर्चा में रहा। उन्होंने 'आधे इतिहास' से पूर्व 'हिन्दी साहित्य : संरचना और स्वरूप' एवं 'साहित्येतिहास : आदिकाल' शीर्षक पुस्तकें लिखी, जिनमें साहित्येतिहास सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन अधिक हुआ है। उनका सन् २००३ में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' इन्हीं मान्यताओं की व्यावहारिक फलश्रुति है। उन्होंने अपने इतिहास लेखन में पूर्ववर्ती साहित्येतिहास लेखन में छूटे हुए बिन्दुओं को उभारने का कार्य किया। उनके अनुसार वे अधिकांश स्त्री लेखकों के सन्दर्भ में थे। उनकी इतिहास दृष्टि के अनुसार हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में पुरुष साहित्यकारों की खोज करके उन्हें प्रस्तुत किया गया, जबकि स्त्री रचनाकारों के साथ ऐसा नहीं किया। यदि ऐसा किया भी गया तो उनके साहित्य को देखने का दृष्टिकोण गलत था। ऐसे में उनका साहित्येतिहास अपने हिन्दी साहित्य में आयातित स्त्रीवादी आन्दोलन से परिचालित होता है।

'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि पूर्ववर्ती इतिहासकारों द्वारा महिला लेखिकाओं के सम्बन्ध में उपेक्षा की गई थी, उसका प्रतिकार करने हुए उन्होंने लिखा है- "ज्यों-ज्यों आधे इतिहास का लेखन गति पकड़ता गया यह धारणा पुख्ता होती चली गयी कि पुरुष इतिहासकारों

ने महिला रचनाकारों के साथ बहुत अन्याय किया है। यह अन्याय उदासीनता के चलते हुए हो ऐसी बात नहीं है। यह अन्याय विमुख रहकर किया गया है। लेकिन यह कहना भी गलत होगा कि अन्याय सिर्फ पुरुषों ने किया है। महिला लेखिकाओं ने भी उधर ध्यान नहीं डाला। ...वैसे स्त्रियों के साथ अन्याय होता आया है और कब तक होता रहेगा कहा नहीं जा सकता। उन सबसे लड़ना मेरे लिए संभव नहीं है। इसलिए मैंने फैसला किया कि अन्याय के विरुद्ध यह लड़ाई मैं साहित्येतिहास के भीतर लड़ूँगी यह मानते हुए कि हर लड़ाई आत्मसाक्षात्कार की ओर भी ले जाती है और ले जाएगी।"[75]

इस संकल्प के आलोक में देखा जाए तो साहित्येतिहास लेखिका अपने प्रयास में काफी हद तक सफल रही है। उन्होंने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में पहली बार हिन्दी ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के साहित्येतिहास में हुए महिलाओं के लेखन को केन्द्र में रखकर सुव्यवस्थित इतिहास लिखा है। सिर्फ महिला लेखिकाओं के साहित्य पर आधृत होने के कारण इतिहासकार ने इसे 'आधा इतिहास' कहा है, किन्तु इस इतिहास के कारण ही हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में पूर्णता आयी है। हिन्दी साहित्येतिहास का जो अंग छूट गया था, उसे लेखिका ने पूर्ण करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

इस इतिहास में वैदिक ऋचाओं, बौद्ध थेरी गाथाओं, संस्कृत एवं हिन्दी कवयित्रियों, भक्त कवयित्रियों, रानी और वेश्याओं के लेखन को एक साथ प्रस्तुत किया गया है। पारम्परिक इतिहास दृष्टि के प्रति चुनौती प्रस्तुत करते हुए उन्होंने 'महिला सौन्दर्यशास्त्र' का सम्पूर्ण लोक गढ़ने या कि उसे याद दिलाने का प्रयास किया है, जिसमें लोक-साहित्य को आधार बनाया गया है। इस सन्दर्भ में उनका कहना है - "यदि स्त्री साहित्य का इतिहास लिखना है तो बिना लोक साहित्य का आश्रय लिए लिखा ही नहीं जा सकता, ऐसा मेरा मानना है। इसलिए पहली बार लिखे अक्षर को प्रामाणिक मानने की परम्परा को तोड़कर लोक साहित्य की सहायता से इतिहास रचने की कोशिश या कहिए दुःस्साहस यहाँ किया गया है। केवल रचना ही नहीं महिला लेखन का एक पूरा सौन्दर्यशास्त्र है जिसे हम लोक साहित्य से प्राप्त कर सकते हैं। पहली बार ऐसी कोशिश यहाँ की गई है।"[76]

यह स्पष्ट है कि जब पारम्परिक शास्त्रीय परम्परा में स्त्री-गीतों, उसके साहित्य या कि उसके जीवन को कहीं भी अक्षरों में बन्द नहीं किया गया है, उसके अनुभवों को अक्षर के बगैर इतिहास में भी स्थान नहीं दिया गया। किन्तु लोक-साहित्य का दस्तावेज़ीकरण भी उस मात्रा में नहीं पाया है, ऐसे में

---

[75].हिन्दी साहित्य काआधा इतिहास-सुमन राजे, पृ.११

[76].वही, पृ.२०

डॉ.राजे को इसके आधार रूप में ग्रहण करने और उससे निःसृत साहित्य का इतिहास लिखने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा, इसकी मात्र कल्पना ही की जा सकती है। वैसे अधिकांश लोक-साहित्य उपलब्ध होने के कारण यह इतिहास भी अधूरा ही कहा जाएगा, जिसकी संभावनाओं को तलाश करने का आरंभ डॉ.सुमन राजे ने किया है।

डॉ. सुमन राजे ने अपने 'आधा इतिहास को तीन खण्डों और कुल १६ अध्यायों में विभाजित किया है।अध्यायों के नामकरण में 'नवजागरण' का प्रयोग करते हुए, प्रथम नवजागरण थेरी गाथा, द्वितीय नवजागरण संस्कृत एवं प्राकृत कवयित्रियाँ, तृतीय भक्तिकाल एवं चतुर्थ नवजागरण को आधुनिक काल से जोड़ते हुए रचनाकारों की रचनाओं एवं व्यक्तित्व का तथा तत्कालीन परिस्थितियों का मूल्यांकन किया गया है। इतिहास के तीन खण्डों में पहले खण्ड 'पहचान का संकट और संकट की पहचान' शीर्षक के अन्तर्गत पहले अध्याय में महिला लेखन करनेवाले आधे इतिहास का प्रथम लेखक राजशेखर को घोषित किया है, "महिला लेखन को सबसे पहले राजशेखर ने दर्ज किया था।"[77] इसी खण्ड में तीसरे अध्याय 'आधे इतिहास की तलाश' में भी पहला इतिहासकार राजशेखर को मानते हुए फिर आधे इतिहास के रूप में देवी प्रसाद (१९२५) द्वारा रचित 'महिला मृदल वाणी' को माना तथा ज्योतिप्रसाद निर्मल द्वारा रचित 'स्त्री कवि कौमुदी' (१९३१) को पहला महत्त्वपूर्ण इतिहास माना। इसी क्रम में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में मीरा और महादेवी के अलावा अन्य महिला लेखिकाओं को महत्व न दिए जाने पर इतिहासकार ने शोक प्रकट करते हुए कहा है - "१९३० से लेकर १९४५ तक महिला लेखन को रेखांकित करने का जो काम शुरु हुआ था, वह समाप्त हो गया। मीराँ और महादेवी से बचकर निकलना संभव नहीं था परन्तु उनके अतिरिक्त राष्ट्रीय काव्यधारा में कवयित्रियों के योगदान को एकदम से नकार दिया गया।"[78]

साहित्येतिहासकारों के सन्दर्भ में डॉ.राजे की उपरोक्त टिप्पणी आज भी प्रासंगिक लगती है। ग्रंथ में द्वितीय नवजागरण के अन्तर्गत संस्कृत और प्राकृत की कवयित्रियों का उल्लेख किया गया है। तृतीय खण्ड में हिन्दी साहित्येतिहास की विवेचना करते हुए इसकी शुरुआत नवजागरण के तृतीय सोपान अर्थात भक्तिकाल को माना गया है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के सन्दर्भ में लेखिका ने यह स्पष्ट किया है कि यहाँ नवजागरण पहले मध्ययुग में फिर आधुनिक युग में आता है, जिसका प्रतिफलन भक्तिकाल और

---

[77].वही, पृ.१९

[78].वही, पृ६४

बाद के समय में आधुनिक काल के रूप में होता है। इस सन्दर्भ में उनका कहना है - "हिन्दी साहित्येतिहास को मूल्यों से संयुक्त करने की प्रक्रिया में हम दो नवजागरणों के उन्नत शिखरों का स्पर्श कर सकते हैं ; जिनके दोनों ओर विकास की एक सहज प्रक्रिया है। ...भक्ति और आधुनिकता उनकी चेतना को व्यंजित करने का माध्यम है।"[79] लेकिन लेखिका ने स्त्रियों के सन्दर्भ में यह नहीं दिखाया कि इतने सारे नवजागरण एक दूसरे से कैसे भिन्न हैं और उनके चरित्र में मूल अन्तर क्या है?

इतने सारे नवजागरण एवं उससे निकले साहित्य का उल्लेख एवं विवेचन करने के बाद उन्होंने समकालीन महिला लेखन को 'पुनश्च स्त्री विमर्श' शीर्षक के अन्तर्गत समेटने का प्रयास किया है। लेकिन इस क्रम में वे समकालीन स्त्री विमर्श एवं इतिहास में हुए स्त्री लेखन में मूलभूत अन्तर को रेखांकित नहीं कर पाती हैं। इन दोनों में बहुत अन्तर है और इसके अन्तर को समझाने की उम्मीद इतिहासकार से की जा सकती है। उन्होंने कई समकालीन स्त्री रचनाकारों के साहित्य का मूल्यांकन किया है।

इस प्रकार डॉ. सुमन राजे का साहित्येतिहास अपनी समकालीन ज़मीन की तलाश में इतिहास के अऩसुलझे एवं उल्लेख से वंचित महिला लेखिकाओं की तलाश के रूप में लिखा गया है। उन्होंने साहित्येतिहास लेखन में एक नवीन परम्परा को स्थापित करते समय अपने समकालीन विमर्शों का दबाव भी अपने साहित्येतिहास में आने नहीं दिया, किन्तु उनका साहित्येतिहास लेखन इससे कहीं-न-कहीं प्रभावित भी होता और उसे प्रभावित करता है।

अध्याय के सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि यह हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के लिए अत्यन्त फलदायी समय रहा है। इसमें जहाँ एक ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में अभिव्यक्त साहित्येतिहास दृष्टि को चुनौतियों का सामना करना पड़ा वहीं इसे विस्तार भी देने का प्रयास कुछ साहित्येहासकारों ने किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शास्त्र की अपेक्षा लोक एवं पराजित मानसिकता की अपेक्षा स्वाभाविक विकास की अवधारणा के रूप में मानवतावादी एवं सांस्कृतिक इतिहास लेखन की परम्परा को स्थापित किया। इसके बाद के साहित्येतिहासकारों ने या तो आचार्य शुक्ल की दृष्टि से साहित्येतिहास लेखन किया अथवा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के। कहीं-कहीं नामकरण एवं काल-विभाजन में मौलिकता तो दिखाई पड़ी किन्तु उनमें प्रायः समुचित इतिहास दृष्टि एवं साहित्येतिहास-आलोचना का योग्य संयोग नहीं दिखाई दिया। आचार्य शुक्ल ने जिस विधेयवादी प्रणाली के द्वारा वस्तुवादी इतिहास को जन्म दिया वह वस्तुवादी ऐतिहासिक दृष्टि आदर्शोन्मुख समाजनिष्ठ

---

[79].वही, पृ.१२१

या उससे कुछ भिन्न रूप में साहित्य, संस्कृति और इतिहास को मानवतावादी दृष्टिकोण से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने परखकर उसे मानवतावाद की व्यापक चिन्तन परम्परा के रूप स्थापित किया है, जिसके मूल में मनुष्य की समता और सामुहिक स्वातंत्र्य की लोकमंगलणकारी भावना थी। इसलिए उनके साहित्येतिहास दर्शन में सामाजिकता अनुस्यूत है, वैयक्तिकता नहीं। इसमें वह सामाजिक नैतिकता और स्वाधीनता की भावना एक साथ समन्वित है, जिसमें मानव कल्याण सर्वोपरि है।

डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद महत्त्वपूर्ण इतिहासकार के रूप में अपना नाम दर्ज करवाया। उन्होंने साहित्य एवं भाषा को संवेदनाओं एवं उसके विकास से तौलने का प्रयास करते हुए साहित्येतिहास का सैद्धान्तिक रूप प्रस्तुत किया। उनके साहित्येतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्येतिहास का अनुगमन भले ही दिखाई देता हो, किन्तु उन्होंने आचार्य शुक्ल द्वारा अनदेखे किए गए कवियों पर समुचित ध्यान दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने साहित्येतिहास में आलोचना की तुलनात्मक पद्धति का योग्य एवं सार्थक प्रयोग किया है, जिससे उनके साहित्य मूल्यांकन में सारगर्भिता एवं संश्लिष्टता आयी है। उनका साहित्येतिहास केवल हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं है, इससे आगे वह हिन्दी भाषा एवं हिन्दी जनता की संवेदनाओं का इतिहास भी है। आचार्य शुक्ल से भिन्न उन्होंने युगीन परिस्थितियों का अलग से प्रस्तुतीकरण नहीं किया, बल्कि उसे साहित्य के साथ संयोजित कर प्रस्तुत किया।

डॉ.बच्चन सिंह ने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दूसरी ज़मीन तलाशने का प्रयास किया और अपने प्रण के साथ हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आचार्य शुक्ल की मान्यताओं की गहरी समीक्षा कर उससे 'संग्रह' और 'त्याग' दोनों किया। डॉ.बच्चन सिंह में अपनी पूर्ववर्ती साहित्येतिहास लेखन की परम्परा से ग्रहण के साथ विद्रोह का भाव भी दिखाई देता है। उन्होंने न केवल साहित्येतिहास के नामकरण और काल-विभाजन के क्षेत्र में अपना मौलिक दृष्टिकोण दिखाया, अपितु मूल्यांकन एवं साहित्येतिहास और आलोचना के सम्बन्धों को भी नयी दृष्टि प्रदान की।

वैसे इस काल में सर्वाधिक हिन्दी साहित्य के इतिहास दर्ज किए गए हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री, बाबू गुलाबराय, रामअवध द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, राजकिशोर त्रिपाठी, गणपति चन्द्र गुप्त, रामखेलावन पाण्डेय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि का साहित्येतिहास लेखन अपनी युगीन परिस्थितियों एवं साहित्याभिरुचि से परिचालित थे। इनके साहित्येतिहास लेखन ने अपने युगीन आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य की किन्तु साहित्येतिहास लेखन के इतिहास में वे वह अन्तर न उपस्थित

कर पाए, जिसकी साहित्येतिहास लेखन में सदा आवश्यकता होती है। गणपति चन्द्र गुप्त ने इतिहास लेखन की विधेयवादी प्रणाली और आचार्य द्विवेदी की मानवतावादी संस्कृतिमूलकप्रणाली से भिन्न विकासवादी पद्धति के द्वारा हिन्दी साहित्य का नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया, जिसे वे वैज्ञानिक प्रणाली कहते हैं। साहित्येतिहास लेखन के क्रम में हिन्दी साहित्येतिहासों के अनन्तर हिन्दी भाषा का भी इतिहास प्रस्तुत किया जाता रहा है, जिससे इस काल का साहित्येतिहास लेखन मात्र साहित्य का इतिहास बनकर नहीं रह गया, अपितु वह सामाजिक-सांस्कृतिक और तो और राजनीतिक इतिहास भी होता चला गया। हिन्दी साहित्य का इतिहास कभी भी मात्र साहित्य का इतिहास नहीं रहा, वह किसी-न-किसी रूप में समाज का भी इतिहास रहा है, इस काल में यह प्रवृत्ति अधिक उभरकर सामने आयी, जिसने साहित्येतिहास लेखन को सामाजिक इतिहास के लेखन को भी साहित्येतिहास लेखन का अंग बनाकर अधिक सफल बनाया, अधिक सार्थक बनाया।

पंचम् अध्याय

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की प्रणालियाँ एवं पद्धतियाँ

साहित्येतिहास लेखन इतिहास की भाँति केवल तथ्यों का ब्यौरेवार प्रस्तुतीकरण मात्र नहीं होता। साहित्येतिहासकार के पास न तो यह सहूलियत होती है कि वह अतीत के सम्पूर्ण सामग्री के रचनाकार, रचनाकाल और विषय-वस्तु की जानकारी प्रस्तुत कर, साहित्येतिहास लिखने का दावा प्रस्तुत कर दे। साहित्येतिहास अपने व्यापक अर्थ में रचनाकार-पाठक-रचना के बीच के सम्बन्धों की व्याख्या मात्र ही नहीं होता। साहित्येतिहास केवल साहित्य और समाज के सम्बन्धों को प्रस्तुत करने वाली पोथी भी नहीं होती। साहित्येतिहास साहित्य मात्र का भी इतिहास नहीं होता। वह समाज-संस्कृति का इतिहास भी बनकर नहीं रह सकता। साहित्येतिहास का सम्पूर्णता पाने के करीब आने के लिए वह सब कुछ होना अनिवार्य है, जिसे मैनेजर पाण्डेय ने इन शब्दों में कहा है - "साहित्य के इतिहास का आधार है, साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा। साहित्य की निरन्तरता और विकासशीलता में आस्था के बिना साहित्य का इतिहास लेखन असंभव है।"[1] साहित्येतिहास अतीत के साहित्य को अपने समकालीन दबावों और परम्परा से प्राप्त प्रतिमानों से जहाँ मूल्यांकित करता है, वहीं युग-विशेष में साहित्य-रचना की लोकप्रियता के कारणों की भी जाँच-पड़ताल करता है। इस अर्थ में वह एक ओर साहित्यकार और साहित्य-युग एवं रचनाओं के उद्भव के कारणों की खोज करता है, तो दूसरी ओर साहित्य और समाज के सम्बन्धों की। वह रचनाकार-रचना को ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया में रखकर उसकी इतिहास में स्थिति का पता लगाने का प्रयास करता है। यह स्थिति बहुत कुछ वर्तमान साहित्यिक-सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों एवं तत्संबंधी दृष्टियों पर निर्भर करती है। साहित्येतिहास साहित्य के इतिहास के साथ-साथ भाषा, समाज, संस्कृति का भी इतिहास होता है। इन तत्वों से जुड़कर ही कोई भी साहित्येतिहास अपने पूर्ण रूप को पाने के अधिक-से-अधिक समीप पहुँचता है।

ऊपर उल्लेखित गुणों की उपस्थिति मात्र से साहित्येतिहास की रचना-प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो जाती है। साहित्येतिहास की रचना-प्रक्रिया केवल तथ्यों के संकलन, उनके अध्ययन एवं प्रस्तुतीकरण तक ही सीमित नहीं होती। साहित्येतिहास की रचना साहित्येतिहासकार के मानस में पहले से मौजूद उसकी

---

[1].साहित्य और इतिहास-दृष्टि-मैनेजर पाण्डेय, पृ.०४

विचारधारा, उसकी भावधारा एवं संवेदनशीलता उसके साहित्यिक संस्कार के स्तर पर बहुत पहले ही रचे जा चुके होते हैं, साहित्येतिहास तो उसका मूर्त रूप होता है। उसी प्रकार साहित्येतिहास का स्वरूप साहित्येतिसकार द्वारा स्वीकृत साहित्येतिहास की लेखन प्रणाली एवं पद्धति पर भी निर्भर करता है। अतः हमें यहाँ साहित्येतिहास लेखन की प्रणालियाँ एवं पद्धतियों से तात्पर्य एवं उनमें अन्तर जान लेना आवश्यक है।

५.१. साहित्येतिहास लेखन की प्रणालियों एवं पद्धतियों में अन्तर

साहित्येतिहास लेखन की प्रणाली का सम्बन्ध साहित्येतिहास के मूल ढाँचे से होता, जिस पर सम्पूर्ण साहित्येतिहास की रूपरेखा तय होती है। साहित्येतिहास लेखन के लिए विशिष्ट सामग्री एवं तथ्यों की आवश्यकता होती। केवल साहित्यिक सामग्री के अतिरिक्त जिस साहित्य का इतिहास लिखा जाना है, उस भाषा का सम्पूर्ण इतिहास, उस जाति-राष्ट्र का सम्पूर्ण इतिहास, सांस्कृतिक-सामाजिक विवादों की जानकारी इतिहासकार के पास होनी आवश्यक होती है। तथ्यों से तात्पर्य रचनाकारों-रचनाओं के काल की निश्चित जानकारी से है। इसके अतिरिक्त रचनाओं में अभिव्यक्त-प्रयुक्त वस्तु एवं रूप के सन्दर्भ में सम्पूर्ण ऐतिहासिक जानकारी इतिहासकार के पास होना अनिवार्य होता है। जब इतिहासकार इस जानकारी से लैस हो जाता है, तब उसका वस्तुगत एवं रूपगत अध्ययन कर साहित्येतिहास लेखन के लिए तैयार होता है। इन सभी पर निर्भर करता है कि वह किस प्रणाली का उपयोग कर अपने साहित्येतिहास को मूर्त रूप दे। उदाहरणार्थ, हिन्दी साहित्य के आरंभिक इतिहासकारों के पास ऊपर उल्लेखित तथ्यों का अभाव था, इस कारण उन्होंने साहित्येतिहास लेखन की कालानुक्रम एवं वर्णानुक्रम प्रणालियाँ अपनायी। अर्थात् किस प्रणाली का उपयोग किया जाए, यह साहित्येतिहासकार से अधिक सामग्री की उपलब्धता पर निर्भर करता है। दूसरी ओर देखा जाए तो साहित्येतिहास लेखन की पद्धति का सम्बन्ध साहित्येतिहासकार की दृष्टि, विचारधारा एवं भावधारा से अधिक है। कम-से-कम उपलब्ध सामग्री को भी साहित्येतिहासकार अपनी साहित्यिक समझ के अनुसार तुलनात्मक, आलोचनात्मक, विधा-केन्द्रित, रचनाकार-केन्द्रित, विमर्श-केन्द्रित आदि किसी भी पद्धति से भी साहित्येतिहास लिख सकता है। अर्थात् साहित्येतिहास की प्रणाली जहाँ अधिकांशतः सामग्री की उपलब्धता पर निर्भर करती है तो साहित्येतिहास लेखन की पद्धति सम्पूर्णतः साहित्येतिहासकार पर।

साहित्येतिहास लेखन में किसी भी प्रणाली के उपयोग सम्बन्धी नियम नहीं बनाए जा सकते हैं, उसी प्रकार पद्धतियों के सम्बन्ध में भी निश्चित नियमों का अभाव देखा जा सकता है। ध्यान देने की बात है कि प्रणालियों एवं पद्धतियों में अंग-अंगी सम्बन्ध होता है। किसी भी विशिष्ट प्रणाली में जहाँ एक से अधिक पद्धतियों का प्रयोग साहित्येतिहास लेखन में देखा जाता है, वहीं एक साहित्येतिहास में एक से अधिक प्रणालियों का उपयोग अमूमन नहीं होता है। एक से अधिक प्रणालियों का उपयोग साहित्येतिहासकारों ने एक प्रणाली की कमी को पूरा करने के लिए किया, अथवा पहली प्रणाली पूर्णतः दूसरी प्रणाली का अंग बनकर आती है। उदाहरणार्थ कालानुक्रम प्रणाली अब पूर्णतः अन्य प्रणालियों का अंग बन गई है। इस रूप में देखा जाए तो एक प्रणाली भी दूसरे प्रणाली का पूर्णतः अंग बन जाती है। इनमें स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है। पद्धतियों के सम्बन्ध में यह प्रक्रिया पूर्णतः लागू नहीं होती है। जहाँ तुलनात्मक साहित्येतिहासकार पद्धति का उपयोग होता है, वहाँ आलोचनात्मक पद्धति का प्रयोग तो होता है, किन्तु इनमें स्पष्ट विभाजन रेखा देखने को मिलती है। अब हम क्रमशः साहित्येतिहास लेखन की प्रणालियों एवं पद्धतियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करेंगें।

५.२ साहित्येतिहास लेखन की प्रणालियाँ

५.२.१. वर्णानुक्रम प्रणाली

इस प्रणाली के नाम से ही स्पष्ट है कि इस प्रणाली में वर्णमाला के अक्षरों के अनुसार रचनाकारों का ब्यौरेवार प्रस्तुतीकरण किया जाता है। इसमें बिना किसी औपचारिकता या पृष्ठभूमि-निर्देश के कृतिकारों का परिचय वर्णमाला के अक्षर क्रम से दिया जाता है। जिससे यदि किसी लेखक का नाम 'अ' अक्षर से आरंभ होता है तो उसका परिचय पहले आएगा, चाहे वह कालक्रम की दृष्टि से बाद में ही क्यों न आता हो और जिस रचनाकार का नाम 'स' या 'ह' से शुरु होता है, उसका परिचय अन्त में होगा, भले ही वह कालक्रम से पूर्ववर्ती हो। साहित्येतिहास लेखन में सर्वप्रथम इसी प्रणाली का प्रयोग किया गया था। यह साहित्येतिहास लेखन की सबसे सरल प्रणाली मानी जाती है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा में इतिहासकारों ने विवशतावश इस प्रणाली का उपयोग किया। जब हिन्दी साहित्येतिहास लेखन अपनी आरंभिक अवस्था में था, तब सामग्री एवं शोध के अभाव के कारण कई रचनाकारों का समय, सम्पूर्ण कृतित्व, रचनाकाल, जीवन-परिचय आदि का अज्ञात था, ऐसे में विवशतावश इस प्रणाली का उपयोग आरंभिक हिन्दी साहित्येतिहासकारों को करना पड़ा। इस प्रणाली की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि

रचनाकारों के नाम के आद्याक्षरों से उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का प्रस्तुतीकरण करने के कारण साहित्यिक प्रवृत्तियों का निर्धारण कर पाना असंभव हो जाता है। युगीन परिस्थितियों से साहित्यिक भावधारा, शैली-शिल्प आदि के ऐतिहासिक विकास को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। इससे साहित्येतिहास का नैरन्तर्य एवं कालप्रवाह अखण्डित रूप में स्पष्ट नहीं हो पाता है। अतः इस प्रणाली का उपयोग करके लिखे गए इतिहासों को इतिहास की कोटि नहीं रखा जा सकता है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में इस प्रणाली का उपयोग गार्सा द तासी एवं शिवसिंह सेंगर ने किया। ऐसा नहीं है कि प्रस्तुत इतिहासकार इस प्रणाली की सीमाओं को नहीं जानते थे, किन्तु साहित्येतिहास लेखन के लिए आवश्यक शोध एवं सूचनाओं के अभाव के कारण उन्हें इस प्रणाली को अपनाना पड़ा। अपने ग्रंथ की भूमिका में गार्सा द तासी ने अपने इतिहास-ग्रंथ की सीमाओं को स्वीकार करते हुए लिखा है - "मौलिक जीवनियाँ जो मेरे ग्रंथ का मूलाधार हैं, सब अकारादि क्रम में रखी गई हैं। मैंने यह पद्धति ग्रहण की है, यद्यपि शुरु में मेरा विचार कालक्रम ग्रहण करने का था और मैं यह बात छिपाना नहीं चाहता था कि यह क्रम अधिक अच्छा रहता या कम-से-कम जो शीर्षक मैंने अपने ग्रंथ को दिया है उससे अधिक उपयुक्त होता, किन्तु मेरे पास अपूर्ण रचनाएँ होने के कारण उसे ग्रहण करना कठिन ही था।"[2] ऐसा नहीं है कि गार्सा द तासी साहित्येतिहास की कालानुक्रम पद्धति एवं साहित्येतिहास लेखन के लिए उसकी अनिवार्यता से अवगत नहीं थे। उन्होंने वर्णानुक्रम की पद्धति को हिन्दी-उर्दू साहित्येतिहास लेखन के लिए आवश्यक सामग्री के अभाव को अपनी विवशता का कारण बताते हुए लिखा है- "यदि मैंने कालक्रम वाली पद्धति ग्रहण की होती तो अनेक विभाग स्थापित करने पड़ते। पहले में, मैं उन लेखकों का पता रखता जिनका काल अच्छी तरह ज्ञात है, दूसरे उनको, जिनका काल सन्देहास्पद है, अन्त में, तीसरे उन्हें जिनका काल अज्ञात है। यही विभाजन उन रचनाओं के लिए भी करना पड़ता, जिन्हें इस अंश के प्रधान अंश में स्थान नहीं मिल सका। अपना कार्य सरल बनाने और पाठक की सहुलियत दोनों दृष्टियों से मुझे ये पद्धति छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।"[3]

इसी प्रकार शिवसिंह सेंगर भी साहित्येतिहास की वर्णानुक्रम पद्धति की सीमाओं एवं कालानुक्रम पद्धति की आवश्यकता से अवगत थे। यदि ऐसा न होता तो कवियों का परिचय प्रस्तुत करने से पहले वे पुस्तक की भूमिका में 'भाषा काव्य का निर्णय' शीर्षक से कवियों की युगानुरूप सूची न देते। ध्यान देने

---

[2].हिन्दुई साहित्य का इतिहास-भूमिका-अनु.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ.१२

[3].वही, पृ.वही

की बात यह है कि इस पद्धति को अपनाना इन साहित्येतिहासकारों की सीमा नहीं, अपितु उस युग की सीमा है। भले ही यह पद्धति आज साहित्येतिहास लेखन के लिए अनुपयोगी एवं निरर्थक घोषित कर दी गई हो, किन्तु हिन्दी साहित्येतिहास लेखन का आरंभ इसी पद्धति से हुआ था, इसे नहीं भूलना चाहिए।

५.२.२. कालानुक्रम प्रणाली

यह साहित्येतिहास लेखन की दूसरी स्वीकृत एवं लोकप्रिय प्रणाली है। इस प्रणाली में उपलब्ध सामग्री को तिथि क्रम से सजाकर इतिहास को रूप देने का प्रयास किया जाता है। इसका प्रयोग दो प्रकारों से किया जाता रहा है। पहली प्रकार के अनुसार रचनाकार की जन्म-तिथि निर्णयात्मक आधार बनायी जाती है, तो दूसरे प्रकार में उसकी रचना-तिथि। साहित्य अपने युगीन चेतना की सामूहिक अभिव्यक्ति होता है, किन्तु इस प्रणाली में इस बात का ध्यान रख पाना असंभव हो जाता है। इसमें प्रमुख रचनाकारों के जन्म वर्ष अथवा रचना वर्ष को केन्द्र में रखकर साहित्य के इतिहास को संभव बनाने का प्रयास किया जाता है, जिससे साहित्येतिहास प्रमुख रचनाकारों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का लेखा-जोखा मात्र बनकर रह जाता। इसमें इतिहास की वह परिस्थिति एवं पृष्ठभूमि परदे में ही रह जाती हैं, जिसने साहित्य या साहित्यिक आन्दोलन को जन्म दिया। इस पद्धति में प्रायः रचनाकार की विशिष्ट परिस्थितियों की ओर भी अनदेखा किया जाता है। यह सही है कि कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाकार अपने रचना-युग में युगान्तरकारी भूमिका का निर्वहन करते हैं, किन्तु साहित्य मात्र कुछ विशिष्ट साहित्यकारों के कृतित्व से सम्बन्धित नहीं होता है। साहित्येतिहास के प्रवाह में छोटे-बड़े सभी रचनाकारों को स्थान दिया जाता है। किन्तु कालानुक्रम प्रणाली में कुछ ही रचनाकारों की जन्म-तिथि या रचना तिथि को लक्ष्य करके इतिहास लिखा जाता है, इस कारण इतिहास महत्त्वपूर्ण रचनाकारों का इतिहास बन जाने का खतरा होता है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में सबसे पहले डॉ.ग्रियर्सन एवं उनके बाद मिश्रबन्धुओं ने इस प्रणाली का उपयोग किया था। अपने साहित्येतिहास ग्रंथ की भूमिका में इस सन्दर्भ में स्पष्टीकरण देते हुए डॉ.ग्रियर्सन ने लिखा है - "सामग्री को यथासंभव काल क्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। ...ग्रंथ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय सामान्यतः एक काल का सूचक है।"[4] डॉ.ग्रियर्सन ने वर्गीकृत अध्यायों की समान्य विशेषताओं का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु मिश्रबन्धुओं ने अध्यायों के आरंभ में उनकी सामान्य विशेषताओं का परिचय भी दिया है। इस रूप में मिश्रबन्धुओं का प्रयास

---

[4].द मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान, भूमिका, डॉ.जॉर्ज ग्रियर्सन

अधिक सफल कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने इस प्रणाली की कमी को समझते हुए भी साहित्येतिहास लेखन को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। यदि सूक्ष्म रूप में देखा जाए तो आज भी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में इस प्रणाली का उपयोग किया जाता है, किन्तु कुछ भिन्न रूप में। जैसे अन्य प्रणालियों का उपयोग कर साहित्येतिहास लेखन करनेवाले कई साहित्येतिहासकार सन् १८५० ई. से हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग का आरंभ मानते हैं, क्योंकि इस वर्ष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ था। इसी प्रकार सन् १९०० ई. से हिन्दी साहित्य में द्विवेदी युग का आरंभ इसलिए माना जाता है कि इस वर्ष से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवदी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्यभार संभाला था। अर्थात् एक रचनाकार के जन्म अथवा रचनाकाल से किसी युग का आरंभ मानने की पद्धति का पूर्णतः साहित्येतिहास लेखन से त्याग नहीं हो पाया है, न ही ऐसा होना संभव लगता है। अर्थात् साहित्येतिहास लेखन की कालानुक्रम प्रणाली भले ही साहित्येतिहास लेखन के लिए अयोग्य मान ली गई हो, किन्तु बाद की प्रणालियों में वह अपने भिन्न रूप में उपस्थित है।

५.२.३. विधेयवादी प्रणाली

इससे पूर्व उल्लेखित साहित्येतिहास लेखन की वर्णानुक्रम एवं कालानुक्रम दोनों प्रणालियों में जहाँ साहित्य और समाज के सम्बन्धों पर साहित्येतिहासकार का ध्यान जाने की कमी थी, वही साहित्येतिहास लेखन की विधेयवादी प्रणाली के अनुसार साहित्येतिहासकार को प्रत्येक साहित्यिक रचना, रचनाकार एवं रचना-युग से समाज का कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करते हुए साहित्येतिहास को संभव बनाना अनिवार्य होता है। इस प्रणाली के प्रथम पुरस्कर्ता फ्रान्सीसी विद्वान इपॉलित अडोल्फ तेन (सन् १८२८-९३ ई.) माने जाते हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ 'अंग्रेजी साहित्य का इतिहास' में यह प्रतिपादित किया है कि किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे सम्बन्धित जातीय परम्पराओं को, राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं समसामायिक परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण आवश्यक है। इस प्रणाली में असंबद्ध तथ्य एकत्र किये जाते हैं। उन तथ्यों को एकत्र कर उनके माध्यम से साहित्य की व्याख्या भौतिक विज्ञान की प्रणालियों के अनुसार, कार्य-कारण मीमांसा द्वारा करने का प्रयास किया जाता है।

ध्यान देने की बात है कि समाज एक ऐसी इकाई नहीं, जिसका घनत्व सभी बिन्दुओं पर समान होता है। समाज के अनेक स्तर होते हैं और एक युग में उन पर परिस्थितियों का दबाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसलिए यह देखा जाता है कि एक युग के साहित्य में भी विविधता वर्तमान होती है।

तुलसीदास और केशवदास लगभग समसामायिक हैं, किन्तु दोनों की जीवन-दृष्टि और रचना-कौशल में अन्तर को सरलता से देखा जा सकता है। इसी प्रकार तुलसीदास और कबीर में युग का उतना बड़ा अन्तर नहीं है, जितना सामाजिक स्तर है । इसी कारण दोनों का दृष्टिकोण एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न, यहाँ तक कि परस्पर विरोधी जैसा भी ज्ञात होता है। जिन साहित्येतिहासकारों ने इस प्रणाली का प्रयोग कर युगीन वातावरण को देखा लेकिन एक ही युग की विभिन्न अन्तर्धाराओं पर विचार नहीं किया, वे अनेकत्र सम्बन्ध स्थापना में धोखा खा गए हैं।

जिन इतिहासकारों ने भक्तिकाल को इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया माना अथवा रीति-श्रृंगारिक काव्य को केवल दरबारी मनोवृत्ति की उपज घोषित किया, उन्होंने अर्धसत्य ही कहा है, क्योंकि इनके पीछे काम करने वाली दीर्घकालीन प्रेरणात्मक परम्पराओं की उपेक्षा हो गई। विधेयवाद की इन सीमाओं के कारण ही पश्चिम में १९वीं शताब्दी के अन्त में उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया आरंभ हो गई थी। उन्होंने घोषित किया कि इतिहास और भौतिक विज्ञान की प्रकृति में मूलभूत अन्तर है। अतः भौतिक विज्ञान की प्रणाली से इतिहास के सभी सत्य की उपलब्धि संभव नहीं है। फलतः विधेयवाद का परित्याग कर इतिहास लेखन के अन्य पद्धतियों की खोज की जाने लगी।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा में इस प्रणाली का प्रथमतः उपयोग डॉ.ग्रियर्सन ने किया था किन्तु इसकी सभी विशेषताओं-सीमाओं के साथ प्रयोग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रंथ में किया था। इसी प्रणाली के प्रभाव में डॉ.ग्रियर्सन ने भक्तिकाल के उदय की व्याख्या के सन्दर्भ में ईसाई धर्म को कारण रूप में स्थापित करने का प्रयास किया था। आचार्य शुक्ल की इस मान्यता में कि सच्चा और सार्थक साहित्य सामाजिक जीवन से असम्बद्ध नहीं हो सकता, के मूल में इस प्रणाली की विशेषताएँ थी। आचार्य शुक्ल ने अपने साहित्येतिहास में प्रत्येक युग में उत्पन्न साहित्यिक प्रवृत्ति एवं तद्युगीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक परिस्थितियों में कार्य-कारण स्थापित करने का प्रयास किया है। इसी के चलते उन्होंने आदिकालीन साहित्य को सामन्ती परिवेश की देन, भक्तिकाल को इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया, रीतिकाल को दरबारी वातावरण की देन तो आधुनिक कालीन साहित्य को अंग्रेजों द्वारा स्थापित आधुनिकता से उत्पन्न माना था। इतना ही नहीं छायावाद के मूल में भी उन्होंने शैली और रहस्यवाद को रेखांकित करते हुए उसके पाश्चात्य स्रोतों की खोज की थी।

विधेयवादी प्रणाली की अपनी सीमाओं के बावजूद हिन्दी साहित्येतिहास की लेखन परम्परा में आचार्य शुक्ल ने इसका सफल प्रयोग किया है। आचार्य शुक्ल के इतिहास में मूल्यांकन सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों का प्रयोग हुआ है, उस सन्दर्भ में कई मतभेद हो सकते हैं। आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण पर काफी

चर्चाएँ भी होती है, किन्तु साहित्य से समाज का सम्बन्ध स्थापित करने के सम्बन्ध में उन्होंने कोई भूल नहीं की है और इसमें इस प्रणाली की महती भूमिका है। ऐसा नहीं है कि आचार्य शुक्ल इस प्रणाली की सीमाएँ नहीं जानते थे, संभवतः यही कारण है कि उन्होंने इस प्रणाली का अपने साहित्येतिहास में सर्वत्र उपयोग नहीं किया है। कई बार वे कार्य-कारण सम्बन्धों की खोज तो करते हैं, किन्तु साहित्य, साहित्यकार अथवा रचना-युग से बाहर जाकर उसके पाश्चात्य स्रोतों अथवा अतीत में कारणों की खोज करते हैं। जैसे छायावाद में महादेवी वर्मा के रहस्यवाद को उन्होंने जायसी, मीरा आदि भक्तिकालीन कवियों में प्रेरणा खोजने का तो पंत के काव्य को उन्होंने रीतिकालीन कवि सेनापति से जोड़कर देखा। इस प्रकार आचार्य शुक्ल के इतिहास की सफ़लता एवं अद्वितीयता का श्रेय केवल इस प्रणाली के उपयोग को ही नहीं दिया जा सकता है। आचार्य शुक्ल के हाथों में पड़कर इस प्रणाली ने अपनी सीमाओं पर विजय पायी है। आचार्य शुक्ल को जहाँ इस प्रणाली में कमियाँ दिखाई दी उन्होंने इसका व्यावहारिक प्रयोग किया और जहाँ उपलब्धियाँ दिखाई दी उसका सम्पूर्ण उपयोग। इस प्रकार यह प्रणाली साहित्येतिहास लेखन के लिए उपयोगी तो है, बशर्ते कोई इसे सावधानीपूर्वक प्रयोग में लाए।

५.२.४. वैज्ञानिक प्रणाली

यह मुख्यतः शोध पर आधारित प्रणाली है। इतिहास लेखन की वैज्ञानिक प्रणाली से तात्पर्य उस प्रणाली से है, जो विभिन्न काल-खण्डों, साहित्यिक प्रवृत्तियों या विधाओं का इतिहास प्रस्तुत करने के लिए विश्वविद्यालयों द्वारा गृहित होती रही है। दूसरे शब्दों में इसे अकादमिक प्रणाली भी कह सकते हैं। यह प्रणाली मुख्यतः शोध पर आधारित होती है। इसमें चेष्टा की जाती है कि शोध द्वारा तथ्यों को क्रमबद्ध और वैज्ञानिक पद्धति से प्रस्तुत कर दिया जाए।

साहित्येतिहास लेखन में तथ्यों का महत्व असंदिग्ध है, किन्तु यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या तथ्यों का संकलन करना और आँकड़े जुटाना ही साहित्येतिहास है। इतिहास में तथ्य और आलोचनात्मक दृष्टिकोण का समान महत्व होता है। कोरे तथ्य संकलन से इतिहास इतिहास न रहकर असंबद्ध घटनाओं का संग्रह बनकर रह जाएगा। वास्तव में साहित्येतिहास लेखन की यह प्रणाली एक प्रकार से विधेयवादी प्रणाली की प्रतिक्रिया मानी जा सकती है। विधेयवादी प्रणाली में जहाँ साहित्येतिहासकार के पास अपनी विचारधारा-भावधारा एवं दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य एवं उसके विकास की व्याख्या करने की स्वतंत्रता थी, वहीं वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार साहित्येतिहासकार मात्र एक तथ्यों का प्रस्तुतकर्ता बनकर रह गया। इस प्रणाली के अनुसार साहित्येतिहासकार का कार्य रचनाकार-रचना की तिथियाँ, प्रकाशन-वर्ष,

रचनाकार का जन्म, उसकी मृत्यु आदि सम्बन्धी जानकारी देना मात्र रह गया। इस प्रणाली के अर्थ को व्याख्यायित करते हुए गणपति चन्द्र गुप्त ने लिखा है - "इतिहास का सम्बन्ध अतीत की व्याख्या से है तथा प्रत्येक व्याख्या के मूल में व्याख्याता का दृष्टिकोण अनुस्यूत रहता है। प्रस्तुत इतिहास में प्रयुक्त दृष्टिकोण को 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' की संज्ञा दी जा सकती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी पुष्ट सिद्धान्त या प्रतिष्ठित नियम के आधार पर वस्तु की तथ्यपरक, सर्वांगीण एवं बौद्धिक व्याख्या सुस्पष्ट शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है।"[5]

प्रायः प्रत्येक साहित्येतिहास लेखन की प्रणाली में वैज्ञानिक प्रणाली एक अंग के रूप में उपस्थित रहती है। यह असंभव है कि इस प्रणाली का उपयोग कर एक सफल साहित्येतिहास लिखा जाए। यह प्रणाली तथ्यों के प्रस्तोता साहित्येतिहासकार से जिस तटस्थता की माँग करती है, वह साहित्येतिहास लेखन में आदर्श स्थिति हो सकती है, किन्तु ऐसा होना लगभग असंभव है। विज्ञान की भाँति साहित्येतिहास लेखन में वैज्ञानिकता की माँग करना, साहित्य के लोकतंत्र पर प्रहार हो सकता है। सिर्फ तथ्यों का तरतीबवार विवरण साहित्य का इतिहास नहीं कहा जा सकता। इतिहास तथ्य और व्याख्या का अन्योन्याश्रित रूप है। तथ्यों के आधार पर व्याख्या की जानी चाहिए और व्याख्या को दृष्टि में रखते हुए नवीन तथ्यों का अनुसंधान होना चाहिए। वास्तव में इसे साहित्येतिहास लेखन की एक स्वतंत्र प्रणाली माना ही नहीं जा सकता, अपितु यह अंग रूप में प्रत्येक साहित्येतिहास लेखन की सहायक प्रणाली मात्र हो सकती है।

५.२.५. समाजशास्त्रीय प्रणाली

साहित्येतिहास लेखन की समाजशास्त्रीय प्रणाली साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के विकास का चरम कहा जा सकता है। साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य की सामाजिक भूमि और भूमिका की तलाश करते हुए प्रमुख रूप से तीन कार्य करने का प्रयास करता है। पहला साहित्य में समाज की खोज, दूसरा समाज में साहित्य की सत्ता और साहित्यकार की स्थिति का विवेचन, और तीसरा साहित्य और पाठक के सम्बन्ध का विवेचन-विश्लेषण। इसमें अतिरिक्त कार्य के रूप में आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में साहित्य के प्रकाशकों और उससे जुड़े बाज़ार का अध्ययन भी साहित्य के समाजशास्त्र का एक अंग है। साहित्य के समाजशास्त्र का विकास प्रमुख रूप से साहित्य की गद्य विधाओं के, विशेष रूप में उपन्यास

---

[5].हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास-गणपति चन्द्र गुप्त, प्राक्कथन, पृ.०६

के अध्ययन के लिए हुआ। अपने व्यापक रूप में साहित्य का समाजशास्त्र सम्पूर्ण साहित्य की व्याख्या करने का दावा प्रस्तुत करता है, किन्तु कविता के सन्दर्भ में प्रायः वह कुछ अपूर्ण रह जाता है।

अपनी विकास प्रक्रिया में साहित्य का समाजशास्त्र मुख्य रूप से मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों से प्रेरणा पाते हुए आगे बढ़ता है। मुख्यतः मार्क्सवादी आलोचकों ने साहित्य के समाजशास्त्र का विकास साहित्य एवं समाज के सम्बन्धों को समझने के लिए किया था, जिसमें उपन्यास विधा सर्वप्रमुख थी। इसके अन्तर्गत साहित्यकार का कर्तव्य साहित्य के अन्तर्निहित तत्वों का उद्घाटन कर उसकी मूल प्रेरणा का विश्लेषण और जन हित की कसौटी पर मूल्यांकन करना है। अर्थात् उसे यह दिखलाने का प्रयास करना चाहिए कि विशेष प्रकार का साहित्य किन परिस्थितियों में रचा गया, वह किस वर्ग की भावनाओं का प्रतिबिम्बन करता है और मानवता की प्रगति में उसका क्या योगदान है। साहित्य की समाजशास्त्रीय प्रणाली के अनुसार लिखित साहित्येतिहास में बाजारू साहित्य अथवा घासलेटी साहित्य का विशेष समावेश साहित्येतिहास में किया जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत लोकप्रिय साहित्य का भी अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार इसमें साहित्य के बाजार से सम्बन्ध का विवेचन-विश्लेषण भी अपने-आप हो जाता है।

समाजशास्त्रीय प्रणाली अपने आप में एक विस्तृत अध्ययन क्षेत्र है। इसके क्षेत्र में साहित्य रूपों को भी समाज से सम्बन्ध करके देखा जाता है। यथा समाज-विकास के विशिष्ट काल में ही महाकाव्यों का निर्माण क्यों होता है, या समाज की विशिष्ट स्थिति अथवा मध्यवर्ग के उदय के साथ ही उपन्यास विधा का आरंभ क्यों होता है? आधुनिकता के उदय के साथ ही आलोचना का आरंभ कैसे और क्यों होता है? आदि। व्यापक रूप में देखा जाए तो इससे पूर्व प्रचलित साहित्येतिहास लेखन की प्रणालियाँ भी साहित्य से समाज के सम्बन्धों की व्याख्या करती थी, किन्तु साहित्येतिहास लेखन की इस प्रणाली ने इसे एक सैद्धान्तिक रूप देकर साहित्य का लोकहितार्थ होने एवं उसकी व्याख्या के द्वारा साहित्येतिहास लिखे जाने को संभव बनाया।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास लेखन में इस प्रणाली के सर्वप्रथम उपयोग संकेत मिलते हैं। आचार्य द्विवेदी की साहित्येतिहास दृष्टि में जो 'लोक' के प्रति अत्याधिक आकर्षण देखने को मिलता है, वह इस प्रणाली का रचनात्मक उपयोग करने के कारण है। जहाँ वे एक ओर कबीर को लोक से अधिक जुड़ने के लिए सराहते हैं, वहीं तुलसीदास को भी बुद्ध के बाद का सबसे बड़ा समन्वयकर्ता कहने से नहीं चूकते। उनकी सामाजिक दृष्टि में इस प्रणाली के सही उपयोग का ही नतीजा है कि जहाँ वे आचार्य शुक्ल की अधिकांश मान्यताओं से असहमत होते हैं, वहीं

तुलसीदास के काव्य को भी युगीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में देखने का प्रयास करते हैं।समाजशास्त्रीय प्रणाली के उपयोग के कारण ही आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में साहित्य एवं समाज का अनिवार्य सम्बन्ध अधिक खुलकर विवेचित-विश्लेषित हुआ है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद की हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा में साहित्येतिहास लेखन की समाजशास्त्रीय प्रणाली बड़े पैमाने पर स्वीकृत हुई। हिन्दी साहित्येतिहास ही नहीं, आलोचना के क्षेत्र में भी साहित्य का समाजशास्त्र नाम से इसे सर्वमान्य मूल्यांकन पद्धति के रूप में स्वीकार किया गया। कविता का समाजशास्त्र विकसित करने का प्रयास भी इस पद्धति के भारतीय प्रयोक्ता आलोचकों ने किया। वर्तमान साहित्येतिहास लेखन एवं आलोचना पर सरसरी दृष्टि भी दौड़ाई जाए तो पता चलेगा कि कई स्थानों पर प्रस्तुत-अप्रस्तुत रूप में यह पद्धति कारगर है। हिन्दी साहित्य में विमर्शों के प्रवेश ने इस पद्धति की लोकप्रियता अधिक बढ़ाई है। भले ही हिन्दी के विमर्शवादी आलोचक इस पद्धति का नाम लेकर उपयोग न करते हो, किन्तु उनके साहित्य विवेक में इस पद्धति की विशेषताएँ मौजूद रहती हैं।

सारांशत: कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास लेखन में साहित्य एवं अन्य सामग्री की उपलब्धता के अनुसार प्रणालियों के प्रयोग में बदलाव आते गए। जैसे-जैसे शोध से सामग्री उपलब्ध होती गई, उसके अनुसार प्रणालियाँ या तो ईजाद कर ली गई अथवा आयातित व्यापक प्रणालियों के आधार पर साहित्येतिहास लिखे गए। जब सामग्री की अनुपलब्धता थी तो साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में वर्णानुक्रम एवं कालानुक्रम पद्धति का उपयोग किया गया। इन प्रणालियों में साहित्येतिहास लेखन के लिए आवश्यक ऐतिहासिक चेतना के अभाव ने एक प्रकार से साहित्यिक शोध एवं तथ्य संकलन के लिए प्रेरित भी किया। यदि आवश्यक तथ्य एवं सामग्री होती तो, संभवतः आरंभिक हिन्दी साहित्येतिहास लेखक इन दोनों प्रणालियों का उपयोग ही नहीं करते। जब साहित्येतिहास लेखन के लिए आवश्यक सामग्री जुट गई तो अपने-आप इन पद्धतियों को तिलांजलि देकर साहित्येतिहास की विधेयवादी पद्धति को अपनाया गया। इसे सर्वप्रथम अपनाने का श्रेय तो डॉ.ग्रियर्सन को दिया जाना चाहिए, किन्तु इसका सफल प्रयोग पहले-पहल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास ग्रंथ में देखा जा सकता है।

वास्तव में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विधेयवादी पद्धति का उपयोग अपने साहित्येतिहास में किया किन्तु उनका सम्पूर्ण साहित्येतिहास मात्र इसी प्रणाली पर आधारित नहीं है। जहाँ-जहाँ उन्होंने विधेयवादी पद्धति को साहित्य की व्याख्या एवं इतिहास लेखन के लिए अपूर्ण पाया, वहाँ उन्होंने स्वतंत्र दृष्टि अपनाकर अपने साहित्येतिहास के माध्यम से विधेयवादी पद्धति की सीमाओं पर विजय पायी। व्यापक रूप में देखा जाए तो आचार्य शुक्ल के हाथों में आकर साहित्येतिहास लेखन की विधेयवादी पद्धति

अपनी सीमाओं को पार करती हुई देखी जा सकती है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में वैज्ञानिक पद्धति नामक पद्धति का भी उपयोग देखा जा सकता है। इसे वास्तव में अकादमिक पद्धति कहना अधिक समीचीन होगा, क्योंकि इस पद्धति का विकास अकादमिक जगत् द्वारा किया गया, जिसमें किसी पुष्ट सिद्धान्त या प्रतिष्ठित नियम के आधार पर वस्तु की तथ्यपरक, सर्वांगीण एवं बौद्धिक व्याख्या सुस्पष्ट शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। वास्तव में यह स्वतंत्र प्रणाली के रूप में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में कायम न हो सकी। साहित्य से भौतिक विज्ञानों जैसी वैज्ञानिकता की माँग करना, साहित्य के मूल लोकतांत्रिक भाव पर कुठाराघात होगा। बाद के समय में तथ्यों एवं उसके प्रस्तुतीकरण को तो साहित्येतिहास में अनिवार्य स्थान दिया गया, किन्तु इस प्रणाली को स्वतंत्र प्रणाली के रूप में स्वीकार नहीं किया गया।

साहित्येतिहास लेखन की समाजशास्त्रीय प्रणाली अधिक तर्कसंगत एवं उपयोगी रूप में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में स्वीकृत हुई। यह प्रणाली जहाँ एक ओर अपनी पूर्ववर्ती सभी प्रणालियों को अपने में समा लेती है, वहीं दूसरी ओर उनके दोषों का समाधान भी प्रस्तुत करती है। विधेयवादी प्रणाली में साहित्य एवं परिस्थितियों में कार्य-कारण सम्बन्ध अनिवार्य रूप में स्थापित किया जाता था। समाजशास्त्रीय प्रणाली में यह सम्बन्ध विधेयवादी प्रणाली की भाँति यांत्रिक न रहकर अधिक तर्कसंगत और व्यावहारिक बनकर साहित्य की वर्गीय चेतना से जोड़ा गया। संभवतः यही कारण है कि आचार्य हजारी प्रसाद के साहित्येतिहास लेखन में कबीर के साथ-साथ तुलसीदास को भी उचित स्थान दिया गया। वर्णानुक्रम पद्धति जहाँ पूर्णतः त्याग दी गई तथ्यों की महत्ता के कारण कालानुक्रम प्रणाली समाजशास्त्रीय प्रणाली का अंग बन गयी। यह साहित्येतिहास लेखन की अधिक सफल प्रणाली कही जा सकती है, जिसकी सीमाओं को बाद के इतिहासकारों ने दूर करने का प्रयास कर हिन्दी साहित्येतिहास को अधिक परिपक्व बनाने का प्रयास किया।

५.३ साहित्येतिहास लेखन की पद्धतियाँ

५.३.१. विधा-केन्द्रित इतिहास

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा पर दृष्टिपात करने से यह सहज ज्ञात होता है कि आधुनिक कालीन साहित्य की पूर्ण परम्परा बनने तक सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास ही लिखने की परिपाटी थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के समय से ही हिन्दी में विधा केन्द्रित साहित्येतिहास लिखने की परम्परा का आरंभ होता है। वैसे किसी विधा-विशेष के इतिहास को सम्पूर्णतः साहित्य का इतिहास कहा नहीं जा

सकता है, किन्तु ऐसे भी ग्रंथों को विधा-विशिष्ट के साथ अपनी समकालीन अन्य विधाओं से भी सम्बन्ध स्थापित करने के कारण व्यापक रूप में साहित्यिक विधा-विशेष का इतिहास तो कहा ही जा सकता है। हिन्दी उपन्यास एवं कहानी के विकास के बाद ऐसे ग्रंथों के लेखन का आरंभ भले ही हुआ हो, किन्तु इससे पूर्व लिखित सम्पूर्ण हिन्दी साहित्येतिहास ग्रंथों पर दृष्टिपात की जाए तो मध्यकालीन समय तक तो ऐसे इतिहास ग्रंथ भी काव्य के ही इतिहास बनकर रह जाते हैं। स्पष्ट रूप से मध्यकाल तक कविता के एकमात्र साहित्यिक विधा होने के कारण ऐसा होता है। आधुनिक समय में गद्य की अन्य विधाओं के उदय के साथ ही पूर्व-परम्परा में उपस्थित गद्य की परम्पराओं को खोजने का कार्य आरंभ हुआ। इसी के साथ विधाओं पर आधारित इतिहास लेखन की आवश्यकताओं को सन् १९३०-४० के आस-पास महसूस किया गया। यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि प्रथम विधाकेन्द्रित इतिहास ग्रंथ कौन-सा है। हिन्दी में लिखित कुछ प्रसिद्ध विधा-केन्द्रित इतिहास ग्रंथ हैं :

हिन्दी काव्यधारा-महापंडित राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी महाकाव्य: उद्भव और विकास-डॉ.शंभुनाथ सिंह, आधुनिक कविता यात्रा-रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी गद्य विन्यास का विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी काव्य का इतिहास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी उपन्यास का इतिहास-गोपालराय, हिन्दी कहानी का इतिहास-गोपालराय, हिन्दी में नाटक साहित्य का विकास-आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी नाट्य विमर्श-बाबू गुलाबराय, हिन्दी नाटक-बच्चन सिंह, हिन्दी आलोचना का इतिहास-रामदरश मिश्र, हिन्दी आलोचना-विश्वनाथ त्रिपाठी, आलोचना के प्रगतिशील आयाम-शिवकुमार मिश्र, हिन्दी कहानी: सिद्धान्त और विवेचन-डॉ.गिरिष रस्तोगी, हिन्दी कहानी: एक नई दृष्टि-डॉ.इन्द्रनाथ मदान, हिन्दी कहानी : प्रकृति और सन्दर्भ-डॉ.देवीशंकर अवस्थी, हिन्दी पत्रकारिता-डॉ.कृष्णबिहारी मिश्र आदि।

भले ही यह विधा-केन्द्रित इतिहास व्यापक रूप में सम्पूर्ण हिन्दी साहित्येतिहास को प्रस्तुत नहीं कर पाते हों, किन्तु विधा-विशेष के इतिहास को अधिक सूक्ष्मता से प्रस्तुत करने का प्रयास इनकी रचनाओं के मूल में होता है। कई बार एक विधा के प्रभाव में इतिहासकार अन्य विधा की ओर पूर्ण ध्यान नहीं दे पाता है, ऐसे में विधा-केन्द्रित इतिहास ऐसी विधाओं के साथ न्याय करके उनका व्यापक इतिहास प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध होता है।

५.३.२. काल-केंन्द्रित इतिहास

साहित्येतिहास काल के अविच्छिन्न प्रवाह के साथ साहित्य के विकास-क्रम को प्रस्तुत करता है। अध्ययन की सुविधा के लिए एवं साहित्येतिहास में अधिक स्पष्टता लाने के लिए निश्चित समय की प्रवृत्तियों को केन्द्र में रखकर साहित्य का काल-विभाजन किया जाता है। साहित्येतिहास में काल-विशेष पर दृष्टि केन्द्रित होने की अपेक्षा इतिहास में हो रहे बदलावों पर अधिक होती है। ऐसे में काल-विशेष के साहित्य का कई बार गहराई से विश्लेषण होने से रह जाने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता है। एक दूसरी संभावना यह भी है कि साहित्येतिसकार को किसी काल-विशेष के साहित्य में विशेष रूचि न होने के कारण वह उस काल के साहित्य का समुचित मूल्यांकन करने में असफल हो सकता है। इन स्थितियों के कारण काल-विशेष को केन्द्र में रखकर साहित्येतिहास लिखने की आवश्यकता महसूस की गई। एक काल पर लिखित ग्रंथ को साहित्येतिहास नहीं कहा जा सकता, बशर्ते वह उस काल-विशेष को सम्पूर्ण हिन्दी साहित्येतिहास के परिप्रेक्ष्य में समझने-समझाने का प्रयास न करे। जैसे रीतिकाल पर केन्द्रित साहित्येतिहास लिखते समय इसका भी विवेचन-विश्लेषण करना अनिवार्य हो जाता है कि इस काल से पूर्व लोक में साहित्य किस प्रकार प्रश्रय पाता था। इसके साथ ही सामन्ती वातावरण में लिखे जाने वाले इस साहित्य से पूर्व साहित्य सन्तों-महात्माओं की कुटिया में लिखा जाता था और ऐसे लोकाश्रय में लिखे जाने वाले साहित्य की ऐसी रीतिवादी परिणति क्यों हुई तथा इसके बाद आनेवाले आधुनिक साहित्य ने इससे क्या ग्रहण किया और क्या त्याग दिया आदि। इन प्रश्नों से जूझे बगैर यदि कोई रीतिकाल पर केन्द्रित साहित्येतिहास ग्रंथ लिखता है, तो उसे काल-केन्द्रित इतिहास ग्रंथ नहीं माना जा सकता है। इन मान्यताओं को पूरा करते हुए हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में कुछ इतिहास-ग्रंथ लिखे गए हैं, इनमें से कुछ प्रसिद्ध ग्रंथ इस प्रकार हैं :

हिन्दी साहित्य का आदिकाल-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आदिकालीन हिन्दी की सांस्कृतिक पीठिका-डॉ.राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य का अतीत (दो भाग)-आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि-डॉ.विश्वंभरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्ययुग-डॉ.राजकिशोर पाण्डेय, रीतिकाव्य-डॉ.नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी साहित्य-डॉ.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास-डॉ.बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य-आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष-डॉ.शिवदान सिंह चौहान, छायावाद-नामवर सिंह, छायावाद

युग-डॉ.शंभुनाथ सिंह, प्रगतिवाद-डॉ.शिवदानसिंह चौहान, प्रगतिवाद : एक समीक्षा-डॉ.धर्मवीर भारती, नयी कविता : स्वरूप एवं समस्याएँ-डॉ.जगदीश गुप्त, आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ-डॉ.नगेन्द्र इत्यादि।

यह सही है कि एक काल में उद्भुत साहित्य प्रवृत्ति अन्य युगों में भी अपनी छाया कायम रखती है। इसी के साथ एक ही रचना-युग में कई प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। इसके अतिरिक्त एक ही युग में विभिन्न विधाओं में विभिन्न प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। जैसे छायावाद के समय कविता, नाटक, कहानी और उपन्यास की प्रवृत्तियों में इस अन्तर को रेखांकित किया जा सकता है। ऐसे में युग विशेष पर लिखित इतिहास भी एक प्रकार से विधा-केन्द्रित इतिहास की कोटि में अपने-आप आ जाते हैं। इस रूप साहित्येतिहास लेखन की यह पद्धति अन्य पद्धतियों से मिलकर ही पूर्ण होती है, स्वतंत्र पद्धति के रूप में स्थापित नहीं होती है।

५.३.३. रचनाकार-केंद्रित इतिहास

साहित्येतिहासकार जब किसी रचनाकार का मूल्यांकन करता है, तो वह सम्पूर्ण साहित्येतिहास के काल-प्रवाह में रखकर अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत करता है। इस अर्थ में देखा जाए तो किसी विशिष्ट साहित्यकार पर लिखित आलोचनात्मक पुस्तक भी साहित्येतिहास का स्थान पा सकती है। हिन्दी आलोचना में ऐसे भी ग्रंथ लिखे गए हैं, जो किसी भी साहित्येतिहास से भी बढ़कर बन पड़ी हैं। ऐसे ग्रंथों में प्रमुख हैं :

त्रिवेणी, गोस्वामी तुलसीदास, जायसी ग्रंथावली (भूमिका)-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कबीर-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोकवादी तुलसीदास-आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, भारतेन्दु और हिन्दी नवजागरण, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, निराला की साहित्य साधना-डॉ.रामविलास शर्मा, दूसरी परम्परा की खोज-डॉ.नामवर सिंह, मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया-अशोक चक्रधर आदि।

रचनाकार केन्द्रित आलोचना पुस्तकों में कई बार आलोचक विश्लेषित रचनाकार से अभिभूत होकर भी लेखन करता है, ऐसी आलोचना-पुस्तक अपने ही वृत्त में कैद होकर रचनाकार की परम्परा, उसकी युगीन परिस्थितियाँ आदि पर ध्यान नहीं दे पाती हैं। ऐसी पुस्तकों को साहित्येतिहास की कोटि में नहीं गिना जा सकता है। ऊपर उल्लेखित आलोचनात्मक रचनाएँ किसी विशिष्ट रचनाकार को केन्द्र में

रखते हुए भी सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की परम्परा में उन्हें मूल्यांकित करती हैं, अतः इन्हें साहित्येतिहास भले ही नहीं कहा जाता है, किन्तु साहित्येतिहास के समान माना जा सकता है।

५.३.४. भाषा-केंद्रित इतिहास

हिन्दी साहित्य के इतिहास की परिकल्पना भाषा के इतिहास के बगैर की ही नहीं जा सकती है। यहाँ भाषा-केन्द्रित इतिहास से तात्पर्य भाषा के इतिहास से नहीं है, अपितु उन इतिहास ग्रंथों से है, जो हिन्दी के किसी भाषा (बोली) क्षेत्र के विशेष साहित्य को केन्द्र में रखकर लिखे जाते हैं। यथा, मिथिलांचल का हिन्दी साहित्य, पहाड़ी हिन्दी साहित्य, दक्खिनी हिन्दी साहित्य, नागपुरी हिन्दी साहित्य आदि। इसके अतिरिक्त बोली या भाषा विशेष बोलनेवाले साहित्यकारों द्वारा हिन्दी में लिखित साहित्य के इतिहास भी इसी प्रकार के साहित्येतिहास माने जा सकते हैं, यथा पंजाब का हिन्दी साहित्य, मराठी सन्त-भक्त कवियों का हिन्दी साहित्य, केरल का हिन्दी साहित्य, दक्षिण भारत का हिन्दी साहित्य आदि। इस प्रकार की परिकल्पना कर कई हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे जा चुके हैं, जिनमें से प्रमुख हैं :

आधुनिक ब्रज भाषा काव्य-डॉ.जगदीश वाजपेयी, दक्खिनी हिन्दी का साहित्य-डॉ.श्रीराम शर्मा, मराठी सन्तों का हिन्दी काव्य-आचार्य विनयमोहन शर्मा, हिन्दी की जनपदीय कविता-डॉ.विद्यानिवास मिश्र, भोजपुरी लोक साहित्य का इतिहास-डॉ.कृष्णदेव उपाध्याय, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग-डॉ.नामवर सिंह, पालि साहित्य का इतिहास-महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भोजपुरी भाषा और साहित्य-डॉ.उदयनारायण तिवारी आदि।

इस प्रकार के इतिहास भले ही हमें सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का परिचय नहीं देते हों, किन्तु इससे हिन्दी साहित्य की विविधता एवं उसकी व्यापकता का पता चलता है। इस प्रकार के साहित्येतिहास ग्रंथों के माध्यम से हिन्दी साहित्य का व्यापक इतिहास लिखने में सहायता एवं सामग्री मिलती है। एक अकेले साहित्येतिहासकार के लिए संभव नहीं कि वह विशाल प्रदेश में फैली सामग्री का संकलन करें, इस प्रकार के साहित्येतिहास हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के लिए व्यापक स्तर पर सहायता करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भाषाओं से मिलकर जो भारतीय साहित्य की अवधारणा विकसित हो रही है, इसका इतिहास लिखने के लिए भी इस प्रकार के इतिहास अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं।

५.३.५. प्रवृत्तिमूलक इतिहास

मुख्य रूप में देखा जाए तो हिन्दी साहित्येतिहास की परिकल्पना में प्रवृत्तिमूलक इतिहास उपस्थित है। प्रमुख प्रवृत्तियों को केन्द्र में रखकर ही हिन्दी साहित्येतिहास में काल-विभाजन एवं नामकरण करने की प्रवृत्ति रही है। प्रवृत्तिमूलक इतिहास से तात्पर्य उन ग्रंथों से हैं, जो हिन्दी साहित्य की किसी एक प्रवृत्ति अथवा एक विधा के एक काल की विशिष्ट प्रवृत्ति को मूल में रखकर लिखे जाते हैं। उसमें भी इन इतिहास ग्रंथों में अपने पूर्ववर्ती काल में उसी प्रवृत्ति की मौजूदगी का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है। उसी प्रकार विशिष्ट प्रवृत्ति के साथ-साथ घटित होनेवाली अन्य प्रवृत्तियों पर ध्यान दिया जाता है। इसके साथ ही ऐसे प्रकार के इतिहास लिखने की अन्य पद्धति यह भी हो सकती है कि किसी एक प्रवृत्ति का विभिन्न कालों को ध्यान में रखकर विवेचन-विश्लेषण किया जा सकता है। यथा हिन्दी काव्य में श्रृंगार अथवा हिन्दी उपन्यासों में किसान-मज़दूर आदि। हिन्दी में होनेवाले अधिकांश प्रवृत्तिमूलक शोध इसी कोटि में आते हैं। प्रवृत्तिमूलक इतिहास के माध्यम से सम्पूर्ण साहित्येतिहास में किसी एक प्रवृत्ति के साथ अन्य सहायक प्रवृत्तियों का व्यापक विश्लेषण संभव होता है। इस विधि को अपनाते हुए हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में कई ग्रंथों का प्रणयन किया गया है, उनमें से कुछ प्रमुख ग्रंथ इस प्रकार हैं :

हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ-डॉ.विजयपाल सिंह, रासो साहित्य विमर्श-डॉ.माता प्रसाद गुप्त, डिंगल साहित्य-डॉ.जगदीश प्रसाद, भक्तिकाव्य माला-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, रीति कवियों की मौलिक देन-डॉ.किशोरी लाल, हिन्दी रीति साहित्य-डॉ.भगीरथ मिश्र, रीति साहित्य की भूमिका-डॉ.नगेन्द्र, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ-डॉ.नामवर सिंह, आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा-डॉ.त्रिभुवन सिंह इत्यादि।

इस पद्धति के साहित्येतिहासों में अतीत में प्रवृत्ति विशेष की भी खोज की जाती है, वहीं उस प्रवृत्ति विशेष के निर्माण में समकालीन परिस्थितियों को पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। गौर से देखा जाए तो यह एक प्रकार का विरोधाभास है। जैसे - छायावादी प्रवृत्तियों के मूल में समकालीन प्रवृत्तियों को प्रस्तुत किया जाए और उसी के एक अंग रहस्यवाद की जड़ें विदेशी साहित्य के साथ जायसी-मीरा आदि में खोजी जाए, यह कहाँ तक तर्कसंगत है? वास्तविक रूप में प्रवृत्ति केन्द्रित साहित्येतिहास किसी विशिष्ट विधा की प्रवृत्तियों का विवेचन-विश्लेषण करने तक ही कारगर सिद्ध हो

सकती है। जैसे - छायावाद युगीन उपन्यास और काव्य की प्रवृत्तियों के साथ उसी काल में लिखे जा रहे नाटकों की प्रवृत्तियों का किस प्रकार मिलान कराया जा सकता है? इस रूप में यह पद्धति अन्य पद्धतियों के साथ मिलकर ही अधिक उपयोगी हो सकती है।

५.३.६. विमर्श-केंद्रित इतिहास

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कई सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्शों ने अपना स्थान बनाया। इन विमर्शों के मूल में सामाजिक समानता की भावना मौजूद है, ऐसे में इन सामाजिक आन्दोलनों की रचनात्मक गूँज साहित्य में भी सुनाई देने लगी। साहित्येतिहास लेखन को भी इन विमर्शवादी विचारधाराओं ने प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य में दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्शों ने अपना निश्चित स्थान कायम किया है। इन विमर्शों के तहत हिन्दी साहित्य की प्रायः प्रत्येक विधा में साहित्य लिखा जा रहा है। इन विमर्शों ने पिछले तीस-चालीस वर्षों में अपना विशाल साहित्य निर्मित किया है। इसी प्रकार इन विमर्शों को केन्द्र में रखकर दो प्रकार के साहित्येतिहास ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। एक में इन्हीं विमर्शों को केन्द्र में रखकर लिखे गए साहित्य के इतिहास, तो दूसरे में इन विमर्शों की विचारधारा से अतीत के साहित्य का मूल्यांकन किया जा रहा है। इन दोनों प्रकार के विमर्श केन्द्रित ग्रंथों में प्रमुख हैं :

स्त्रीवादी विमर्श : समाज और साहित्य-क्षमा शर्मा, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श-डॉ.जगदीश्वर चतुर्वेदी, दलित विमर्श की भूमिका-कँवल भारती, दलित विमर्श-गिरिराज किशोर आदि। अन्य पद्धतियों के इतिहास की भाँति इन साहित्येतिहास ग्रंथों को सम्पूर्ण साहित्येतिहास नहीं कहा जा सकता है, किन्तु अन्य पद्धतियों की भाँति यह भी व्यापक साहित्येतिहास लेखन की प्रक्रिया का अंग हो सकता है। इन साहित्येतिहास ग्रंथों की सामग्री का उपयोग हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के लिए किया जा सकता है।

सारांशत: कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास लेखन की कोई भी पद्धति पूर्णतः सही नहीं कही जा सकती है। इसमें से किसी भी पद्धति से भले ही सम्पूर्ण इतिहास संभव नहीं होता, अपितु यह साहित्येतिहास लेखन का एक भाग मात्र होती हैं। साहित्येतिहास में कई बार एक साथ कई पद्धतियों का प्रयोग भी देखा जा सकता है। जैसे, विधा-केन्द्रित पद्धति में साहित्येतिहासकार आलोचनात्मक और तुलनात्मक दोनों पद्धतियों का एक साथ प्रयोग कर सकता है। ठीक यही प्रक्रिया हमें रचनाकार केन्द्रित पद्धति में भी देखने को मिलती है। उसी प्रकार साहित्येतिहास लेखन की पद्धतियाँ ठहरी हुई नहीं होती हैं,

इनका उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। जैसे इधर विमर्श-केन्द्रित पद्धति ने जोर पकड़ा है। इसके साथ ही हिन्दी में आते हुए विमर्शों के बाढ़ में दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्शों के अतिरिक्त अन्य भी विचारधाराओं-भावधाराओं से इतिहास लेखन के प्रयास निकट भविष्य में हो सकते हैं। इसी क्रम में तुलनात्मक पद्धति भी ठीक वही नहीं रह गई है, जो "बिहारी बड़े कवि हैं या देव?" के समय में थी। आज हिन्दी साहित्येतिहासकार केवल हिन्दी या भारतीय रचनाकारों से तुलना करके संतुष्ट नहीं हो जाते हैं, बल्कि उनकी दृष्टि योरोपीय, लैटिन अमरिकी के साथ कई पूर्वी देशों के साहित्यकारों पर भी जा रही है। अब विधा-केन्द्रित पद्धति मात्र किसी विधा-विशिष्ट पर ही केन्द्रित नहीं रह गई है, अपितु उस विधा के समकालीन कई अन्य विधाओं के विकास को भी इसके अन्तर्गत रेखांकित किया जा रहा है। यथा - प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा, मुक्तिबोध आदि के साहित्य को समझने के लिए अनिवार्यतः उनके द्वारा लिखित सभी विधाओं को समझना भी आवश्यक हो जाता है, ऐसे में विधा-केन्द्रित इतिहास अधिक व्यापक रूप में हमारे सामने आते हैं। ऐसे में अनिवार्यतः यह समझना होगा कि साहित्येतिहास लेखन की पद्धतियों की संख्या को इतने में सीमित करके नहीं देखना चाहिए। इनका उत्तरोत्तर विकास होता रहेगा। वर्तमान पद्धतियों में विकास होकर उनका रूप बदलेगा और नई पद्धतियाँ सामने आती रहेगी तथा पूर्णतः नवीन पद्धतियों का भी विकास होगा। इस विकास के साथ ही साहित्येतिहास अधिक-से-अधिक रचनात्मक एवं सार्थक होता जाएगा।

अध्याय के सारांश रूप में कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास लेखन में साहित्य एवं अन्य सामग्री की उपलब्धता के अनुसार प्रणालियों के प्रयोग में बदलाव आते गए। प्रणालियों में साहित्येतिहास लेखन के लिए आवश्यक ऐतिहासिक चेतना के अभाव ने एक प्रकार से साहित्यिक शोध एवं तथ्य संकलन के लिए प्रेरित भी किया। यदि आवश्यक तथ्य एवं सामग्री होती तो, संभवतः आरंभिक हिन्दी साहित्येतिहास लेखक इन दोनों प्रणालियों का उपयोग ही नहीं करते। जब साहित्येतिहास लेखन के लिए आवश्यक सामग्री जुट गई तो अपने-आप इन पद्धतियों को तिलांजलि देकर साहित्येतिहास की विधेयवादी पद्धति को अपनाया गया। इसे सर्वप्रथम अपनाने का श्रेय तो डॉ.ग्रियर्सन को दिया जाना चाहिए, किन्तु इसका सफल प्रयोग पहले-पहल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास ग्रंथ में देखा जा सकता है।

वास्तव में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विधेयवादी पद्धति का उपयोग अपने साहित्येतिहास में किया किन्तु उनका सम्पूर्ण साहित्येतिहास मात्र इसी प्रणाली पर आधारित नहीं है। जहाँ-जहाँ उन्होंने विधेयवादी पद्धति को साहित्य की व्याख्या एवं इतिहास लेखन के लिए अपूर्ण पाया, वहाँ उन्होंने स्वतंत्र दृष्टि

अपनाकर अपने साहित्येतिहास के माध्यम से विधेयवादी पद्धति की सीमाओं पर विजय पायी। व्यापक रूप में देखा जाए तो आाचार्य शुक्ल के हाथों में आकर साहित्येतिहास लेखन की विधेयवादी पद्धति अपनी सीमाओं को पार करती हुई देखी जा सकती है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में वैज्ञानिक पद्धति नामक पद्धति का भी उपयोग देखा जा सकता है। इसे वास्तव में अकादमिक पद्धति कहना अधिक समीचीन होगा, क्योंकि इस पद्धति का विकास अकादमिक जगत् द्वारा किया गया, जिसमें किसी पुष्ट सिद्धान्त या प्रतिष्ठित नियम के आधार पर वस्तु की तथ्यपरक, सर्वांगीण एवं बौद्धिक व्याख्या सुस्पष्ट शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। वास्तव में यह स्वतंत्र प्रणाली के रूप में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में कायम न हो सकी।

साहित्येतिहास लेखन की समाजशास्त्रीय प्रणाली अधिक तर्कसंगत एवं उपयोगी रूप में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में स्वीकृत हुई। यह प्रणाली जहाँ एक ओर अपनी पूर्ववर्ती सभी प्रणालियों को अपने में समा लेती है, वहीं दूसरी ओर उनके दोषों का समाधान भी प्रस्तुत करती है। विधेयवादी प्रणाली में साहित्य एवं परिस्थितियों में कार्य-कारण सम्बन्ध अनिवार्य रूप में स्थापित किया जाता था। समाजशास्त्रीय प्रणाली में यह सम्बन्ध विधेयवादी प्रणाली की भाँति यांत्रिक न रहकर अधिक तर्कसंगत और व्यावहारिक बनकर साहित्य की वर्गीय चेतना से जोड़ा गया। संभवतः यही कारण है कि आचार्य हजारी प्रसाद के साहित्येतिहास लेखन में कबीर के साथ-साथ तुलसीदास को भी उचित स्थान दिया गया।

इसी प्रकार कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास लेखन की कोई भी पद्धति पूर्णतः सही नहीं कही जा सकती है। इसमें से किसी भी पद्धति से भले ही सम्पूर्ण इतिहास संभव नहीं होता, अपितु यह साहित्येतिहास लेखन का एक भाग मात्र होती हैं। साहित्येतिहास में कई बार एक साथ कई पद्धतियों का प्रयोग भी देखा जा सकता है। जैसे, विधा-केन्द्रित पद्धति में साहित्येतिहासकार आलोचनात्मक और तुलनात्मक दोनों पद्धतियों का एक साथ प्रयोग कर सकता है। ठीक यही प्रक्रिया हमें रचनाकार केन्द्रित पद्धति में भी देखने को मिलती है। उसी प्रकार साहित्येतिहास लेखन की पद्धतियाँ ठहरी हुई नहीं होती हैं, इनका उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। जैसे - इधर विमर्श-केन्द्रित पद्धति ने जोर पकड़ा है। इसके साथ ही हिन्दी में आते हुए विमर्शों के बाढ़ में दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्शों के अतिरिक्त अन्य भी विचारधाराओं-भावधाराओं से इतिहास लेखन के प्रयास निकट भविष्य में हो सकते हैं। इसी क्रम में तुलनात्मक पद्धति भी ठीक वही नहीं रह गई है, जो "बिहारी बड़े कवि हैं या देव?" के समय में थी। आज हिन्दी साहित्येतिहासकार केवल हिन्दी या भारतीय रचनाकारों से तुलना करके संतुष्ट नहीं हो जाते

हैं, बल्कि उनकी दृष्टि योरोपीय, लैटिन अमरिकी के साथ कई पूर्वी देशों के साहित्यकारों पर भी जा रही है। अब विधा-केन्द्रित पद्धति मात्र किसी विधा-विशिष्ट पर ही केन्द्रित नहीं रह गई है, अपितु उस विधा के समकालीन कई अन्य विधाओं के विकास को भी इसके अन्तर्गत रेखांकित किया जा रहा है। जैसे - प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा, मुक्तिबोध आदि के साहित्य को समझने के लिए अनिवार्यतः उनके द्वारा लिखित सभी विधाओं को समझना भी आवश्यक हो जाता है, ऐसे में विधा-केन्द्रित इतिहास अधिक व्यापक रूप में हमारे सामने आते हैं। ऐसे में अनिवार्यतः यह समझना होगा कि साहित्येतिहास लेखन की पद्धतियों की संख्या को इतने में सीमित करके नहीं देखना चाहिए। इनका उत्तरोत्तर विकास होता रहेगा। वर्तमान पद्धतियों में विकास होकर उनका रूप बदलेगा और नई पद्धतियाँ सामने आती रहेगी तथा पूर्णतः नवीन पद्धतियों का भी विकास होगा। इस विकास के साथ ही साहित्येतिहास अधिक-से-अधिक रचनात्मक एवं सार्थक होता जाएगा।

षष्ठम् अध्याय
हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन

पिछले अध्यायों में हमने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की मध्यकाल से चली आती हुई विस्तीर्ण परम्परा का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है, इन मध्यकालीन ग्रंथों में अपेक्षित इतिहास चेतना के अभाव के कारण इन्हें आधुनिक अर्थो में इतिहास नहीं कहा जा सकता। अतः हमने साधार यह स्पष्ट किया कि आधुनिक मायनों में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन का आरंभ 'गार्सा द तासी' के ग्रंथ 'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' से होता है। पहले-पहल साहित्येतिहास के लिए आवश्यक दृष्टि के दर्शन इसी ग्रंथ में होते हैं। इस अर्थ में यह हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की वास्तविक परम्परा का आरंभ गार्सा द तासी के साहित्येतिहास लेखन से होता है। इनके बाद डॉ.ग्रियर्सन, शिवसिंह सेंगर, मिश्रबन्धु और ऐडविन ग्रिब्ज़ के साहित्येतिहास ग्रंथ प्रकाशित हुए, किन्तु इस परम्परा को प्रौढ़ता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्येतिहास लेखन से प्राप्त होती है। इस परम्परा का विकास आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बाबू श्यामसुन्दर दास, रमाशंकर शुक्ल रसाल, सूर्यकान्त शास्त्री, डॉ.रामकुमार वर्मा, बच्चन सिंह, डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी और डॉ.सुमन राजे आदि इतिहासकारों के ग्रंथों में दिखाई देता है। इन विद्वानों ने अपने ग्रंथों के माध्यम से हिन्दी साहित्येतिहास लेखन का न केवल विकास किया, अपितु उन्होंने अपनी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक मान्यताओं के माध्यम से हिन्दी आलोचना का भी विकास किया।

समय के साथ इन साहित्येतिहास ग्रंथों के स्वरूप, उनकी मूल्यांकनपद्धति, साहित्येतिहास लेखन की पद्धति, रचनाओं-रचनाकारों के प्रति रुझान आदि के प्रति दृष्टिकोण में कई बदलाव आते गए। यह भी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की पद्धति पर वर्तमान के दबाव का एक चिन्ह कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास लेखन उसके अनुसार मूल्यांकन कर साहित्य और समाज के साथ पाठक के सम्बन्धों की भी व्याख्या प्रस्तुत कर रहा है। इधर हिन्दी में साहित्येतिहास लेखन सम्बन्धी सिद्धान्तों की चर्चा भी ज़ोर-शोर से होने लगी, ऐसे में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन समयानुसार अधिक दुरुह कार्य होता जा रहा है, किन्तु उसी मात्रा में उसकी आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय विचारशून्य धाराओं के दबाव के चलते इतिहास के अन्त की घोषणा भी साहित्येतिहास लेखन के प्रति उदासीनता

को और गहरा करती जा रही है, वहीं इसके प्रतिरोध में आनेवाले विमर्शों ने साहित्येतिहास के अनेक रूप विकसित किए हैं, जहाँ दलित, आदिवासी, स्त्री आदि विमर्शों के तहत साहित्येतिहास ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। ऐसे में इक्कीसवीं शती से पूर्व लिखित साहित्येतिहासों एवं इधर लिखित साहित्येतिहासों के बीच अन्तर को समझकर आगे के साहित्येतिहास लेखन की दिशा तय करने के उपक्रम में, हमें इन साहित्येतिहास ग्रंथों में निहित मूल्यों, मूल्यांकन की पद्धति, साहित्य के प्रति दृष्टिकोण, इतिहास दृष्टि, विशिष्ट काल के प्रति इतिहासकारों का दृष्टिकोण आदि का तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। इन्हीं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर यहाँ विभिन्न बिन्दुओं के अन्तर्गत हिन्दी साहित्येतिहास ग्रंथों की साहित्येतिहास दृष्टि का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

६.१ हिन्दी साहित्येतिहासकारों की साहित्येतिहास सम्बन्धी अवधारणा : तुलनात्मक अध्ययन

इतिहास की अवधारणा के समान साहित्य के इतिहास की अवधारणा का जन्म एवं विकास आधुनिक युग में ही संभव हो सका है। जिस प्रकार मध्ययुग में प्रवासियों द्वारा लिखित प्रवास वर्णनों अथवा दरबारी वृत्तान्तों को इतिहास नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार तमाम मध्यकालीन वृतान्तों, नामावलियों, वार्ता साहित्य आदि को भी साहित्येतिहास नहीं कहा जा सकता है। इसका सर्वप्रमुख कारण इन दोनों ग्रंथों में इतिहास-दृष्टि तथा ऐतिहासिक चेतना का अभाव था। ऐतिहासिक चेतना का विकास तो आधुनिक समय में हो पाया, जो साहित्येतिहास ग्रंथों के सन्दर्भ में भी सही है।

आधुनिक अर्थों में पहला हिन्दी साहित्येतिहास गार्सा द तासी ने लिखा और उन्होंने अपने साहित्येतिहास दृष्टि एवं साहित्येतिहास की अवधारणा ही स्पष्ट की। जिस प्रकार हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में काल-विभाजन एवं नामकरण का आरंभ डॉ.ग्रियर्सन से होता है, उसी प्रकार साहित्येतिहास की अवधारणा को भी तासी ने पहले-पहल स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसका यह कारण है कि इनसे पूर्व सभी साहित्येतिहासकारों ने साहित्येतिहास की व्याख्या करने की अपेक्षा अपने इतिहास लेखन सम्बन्धी कठिनाईयों पर प्रकाश डाला है। तासी ने अपने ग्रंथ में लिखा था - "मौलिक जीवनियाँ जो मेरे ग्रंथ का मूलाधार हैं, सब अकारादि क्रम में रखी गई हैं। मैंने यह पद्धति ग्रहण की है, यद्यपि शुरु में मेरा विचार कालक्रम ग्रहण करने का था और मैं यह बात छिपाना नहीं चाहता था कि यह क्रम अधिक अच्छा रहता या कम-से-कम जो शीर्षक मैंने अपने ग्रंथ को दिया है उससे अधिक उपयुक्त होता, किन्तु मेरे पास अपूर्ण

रचनाएँ होने के कारण उसे ग्रहण करना कठिन ही था।"[1] आगे उन्होंने इस सामग्री की संदिग्धता की ओर इशारा करते हुए लिखा है - "वास्तव में मैं जब अपने सम्बन्ध में कहना चाहता हूँ, मौलिक जीवनियाँ हमें यह नहीं बताती कि उल्लेखित कवियों ने उन्हें किस काल में लिखा, और यद्यपि उनमें प्रायः काफी अवतरण दिए गए हैं, तो वो भी उनकी शैली के सम्बन्ध में बहुत अधिक विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रतिलिपि करते समय उनमें ऐसे पाठ सम्बन्धी परिवर्तन हो गए हैं, जो इन्हें आधुनिक रूप प्रदान कर देते हैं, चाहे कभी-कभी वे प्राचीन ही हो। जहाँ तक हिन्दुई लेखकों से सम्बन्ध है, उनकी भी अधिकांश रचनाओं की निर्माण तिथियाँ निश्चित नहीं हैं। यदि मैंने कालक्रम वाली पद्धति ग्रहण की होती तो अनेक विभाग स्थापित करने पड़ते। पहले में, मैं उन लेखकों का पता रखता जिनका काल अच्छी तरह ज्ञात है, दूसरे उनको, जिनका काल सन्देहास्पद है, अन्त में, तीसरे उन्हें जिनका काल अज्ञात है। यही विभाजन उन रचनाओं के लिए भी करना पड़ता, जिन्हें इस अंश के प्रधान अंश में स्थान नहीं मिल सका। अपना कार्य सरल बनाने और पाठक की सहुलियत दोनों दृष्टियों से मुझे ये पद्धति छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।"[2]

इसी क्रम में मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबन्धु विनोद' में अपनी साहित्येतिहास की समझ को इन शब्दों में व्यक्त किया है - "हमने भाषा के उत्तमोत्तम शत नवीन और प्राचीन कवियों की कविता पर समालोचना लिखने का निश्चय किया है और उन आलोचक ग्रंथों (लेखों) के आधार पर हिन्दी का जन्म और गौरव या किसी अन्य ऐसी ही नाम की पुस्तक निर्माण करने का भी विचार है।"[3] इनके बाद प्रकाशित इतिहास ग्रंथ 'अ स्केच ऑफ़ हिन्दी लिटरेचर' के लेखक ने भी इतिहास की अपनी मान्यता को अभिव्यक्त किया है। फ्रैंक ई.के. के अनुसार - "इस पुस्तक में बड़ी सावधानी से हरिश्चन्द्र तक के ऐतिहासिक आन्दोलन की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, पर बहुत हाल के साहित्य की विस्तृत चर्चा का कोई प्रयास नहीं किया गया।"[4]

साहित्येतिहास की इन मान्यताओं अथवा समझ को एक साथ रखने का तात्पर्य यही है कि इनमें कहीं भी साहित्येतिहास की अवधारणा स्पष्ट रूप से नहीं आ पायी है। इनमें अधिकांश रूप में

---

[1]. हिन्दुई साहित्य का इतिहास-भूमिका-अनु.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ.१२

[2].वही, पृ.१२

[3].सरस्वती, १९०१, पृ.११

[4].हिन्दी साहित्य का इतिहास, (अनुवाद)-डॉ.सदानन्द साही, भूमिका

साहित्येतिहास की सामग्री, इतिहास लिखने में आनेवाली कठिनाइयाँ, साहित्येतिहास लिखने की पद्धति अथवा साहित्येतिहास की रचना-प्रक्रिया को उद्‌घाटित किया गया है। जिस प्रकार हिन्दी साहित्येतिहास के इतिहास में आचार्य शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' अपने क्षेत्र की प्रथम प्रौढ़ कृति है, उसी प्रकार आचार्य शुक्ल द्वारा की गई साहित्येतिहास की व्याख्या ही प्रथम प्रौढ़ व्याख्या है। आचार्य शुक्ल ने अपने ग्रंथ की भूमिका में लिखा है - "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारणस्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन ही साथ-ही-साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने से यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किस विशेष समय में लोगों की रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ।"[5]

यह हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में साहित्य के इतिहास की प्रथम व्याख्या कही जा सकती है। अपने पूर्ववर्ती साहित्येतिहासकारों की भाँति न तो आचार्य शुक्ल ने साहित्येतिहास की अवधारणा को साहित्येतिहास लेखन की कठिनाइयों से मिला दिया है और न ही साहित्येतिहास लेखन की प्रक्रिया से। उन्होंने संभवतः पहली बार साहित्य को ही नहीं साहित्येतिहास के भी सामाजिक-सांस्कृतिक पहलू को ध्यान में रखते हुए इतिहास और साहित्येतिहास में अन्तर को भी स्पष्ट किया। प्रायः तथ्य प्रधान इतिहास से साहित्येतिहास को भिन्न करते हुए उसे जनता के मानस से जोड़ने का कार्य आचार्य शुक्ल ने अपनी व्याख्या में किया है। आचार्य शुक्ल ने अपने साहित्येतिहास में भले ही युगीन परिस्थितियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों का स्वतंत्र रूप में विवेचन किया हो, किन्तु उनकी व्याख्या और उनके विवेचन में भी उस तरह की फाँक कहीं दिखाई नहीं देती है। उन्होंने अपनी व्याख्या में परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के साथ-साथ पाठकों की अभिरुचि का भी ध्यान रखा है। यह हिन्दी साहित्येतिहास की लेखन परम्परा में पहली साहित्येतिहास की व्याख्या है, जो सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक रूप में भी स्वयं व्याख्याकार के इतिहास के माध्यम से सिद्ध हुई है।

---

[5].हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.०१

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद के अधिकांश साहित्य के इतिहासों में आचार्य शुक्ल की धारणाओं की पुनरावृत्ति को देखा जा सकता है। ठीक उसी प्रकार आचार्य शुक्ल की साहित्येतिहास की धारणा को भी अधिकांश रूप में स्वीकार किया गया है। इस परम्परा में बाबू श्यामसुन्दर द्वारा की गई व्याख्या आती है। उन्होंने लिखा है - "अर्थात हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों का इतिवृत्त, उन कालों की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक परिस्थिति तथा उनके मुख्य-मुख्य निर्माताओं का वर्णन।"[6] किन्तु साहित्येतिहास मात्र मुख्य-मुख्य निर्माताओं का ही वर्णन नहीं होता है, अपितु प्रत्येक साहित्यकार की प्रत्येक कृति का न केवल वर्णन होता, बल्कि वह युगीन एवं समकालीन परिस्थितियों में मूल्यांकनभी होता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए नलिन विलोचन शर्मा ने साहित्येतिहास के सन्दर्भ में कहा है - "प्रतिज्ञा यह है कि साहित्येतिहास भी अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह कुछ विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियाँ इतिहास न होकर, युग विशेष के लेखक समूह की कृति-समष्टि का इतिहास ही हो सकता है। इस पर, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही ध्यान न देने के कारण साहित्यिक इतिहास ढीले सूत्र में गुथी हुई आलोचनाओं का रूप ग्रहण करता रहा है।"[7] उन्होंने आगे लिखा - "ऐतिहासिक बोध राष्ट्रीय अथवा भाषागत विशेषताओं का विचार, फिर पार्थक्य में अन्तर्निहित संपृक्तता का अभिज्ञान तथा युग की प्रवृत्तियों और विकास की चेतना जब प्रयत्न तत्वानुसंधान-वृत्ति से समन्वित होते हैं और शताब्दियों से एकत्र होती हुई सामग्री का वे अपने युग की उदात्तता की दृष्टि से उपयोग करते हैं, तब साहित्येतिहास का निर्माण होता है।"[8]

ऐसा नहीं है कि आचार्य शुक्ल की साहित्येतिहास की अवधारणा को प्रत्येक परवर्ती साहित्येतिहासकार ने स्वीकार कर लिया हो। साहित्येतिहास सिद्धान्तकारों में नलीन विलोचन शर्मा ने आचार्य शुक्ल का समर्थन करते हुए भी विरोध किया। उन्होंने आचार्य शुक्ल की अवधारणा को स्वीकार किया, किन्तु उसे अधिक सूक्ष्म रूप देने का भी प्रयास किया। उन्होंने आचार्य शुक्ल की परिभाषा को अधिक विस्तार देते हुए लिखा - "किसी साहित्य का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जगतिक एवं देशगत् प्रवृत्तियों को ही जानना आवश्यक नहीं होता, वरन् विभिन्न कालों में उसकी कैसी अवस्था रही, देश के सामाजिक, धार्मिक तथा कला-कौशल सम्बन्धी आन्दोलनों के उस पर कैसे प्रभाव पड़े, किन-

---

[6].हिन्दी भाषा और साहित्य, निवेदन-बाबू श्यामन्दर दास, पृ.०१

[7].साहित्य का इतिहास-दर्शन-नलीन विलोचन शर्मा, पृ.०१

[8].वही, पृ.वही

किन व्यक्तियों का उस पर कैसे प्रभाव पड़ा? ऐसी अनेक बातों को जानना आवश्यक है। समय परिवर्तनशील है और समय के साथ उसकी चित्तवृत्तियाँ भी और हो जाती हैं साथ ही साहित्य भी अपना स्वरूप बदलता रहता है।"[9] उन्होंने इसे ही कम-से-कम शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है - "साहित्य का इतिहास भावों, विचारों तथा चित्तवृत्तियों के व्यंजन के ढंग का इतिहास है।"[10]

ग्रियर्सन के समय से हिन्दी साहित्य का इतिहास हिन्दी भाषा का भी इतिहास रहा है। डॉ.रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने अपनी साहित्येतिहास की व्याख्या में इसे भी ध्यान में रखा है। उन्होंने लिखा है - "साहित्य के इतिहास से हमारा यही तात्पर्य है कि इतिहास के समान जिसमें साहित्य की भिन्न-भिन्न समय से सम्बन्ध रखनेवाली दशाओं या अवस्थाओं का सुव्यवस्थित वर्णन हो उसे साहित्य का इतिहास समझना चाहिए। जिस प्रकार किसी देश अथवा समाज के इतिहास से हमें उससे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं, उसके कारणों, परिणामों एवं उनकी परिस्थितियों आदि का यथाक्रम आद्योपान्त एवं सांगोपांग परिचय प्राप्त होता है, उसी प्रकार किसी भाषा के साहित्य के इतिहास से हमें उस साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले भिन्न-भिन्न विषयों की दशाओं, उनके कारणों एवं परिणामों आदि का उनकी महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों और प्रगतियों के साथ ज्ञान प्राप्त होता है।"[11] निःसंदेह यह आचार्य शुक्ल की साहित्येतिहास की अवधारणा का ही शब्दभेद से प्रस्तुतिकरण है, किन्तु उन्होंने इसमें भाषा के इतिहास को भी समाविष्ट कर अधिक पूर्णता करने का प्रयास किया है, जो प्रशंसनीय है।

सूर्यकान्त शास्त्री ने अपने ग्रंथ लेखन का उद्देश्य बताते हुए जर्मन विद्वान गेटे का यह कथन उद्धृत किया, जिसमें उन्होंने कहा था - "समय-समय पर इतिहास इसलिए पुनः लिखा जाना चाहिए, इसलिए नहीं कि नवीन तथ्यों का अन्वेषण हो चुका होता है, बल्कि नये दृष्टिकोण भी सामने आ जाते हैं, क्योंकि एक युग की प्रगति में सक्रिय भाग लेने वाले ऐसे केन्द्र बिन्दु पहुँचते हैं, जहाँ से अतीत एक नए ढंग से जाँचा और परखा जा सकता है।"[12]

इतिहास की तरह ही साहित्येतिहास की अवधारणा में भी परिवर्तन आते गए। जिस प्रकार इतिहास राजा-रानियों की कहानी नहीं रह गया है, उसी प्रकार साहित्येतिहास भी महत्त्वपूर्ण कृतियों-कृतिकारों का

---

[9].हिन्दी भाषा और साहित्य-बाबू श्यामसुन्दर दास, पृ.२०

[10].वही, पृ.वही

[11].हिन्दी साहित्य का इतिहास-डॉ.रमाशंकर शुक्ल रसाल, पृ.०८

[12].हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास-भूमिका-सूर्यकान्त शास्त्री, पृ.०१

इतिहास मात्र नहीं रह गया है। रामकुमार वर्मा ने इसी बदलती हुई अवधारणा को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है - "हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहास लिखे जा चुके हैं। उनमें कवियों का विवरण और प्रवृत्तियों का निरुपण स्पष्टता के साथ पाया जा सकता है, किन्तु इधर साहित्य के इतिहास में कई नवीन अन्वेषण हुए हैं। इतिहास लिखने के दृष्टिकोण और शैली में भी नूतन वैज्ञानिक उत्क्रान्ति हुई है। अतः हिन्दी का इतिहास लेखन अभी पूर्ण नहीं है।"[13] संभवतः पहली बार किसी इतिहासकार द्वारा यहाँ सैद्धान्तिक रूप में इतिहास लेखन की शैली की भी चर्चा की गई है। युगानुरूप परिवर्तन को यह व्याख्या शब्दबद्ध करती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाए हैं, किन्तु उन्होंने साहित्येतिहास को कहीं भी परिभाषित नहीं किया है । उनके विविध ग्रंथों में इतिहास सम्बन्धी विविध धारणाएँ तो मिलती हैं, किन्तु उन्होंने अलग से साहित्येतिहास की कोई परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है। उन्होंने जिस प्रकार साहित्य को मानवतावादी एवं सांस्कृतिक धारा के रूप में कल्पित किया है, उसी प्रकार उनके साहित्येतिहास की व्याख्या भी विस्तृत है, जिसे उन्होंने शब्दों में बाँधना योग्य नहीं समझा होगा। उनके लेखन से उनकी साहित्येतिहास की अवधारणा को जाना जा सकता है।

साहित्येतिहास में युगीन प्रवृत्तियाँ एवं उनके साथ रचनाकार विशेष से समन्वय की चर्चा करते हुए बाबू गुलाबराय ने लिखा है - "साहित्य के इतिहास में नामों की अपेक्षा प्रवृत्तियों और परिस्थितियों का अध्ययन अधिक आवश्यक है, क्योंकि उनके ही द्वारा विकास क्रम की श्रेणियाँ समझी जा सकती है। यद्यपि हमारा मूल ध्येय तो विकास क्रम का अध्ययन ही रहा है, तथापि यथासंभव नामों की भी उपेक्षा नहीं की गई है।"[14] वैसे देखा जाए तो यह साहित्येतिहास की व्याख्या नहीं है, किन्तु इसमें साहित्येतिहास सम्बन्धी बदलती हुई अवधारणा को देखा जा सकता है, जहाँ युगीन प्रवृत्तियों एवं रचनाकारों की विशेषताओं में यथासंभव प्रयास को तरजीह दी जा रही है।

साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में इतिहासकारों की आलोचना-दृष्टि में वैयक्तिक मूल्यों के आने पर भी काफी चर्चा हुई है। ऐसे में साहित्येतिहास की अवधारणा पर इसका प्रभाव होना स्वाभाविक है। आचार्य शुक्ल से प्रौढ़ता प्राप्त करनेवाले हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में वैयक्तिक मूल्यों एवं साहित्यिक मूल्यों को एक-दूसरे का विरोधी बनाकर प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रभाव गणपति चन्द्र गुप्त की

---

[13].हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, विषय प्रवेश-डॉ.रामकुमार वर्मा, पृ.०३

[14].हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास-बाबू गुलाब राय, निवेदन

साहित्येतिहास की अवधारणा पर देखा जा सकता है। अपने साहित्येतिहास में उन्होंने अपनी साहित्येतिहास की अवधारणा को इस प्रकार प्रस्तुत किया है - "इतिहास का सम्बन्ध अतीत की व्याख्या से है तथा प्रत्येक व्याख्या के मूल में व्याख्याता का दृष्टिकोण अनुस्यूत रहता है। प्रस्तुत इतिहास में प्रयुक्त दृष्टिकोण को 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' की संज्ञा दी जा सकती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी पुष्ठ सिद्धान्त या प्रतिष्ठित नियम के आधार पर वस्तु की तथ्यपरक, सर्वांगिन एवं बौद्धिक व्याख्या सुस्पष्ट शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।"[15]

प्रत्येक पीढ़ी अपने लिए इतिहास की नई व्याख्या करने एवं उसे लिखने की आवश्यकता महसूस करती है। इसी को साहित्येतिहास पर घटित करते हुए रामखेलावन पाण्डेय ने लिखा है - "इतिहास तथ्यों, क्रमपूर्वक संचयन, संगठन, आकलन और संकलन नहीं है, वह वक्तृत्व का प्रशस्तीमूलक चारण गान नहीं है, स्मरणीय घटनाओं के स्मरण दिलाने का माध्यम और साधन मात्र नहीं है। वर्तमान समस्याओं का वह दीपधार भी नहीं है। इतिहास वह नहीं जो स्मृत और सुरक्षित रहे, बल्कि वह है जिसके स्मरण की आवश्यकता का अनुभव होता रहे। इसलिए प्रत्येक युग अपने लिए ऐतिहासिक तथ्यों और तत्वों की नव्य व्याख्या और विवेचना करता है।"[16]

रुपवादी रुझानों ने साहित्येतिहास को आरंभ से ही प्रभावित किया है। बिहारी बड़े कवि हैं या देव? विवाद में इसके बीज देखे जा सकते हैं, किन्तु रूपवाद संगठित रूप में एक विचारधारा के रूप में वहाँ मौजूद नहीं है। जहाँ विचारधारा के रूप में रूपवाद ने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में दस्तक दी, तो उसने हिन्दी साहित्येतिहास की अवधारणा को भी प्रभावित किया। इसके उदाहणरण के रूप में रामखेलावन पाण्डेय की व्याख्या को देखा जा सकता है, जिसमें उन्होंने शुक्ल जी की व्याख्या के आगे रूपवादी विचारों को जोड़ते हुए लिखा है - "जनता की चित्तवृत्ति, लोकमंगल का विधान ही काव्य की अन्तिम परिणति नहीं है और चित्तवृत्ति ही साहित्य भी नहीं है। साहित्य का इतिहास अभिव्यक्ति की सम्पन्नता का विन्यास भी है।"[17]

मोहन अवस्थी ने 'साहित्येतिहास की समस्याएँ' के अन्तर्गत साहित्य के इतिहास की परिभाषा दी है, जिस पर आचार्य शुक्ल का प्रभाव देखा जा सकता है - "राजनैतिक परिवर्तन यदि समाज के आन्तरिक

---

[15].हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास-डॉ.गणपति चन्द्र गुप्त, प्राक्कथन, पृ.VI

[16].काव्य और कल्पना-रामखेलावन पाण्डेय, पृ.१३५

[17].हिन्दी साहित्य का नया इतिहास-रामखेलावन पाण्डेय, पृ.१५

जीवन का अंग बन जाए तो वह भी सामाजिक चेतना के अन्तर्गत माना जाएगा। सामाजिक चेतना ही सामाजिक इतिहास है। साहित्य इस चेतना की अभिव्यक्ति है, इस अभिव्यक्ति का कालक्रम से विकास प्रस्तुत करना साहित्य का इतिहास है।"[18] आचार्य शुक्ल द्वारा प्रयुक्त 'चित्तवृत्ति' के स्थान पर 'चेतना' को रखकर उन्होंने साहित्येतिहास की व्याख्या प्रस्तुत कर दी है।

डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपने साहित्येतिहास लेखन के माध्यम से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इतिहास दृष्टि को पुष्ट रूप में स्थापित करने का प्रयास करते हैं। उन्होंने साहित्य की अवधारणा को पुनरुत्थानवादी एवं सांस्कृतिक रूप देने का प्रयास किया। उनकी साहित्येतिहास की परिभाषा है - "कवि का काम यदि 'दुनिया में ईश्वर के कामों को न्यायोचित ठहराना है' तो साहित्य के इतिहासकार का काम है कवि के कामों को साहित्येतिहास की विकास-प्रक्रिया में न्यायोचित दिखा सकना।"[19] निःसंदेह इस व्याख्या में साहित्येतिहास के तत्वों से अधिक धार्मिक-सांस्कृतिक मूल्यों पर बल दिया गया है और ईश्वर के न्याय पर अधिक बल दिया गया है। यह बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार साहित्येतिहास की व्याख्या नहीं कही जा सकती है और न ही शुक्ल जी के साहित्येतिहास की अवधारणा से इसका कोई सम्बन्ध स्थापित हो पाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास ने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को दूर तक प्रभावित किया। डॉ.बच्चन सिंह इस बात को मान्य करते हुए भी लिखते हैं - "नए इतिहास के लिए शुक्ल जी का इतिहास एक चुनौती है। उनसे बहुत कुछ सीखने के साथ ही उनके ऐतिहासिक पैटर्न को तोड़ना होगा, जब रचनात्मक साहित्य पुराने पैटर्न को तोड़कर नया बनता है तो साहित्य के इतिहास पर वह क्यों न लागू हो? नया पैटर्न बनाना खतरे से खाली नहीं। नया इतिहास लिखने के लिए यह खतरा उठाना ही होगा।"[20]

डॉ.सुमन राजे का साहित्येतिहास स्त्री विमर्श एवं उनके निजी चिन्तन की उपलब्धि है। उन्होंने हिन्दी साहित्येतिहास में प्रचलित साहित्य की अवधारणा एवं उसकी व्यावहारिक परिणति को कटघरे में खड़ा कर दिया। उन्होंने पूर्वप्रचलित साहित्येतिहास अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है - "ज्यों-ज्यों आधे इतिहास का लेखन गति पकड़ता गया यह धारणा पुख़्ता होती चली गयी कि पुरुष इतिहासकारों ने महिला रचनाकारों के साथ बहुत अन्याय किया है। यह अन्याय उदासीनता के चलते हुए

---

[18].हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास-मोहन अवस्थी, पृ.२३

[19].हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.२४

[20].हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास-भूमिका-डॉ.बच्चन सिंह, पृ.VII

हो ऐसी बात नहीं है। यह अन्याय विमुख रहकर किया गया है। लेकिन यह कहना भी गलत होगा कि अन्याय सिर्फ पुरुषों ने किया है। महिला लेखिकाओं ने भी उधर ध्यान नहीं डाला। ...वैसे स्त्रियों के साथ अन्याय होता आया है और कब तक होता रहेगा कहा नहीं जा सकता। उन सबसे लड़ना मेरे लिए संभव नहीं है। इसलिए मैंने फैसला किया कि अन्याय के विरुद्ध यह लड़ाई मैं साहित्येतिहास के भीतर लडूँगी यह मानते हुए कि हर लड़ाई आत्मसाक्षात्कार की ओर भी ले जाती है और ले जाएगी।"[21]

डॉ.सुमन राजे ने अपने साहित्येतिहास के स्रोतों की नवीनता की ओर संकेत करते हुए लिखा है - "यदि स्त्री साहित्य का इतिहास लिखना है तो बिना लोक साहित्य का आश्रय लिए लिखा ही नहीं जा सकता, ऐसा मेरा मानना है। इसलिए पहली बार लिखे अक्षर को प्रामाणित मानने की परम्परा को तोड़कर लोक साहित्य की सहायता से इतिहास रचने की कोशिश या कहिए दुःस्साहस यहाँ किया गया है। केवल रचना ही नहीं महिला लेखन का एक पूरा सौन्दर्यशास्त्र है जिसे हम लोक साहित्य से प्राप्त कर सकते हैं। पहली बार ऐसी कोशिश यहाँ की गई है।"[22] वस्तुतः देखा जाए तो हिन्दी साहित्य के केन्द्र में लोक साहित्य को मानने का आग्रह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के यहाँ भी देखा जा सकता है। डॉ.राजे ने भी अपने इतिहास में स्त्री लेखन की लोक परम्परा को रेखांकित किया है। यह स्त्री विमर्श का साहित्येतिहास की अवधारणा पर प्रभाव कहा जा सकता है।

इधर के समय में साहित्येतिहास को विचारधाराओं का इतिहास, शैली का इतिहास आदि के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। विधानुरुप इतिहास को भी तरजीह दी जा रही है। डॉ.शंभुनाथ सिंह ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की सामाजिक भूमिका' में लिखा है - "वर्तमान समय में इतिहास के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा बहुत बदल चुकी है। उस धारणा के अनुसार, इतिहास केवल घटनाओं, और व्यक्तियों के जीवन-वृत्त का संग्रह नहीं है न तो वह विचारधाराओं का आकलन मात्र है। वह मानव चेतना की सक्रियता का विवेचनात्मक अभिलेख है। मानव चेतना जिन प्रत्यक्ष या परोक्ष क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त होती है उनके समग्र रूप का आकलन ही इतिहास है। मानव की प्रत्येक क्रिया उसके परिवेश तथा उसकी अपनी ही अन्य क्रियाओं से विविध रूपों में सम्बद्ध होती है, इसी कारण वह उसकी चेतना की समग्र धारा का अंग होती है। अतः इतिहास मानव की विकास-प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है। ...अतः भारतीय मानस की विविध क्रिया-प्रतिक्रियाओं से सम्बद्ध करके हिन्दी साहित्य के इतिहास को देखा

---

[21].हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास-सुमन राजे, पृ.११

[22].वही, पृ.२०

परखा जा सकता है।"[23]

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास की अवधारणा में युगानुरुप परिवर्द्धन-परिवर्तन होते आए हैं, इससे साहित्येतिहास के मूलभूत ढाँचे, लेखन पद्धति, मूल्यांकन पद्धति, दृष्टि आदि में काफी अन्तर आता गया है। इसका श्रेय साहित्येतिहास की परिवर्तित होती हुई अवधारणा को दिया जा सकता है। मानस की अवधारणा में आए अन्तरों के कारण साहित्येतिहास लेखन में भी अन्तर आते गए। आरंभ से लेकर वर्तमान साहित्येतिहास तक का स्वरूप साहित्येतिहास की अवधारणा के विकास के माध्यम से ही विकसित होता आया है।

६.२ काल-विभाजन एवं नामकरण सम्बन्धी दृष्टि : तुलनात्मक अध्ययन

साहित्येतिहास लेखन के सन्दर्भ में काल-विभाजन एवं नामकरण सम्बन्धी कठिनाई आरंभ से ही होती रही है और हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में यह अधिक जटिल समस्या के रूप में उपस्थित होती है, क्योंकि हिन्दी साहित्य के साथ हिन्दी भाषा और उसके अन्तर्गत आनेवाली बोलियों का इतिहास भी जुड़ा हुआ है। इसके ही भीतर साहित्येतिहास में साहित्य के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास का भी विवेचन किया जाता है और हिन्दी समाज के इतिहास से ही हिन्दी साहित्येतिहास का लेखन संभव नहीं है, क्योंकि हिन्दी साहित्य के योग में ऐसी बहुत से अहिन्दी भाषा-भाषियों का सम्बन्ध रहा है, जिनके समाज के इतिहास का भी विवेचन हिन्दी साहित्येतिहास में अपेक्षित हो जाता है। यहाँ पर साहित्येतिहास में काल-विभाजन एवं नामकरण की और अधिक जटिल समस्या उपस्थित हो जाती है, जहाँ समाज और साहित्य का अन्तःसम्बन्ध जोड़ना होता है, क्योंकि हिन्दी समाज का इतिहास और अहिन्दी समाज का इतिहास कई बार विपरित दिशाओं में बढ़ता हुआ देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त हिन्दी समाज में ही कई बार अन्तर्विरोध देखने को मिलते हैं। ऐसे में साहित्य, समाज और पाठक के अन्तर्संबधों में अन्विति बैठाकर काल-विभाजन एवं नामकरण करना टेढ़ा कार्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त भाषा सम्बन्धी विवादों, आयातित विचारों-विचारधाराओं, काव्यान्दोलनों, सैद्धान्तिक मान्यताओं आदि से भी साहित्येतिहासकार को, इस सन्दर्भ में समन्वय साधने का कार्य करना पड़ता है, जो 'असाध्य वीणा' को साधने से कम नहीं। इसे साधने के लिए अजीत केशकम्बली जैसी एकाग्रता और अभ्यास की आवश्यकता होती है और हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने ऐसे प्रयासों में कमी नहीं की है। उनके प्रयासों का कालानुसार

---

[23].हिन्दी साहित्य की सामाजिक भूमिका-डॉ.शंभुनाथ, प्राक्कथन

विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

६.२.१ आदिकाल

आदिकाल का नामकरण एवं काल-विभाजन हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में सबसे जटिल एवं विवादास्पद रहा है, क्योंकि इसके साथ हिन्दी साहित्य का आरंभ, हिन्दी भाषा का आरंभ, हिन्दी और अपभ्रंश भाषा-साहित्य की विभिन्न परम्पराओं को स्थापित करना, आदिकाल का ही नहीं हिन्दी साहित्य का प्रथम कवि किसे माना जाए, किस अपभ्रंश से हिन्दी साहित्य का आरंभ माना जाए, उपलब्ध सामग्री की संदिग्धता-असंदिग्धता को किन प्रतिमानों पर परखा जाए, संभावित सामग्री की किस प्रकार खोज की जाए, केवल उल्लेख्य ग्रंथों को किस आधार पर असंदिग्ध माना जाए, भक्तिकाल से आदिकाल को किस आधार पर और कहाँ से अलग किया जाए, 'फुटकल खाते' के विद्यापति-खुसरो आदि कवियों को अन्त में किस युग में रखा जाए, भक्तिकालीन लोकाश्रयी साहित्य के बीज किस प्रकार वीर-श्रृंगार रस प्रधान आदिकाल में ढूँढ़े जाए, सिद्ध-जैन-नाथ साहित्य से सन्त काव्य का सम्बन्ध आदिकाल में विवेचित किया जाए अथवा उन्हें धार्मिक साहित्य कहकर साहित्य क्षेत्र से बाहर कर दिया जाए? आदि कई प्रश्न जुड़े हुए हैं।

जब गार्सा द तासी, ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु आदि शुक्लपूर्व साहित्येतिहासकारों ने अपने लेखन का आरंभ किया था, तब उनके सामने ऐसे कई प्रश्न उपस्थित थे, जिनमें सर्वप्रमुख था सामग्री की अपूर्णता एवं संदिग्धता। अपने ४० वर्षों के अनुसंधान के बाद भी तासी साहित्येतिहास में काल-विभाजन एवं नामकरण से इसी कारण बचते देखे जा सकते हैं। उन्होंने इस सन्दर्भ में अपनी विवशता इन शब्दों में कह-सुनायी है - "यदि मैंने कालक्रम वाली पद्धति ग्रहण की होती तो अनेक विभाग स्थापित करने पड़ते। पहले में, मैं उन लेखकों का पता रखता जिनका काल अच्छी तरह ज्ञात है, दूसरे उनको, जिनका काल सन्देहास्पद है, अन्त में, तीसरे उन्हें जिनका काल अज्ञात है। यही विभाजन उन रचनाओं के लिए भी करना पड़ता, जिन्हें इस अंश के प्रधान अंश में स्थान नहीं मिल सका। अपना कार्य सरल बनाने और पाठक की सहुलियत दोनों दृष्टियों से मुझे ये पद्धति छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।"[24] इसी विवशता के चलते उन्होंने अपने ग्रंथ में नामकरण एवं काल-विभाजन की पद्धति को छोड़कर विधानुरूप विभाजन

---

[24].हिन्दुई साहित्य का इतिहास-भूमिका-अनु.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ.१२

कर दिया। मौलवी करीमुद्दीन ने भी 'तबकातुश्शुअरा' में इसी पद्धति को अपनाया है। शिवसिंह सेंगर ने अकारादि क्रम में ८३८ कवियों की रचनाओं के २००० नमूने और १००३ कवियों का परिचय इसी विवशता के चलते प्रस्तुत कर दिए थे।

ऐडविन ग्रिब्ज़ ने आदिकाल के लिए संभवतः प्रथम बार इस नाम का प्रयोग करते हुए सन् १४०० ई. तक इसकी समय-सीमा मानी किन्तु उन्होंने इसके आरंभ के विषय में कोई टिप्पणी नहीं की है। ग्रियर्सन हिन्दी भाषा के आधार पर आदिकालीन साहित्य का आरंभ सन् ८०० ई. से राजस्थान के चारणों की रचनाओं से माना और इसका अन्त सन् १३०० ई. मानते हुए, इसमें चारणों की रचनाओं को प्रमुख मानकर इसका नामकरण 'चारण काल' किया। मिश्रबन्धुओं ने आदिकाल को भाषा के विकास से जोड़ते हुए उसका नामकरण 'प्रारंभिक काल' करते हैं, जिसकी समय-सीमा वे ७०० से १४४४ विक्रमी संवत् मानते हैं। उन्होंने पुनः इस काल को पूर्वारंभिक काल (७००-१३४३ विक्रमी संवत्) और उत्तरारंभिक काल (१३४४-१४४४ विक्रमी संवत्) शीर्षक के अन्तर्गत विवेचित किया है। इन साहित्येतिहासकारों ने आदिकाल की समय-सीमा तय करते समय भाषा के इतिहास को तो ध्यान में रखा ही किन्तु उन्होंने साथ ही यह भी माना कि प्राकृत की अन्तिम अवस्था भाषा एवं साहित्य हिन्दी साहित्येतिहास का हिस्सा है, इसलिए उन्होंने आदिकाल का समय तीन-चार सौ वर्ष पीछे से आरंभ किया। आचार्य शुक्ल ने प्रथमतः प्राकृत साहित्य को हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग नहीं माना, अपितु उन्होंने अपनी सुविधानुसाररचनाओं को आदिकालीन साहित्य के भीतर-बाहर किया। इसी क्रम में यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्येतिहास में प्रथम बार प्रवृत्तियों, रचनाओं की प्रचुरता तथा प्रसिद्धि के आधार पर नामकरण करने का प्रयास किया। इस आधार पर उन्होंने आदिकाल का नामकरण 'वीरगाथा काल' करते हुए इस काल की अवधि संवत् १०५० से १३७५ ई. तक मानी है। इस सन्दर्भ में उनका तर्क है कि, "मुंज और भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पुरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिन्दी साहित्य का आदिकाल संवत् १०५० से लेकर १३७५ तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है।"[25] अपने नामकरण के तर्क रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी काल के भीतर आनेवाली १२ रचनाओं का उल्लेख किया, जिनमें से कुछ प्राप्त नहीं होती हैं, कुछ संदिग्ध हैं और

---

[25]. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.१३

कुछ का समय बाद का सिद्ध होता है। ऐसे में आचार्य शुक्ल द्वारा आदिकाल को दिया गया नाम'वीरगाथा काल' अप्रासंगिक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त इस नामकरण में अव्याप्ति दोष भी देखा जा सकता है। उन्हीं के तर्क को माना जाए तो यह नामकरण उस काल की प्रमुख प्रवृत्तियों एवं जनाभिरुचियों को भी अपने भीतर नहीं समेट पाती है। उस काल के प्रमुख सिद्धों, नाथों एवं जैनों का साहित्य इस नामकरण से बाहर हो जाते हैं, जो आदिकालीन वीरगाथात्मक साहित्य से कहीं अधिक प्रामाणिक सिद्ध होता है। आचार्य शुक्ल के समकालीन बाबू श्यामसुन्दर दास ने आदिकाल का नामकरण 'आदियुग', रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने 'बाल्यावस्था' किया और सूर्यकान्त शास्त्री के सम्पूर्ण नामकरण फ्रैंक ई. की. से यथावत् स्वीकार किया है। इन दोनों इतिहासकारों ने आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तावित समय-सीमा को यथावत् स्वीकार कर लिया है। आचार्य शुक्ल के पूर्व एवं समकालीन साहित्येतिहासकारों द्वारा प्रस्तावित आदिकाल के नामों में आचार्य शुक्ल के अतिरिक्त ग्रियर्सन द्वारा दिया गया नाम ही अधिक चर्चा में रहा, अन्य सभी नामकरण अव्याप्ति तथा तर्करहितता के कारण मात्र इतिहास के अंग हैं।

इसके पश्चात् डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (सन् १९३८ ई.) में हिन्दी साहित्य के प्रथम युग का काल निर्धारण करते समय डॉ.ग्रियर्सन और आचार्य शुक्ल के मतों का समन्वय करते हुए संवत् ७५०-१३७५ विक्रमी तक माना है। नामकरण करते समय उन्होंने इस समय-सीमा को दो भागों में विभाजित किया - संधिकाल (सं.७५० से १००० वि.) और चारण काल (१००० से १३७५ वि.)। उन्होंने काल के निर्धारण करने में युगीन प्रवृत्तियों को अधिक महत्व दिया और संधिकाल के अन्तर्गत अपभ्रंश साहित्य, सिद्ध साहित्य, नाथ तथा जैन साहित्य का विवेचन किया तथा चारण काल के अन्तर्गत डिंगल काव्य का। किन्तु उन्होंने संधिकालीन प्रवृत्तियों को चारण काल में भी होने का उल्लेख किया है, जिससे यह नामकरण अपने-आप सशंकित हो जाता है। काल-विभाजन में उन्होंने आदिकालीन साहित्य को दो भागों में बाँटकर अपने द्वारा दिए गए नामकरण को अधिक सार्थक सिद्ध करने का प्रयास किया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के प्रथम युग के समय का आरंभ सन् १००० ई. से तथा इसका अन्त सन् १४०० ई. तय करते हुए उसे आदिकाल नाम से अभिहित किया है। उन्होंने अपने नामकरण एवं काल-विभाजन पर तर्क देते हुए लिखा है - "दसवीं शताब्दी की भाषा गद्य में तत्सम शब्दों का व्यवहार बढ़ने लगा था। चौदहवीं शताब्दी तक के साहित्य में इसी प्रवृत्ति की प्रधानता मिलती

है। वस्तुतः छन्द, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोक भाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है।"[26] द्विवेदी जी ने काल-विभाजन और नामकरण के सन्दर्भ में पूर्ववर्ती साहित्येतिहासकारों द्वारा की गई भूलों को सुधारते हुए इस काल की प्रामाणिक एवं अप्रामाणिक रचनाओं को छाँटने का कार्य किया और साथ ही उसकी एक निश्चित परम्परा की ओर भी संकेत किया। इसके लिए उन्होंने लोक साहित्य से लेकर संस्कृत साहित्य तक के सन्दर्भ दिए। यही कारण है कि उनके द्वारा प्रस्तावित आदिकाल का नामकरण आज भी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में प्रचलित है। डॉ.सत्यकाम वर्मा ने 'हिन्दी साहित्यानुशील' में आचार्य द्विवेदी के इस काल-विभाजन एवं नामकरण को यथावत् स्वीकार किया है। केवल उन्होंने इस साहित्येतिहास के काल को 'लोकोन्मुखी साहित्य' कहना बेहतर समझा। इसके विपरित पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'हिन्दी साहित्य : एक ऐतिहासिक समीक्षा' में आदिकाल को 'लौकिक साहित्य' का नाम देते हुए उसे सन् ११०० से १५०० ई. के बीच स्थित किया है।

अपनी नवीन साहित्येतिहास दृष्टि के साथ डॉ.गणपति चन्द्र गुप्त ने हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन एवं नामकरण करने का प्रयास किया। हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (१९६५ ई.) में उन्होंने शालिभद्र सूरि कृत 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' को हिन्दी की पहली रचना मानते हुए, इस काल का आरंभ सन् ११८४ ई. और अन्तिम सीमा १३५० ई. मानते हैं। उनके द्वारा इस काल को दिया गया नाम 'प्रारंभिक काल' ग्रियर्सन द्वारा उपयोग में लाया गया था। इसके अतिरिक्त इस काल-विभाजन एवं नामकरण से न तो युगीन परिस्थितियों का अभिज्ञान होता और न 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' के पूर्व की अपभ्रंश की कृतियाँ इस काल के भीतर आती हैं। डॉ.गणपति चन्द्र गुप्त की तरह ही आचार्य चतुरसेन शास्त्री द्वारा किया गया काल-विभाजन भी ग्रियर्सन और आचार्य शुक्ल के काल-विभाजन एवं नामकरण का मिश्रित रूप है। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने आदिकाल की समय सीमा ८ वीं से १३ वीं शताब्दी मानते हुए इसे 'आरंभिक काल' के नाम से अभिहित किया, जो स्वीकृत नहीं हो सका। इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने आदिकाल के सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल के किए गए नामकरण एवं काल-विभाजन को पूर्णतः स्वीकार कर अपना सहित्येतिहास लिखा।

---

[26]. हिन्दी साहित्य-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ,४३

डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' शीर्षक ग्रंथ आचार्य शुक्ल की मान्यताओं की व्यापक स्तर पर स्वीकृति में लिखा गया है। अतः उन्होंने आदिकाल के सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी दोनों के नामकरण को स्वीकार तो किया, किन्तु उन्होंने अपने विवेचन के क्रम में 'वीरगाथा काल' को ही सिद्ध करने का प्रयास किया है। काल-विभाजन के सन्दर्भ में उन्होंने आचार्य शुक्ल के ही काल-विभाजन को विक्रमी संवत् से ईसा सहस्राब्द में रुपान्तरित करके अपना लिया है। डॉ.बच्चन सिंह न तो आदिकाल नामकरण स्वीकार करते हैं और न वीरगाथा काल। उन्होंने 'दूसरा इतिहास' में दूसरे नाम के फेर में पड़कर आदिकाल को 'अपभ्रंश काल' कहते हुए इसकी पूर्वप्रचलित समय-सीमा सन् १००० से १४०० ई. स्वीकार की है। उन्होंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा दिए गए नाम को 'बाबा आदम के जमाने का' बोध करानेवाला कहा है। वे इस काल की साहित्यिक भाषा को केन्द्र में रखकर नामकरण करने के पक्ष में हैं। इस तर्क को माना जाए तो भक्तिकाल को ब्रज, अवधी आदि; रीतिकाल को ब्रज, आधुनिक काल को खड़ी बोली काल कहा जाना चाहिए, किन्तु ऐसा संभव नहीं है। अतः यह नामकरण एक भ्रम निर्माण करता है और उनके शब्दों 'बाबा आदम' के जमाने का बोध करानेवाला नामकरण ही सर्वस्वीकृत होता है। परवर्ती इतिहासकारों में डॉ. सुमन राजे, डॉ.हरिश्चन्द्र वर्मा ने भी 'आदिकाल' को ही स्वीकार किया है। डॉ.सुमन राजे इस काल की समय सीमा आचार्य शुक्ल की ही तर्ज पर मानती हैं। 'आदिकाल' नामकरण को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने इसे स्त्री साहित्य के सन्दर्भ में इसे 'मध्ययुगीन नवजागरण' की संज्ञा देती हैं। राहुल सांकृत्यायन ने इसके मूल में सिद्धों एवं दरबारी काव्य को मानते हुए इसे 'सिद्ध-सामन्त-युग' कहा। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस काल को 'बीज वपन काल' कहना उचित समझा, क्योंकि उनके अनुसार इस काल में हिन्दी साहित्य का बीज-वपन हुआ था, आरंभ हुआ था।

काल-विभाजन के सन्दर्भ में आदिकाल के आरंभ को लेकर सर्वाधिक विवाद रहे। इसमें हिन्दी भाषा के आरंभ और अपभ्रंश से उसकी भिन्नता को लेकर अधिकांश विवाद रहे। यही कारण है कि कई विद्वानों ने भाषा के आधार पर ही इस काल का नामकरण कर दिया। इस प्रकार हिन्दी के आलोक में देखने पर हिन्दी साहित्येहासों में आदिकाल के सन्दर्भ में किए गए काल-विभाजन एवं नामकरण में आचार्य शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा किए गए प्रयासों को स्वीकार किया जाता रहा है। शुक्ल जी द्वारा किया गया काल-विभाजन अधिकांश रूप में स्वीकृत हुआ, क्योंकि वह अधिक तर्कसंगत

था। इसी क्रम में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा किया गया नामकरण 'आदिकाल' भी अपनी तर्कसंगत परिणति के कारण व्यापक प्रचलित हो गया है।

६.२.२ भक्तिकाल या पूर्व मध्यकाल

यह हिन्दी साहित्येतिहास में एकमात्र ऐसा काल है, जिसके काल-विभाजन और नामकरण के सन्दर्भ में सबसे कम विवाद रहा है। यह अवश्य है कि इसके उद्‌भव एवं विकास और उसकी रीतिकालीन परिणति को लेकर सर्वाधिक विवाद रहे हैं। एक ओर इसकी धार्मिक साहित्य के रूप में विवेचना की जाती रही है तो दूसरी तरफ इसी में सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण के संकेत ढूँढ़े जाते रहे हैं। ऐसे में आदिकालीन वीरगाथात्मक साहित्य के ही बीच इसके बीज मिलते हैं तो दूसरी तरफ साहित्य को ऐहिकता से मोड़कर परलौकिक बनाने में भी इसकी भूमिका को विश्लेषित किया गया है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में सर्वप्रथम ग्रियर्सन ने भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य के स्वर्णयुग के रूप में चिन्हित किया था। उन्होंने इसे १५वीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण युग कहते हुए इसे दो भागों में विभाजित किया था। उन्होंने धार्मिक पुनर्जागरण युग की समय सीमा सन् १४००-१५०० ई. मानी थी। इसके दूसरे भाग को उन्होंने 'भाषा काव्य का स्वर्णयुग' नाम देते हुए उसे १५००-१७०० ई. में व्याप्त माना। लेकिन वे भक्तिकाल को एक आन्दोलन के रूप में पहचानने से चूक गए थे। इसके पश्चात् मिश्रबन्धुओं ने भक्तिकाल को संवत् १४४५ से १६८० के बीच घटित मानते हुए उसे दो भागों में विभाजित करते हैं। उन्होंने पूर्व माध्यमिक काल (संवत् १४४५०१५६० वि.) और प्रौढ़ माध्यमिक काल (१५६१-१६८० वि.) के उप-विभागों में विभाजित किया है। ऐडविन ग्रिब्ज़ ने इस समय के साहित्य को 'रचनात्मक काल' नाम देते हुए उसे सन् १४००-१७०० ई. के मध्य में लिखित मानते हैं। ग्रिब्ज़ ने भी भक्तिकालीन साहित्य को दो उप-विभागों में बाँटा - रचनात्मक काल (१४००-१५८० ई.) और विस्तार काल (१५८०-१७०० ई.)। डॉ. ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु और ऐडविन ग्रिब्ज़ द्वारा किया गया काल-विभाजन और नामकरण तर्कसंगत इसलिए नहीं है कि उन्होंने साहित्यिक प्रवृत्ति की बजाए आँख मूँदकर शताब्दी से शताब्दी तक के साहित्य को कालों में बाँटकर उसका नामकरण प्रस्तुत कर दिया। ग्रियर्सन ने भक्तिकाल के बाद के ही भाग को स्वर्णयुग की संज्ञा दी जबकि आरंभिक साहित्य को छोड़कर भक्तिकाल एक धार्मिक साहित्य मात्र माना जा सकता है। मिश्रबन्धुओं का विभाजन स्पष्टतः रूपवाद की चपेट में आ गया है, क्योंकि शास्त्रीय मानदंडों के अनुसार बाद के ही साहित्य में प्रौढ़ता देखी जा सकती है, किन्तु लोक साहित्य की

दृष्टि से सन्त साहित्य का सौन्दर्य कम नहीं है। ग्रिब्ज़ द्वारा किया गया नामकरण मिश्रबन्धुओं के ठीक विपरित जान पड़ता है। उन्होंने आरंभिक सन्त साहित्य को रचनात्मक कहा, किन्तु बाद के साहित्य को उसका विस्तार मात्र। भक्तिकालीन साहित्य के वैचारिक और रूप पक्ष को ध्यान में रखा जाए तो यह नाम पूर्णतः गलत सिद्ध होता है।

भक्तिकाल के नामकरण एवं काल-विभाजन को लेकर सबसे कम विवाद होने का कारण आचार्य शुक्ल द्वारा इसका किया गया नामकरण एवं काल-विभाजन है। भक्तिकाल को यह नामकरण सबसे पहले देकर उसे तर्कपूर्ण पद्धति से स्थापित करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही जाता है। एक और कारण यह भी है कि भक्ति को देखने के भारतीय परम्परा में कई दृष्टिकोण रहे हैं। जहाँ अन्धभक्ति का विरोध करनेवाले कबीरादि सन्त कवि भी इस कोटि में आते हैं तो भावनात्मक स्तर पर भक्ति को स्वीकार करनेवाले सूर, जायसी, तुलसी भी इसी कोटि में आते हैं। इस काल के तमाम सन्त-भक्त कवियों में किसी-न-किसी स्तर पर भक्ति का तत्व मौजूद रहा है। अतः यह नामकरण निर्विवाद रूप में स्वीकार कर लिया गया है। किन्तु भक्तिकाल के आरंभ को लेकर कई विवाद खड़े हुए हैं, क्योंकि आदिकालीन साहित्य में भी भक्ति कई रूपों में सिद्ध, नाथ एवं विशेष रूप में जैन साहित्य में मौजूद रही है। ऐसे में आचार्य शुक्ल द्वारा भक्ति साहित्य का आरंभ संवत् १३५० विक्रमी में मानना कुछ अटपटा-सा लगता है। इसी प्रकार विद्यापति के भक्ति साहित्य से क्यों न भक्तिकाल का आरंभ माना जाए? क्योंकि विद्यापति को आचार्य शुक्ल ने 'फुटकल खाते' में डाल दिया है। क्या यहाँ भी उन्होंने रीतिकाल की तरह भक्ति की पूर्ण परम्परा का अभाव देखा था? वैसे देखा जाए तो शुक्ल जी विद्यापति की रचनाओं को भक्ति (या शान्त रस) से पूर्ण न मानते हुए उसे श्रृंगार की कोटि में डाल देते हैं। इसी वर्ष से भक्तिकाल का आरंभ मानने में दूसरी समस्या यह है कि आरंभिक सन्त साहित्य में चित्रित भक्ति एवं सिद्ध-नाथों की भक्ति में कैसे अन्तर किया जाए? यदि अन्तर नहीं स्थापित होता है तो भक्तिकाल का आरंभ सन्त साहित्य से ही क्योंकर माना जाए? ऐसे कई प्रश्न भक्तिकाल के आरंभ के लेकर उपस्थित होते हैं। जहाँ तक भक्ति साहित्य के आन्दोलन रूप में स्थापित होने का सवाल है, वहाँ सिद्ध, जैन, नाथ साहित्य में भी आन्दोलन के दर्शन होते हैं। इतना होते हुए भी भक्तिकाल का आरंभ आचार्य शुक्ल द्वारा इस वर्ष से ही माना जाता है। इस वर्ष के सन्दर्भ में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा के बगैर। इसी प्रकार आचार्य शुक्ल ने भक्तिकाल की अन्तिम सीमा और रीतिकाल का आरंभ संवत् १६५० विक्रमी मानी है। इसमें उन्होंने रीतिकाल के आरंभ को अधिक तर्कयुक्त पद्धति से स्थापित करने के कारण इस पर प्रायः प्रश्न उपस्थित नहीं किया जा सकता है।

भक्तिकाल के सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया न केवल काल-विभाजन और नामकरण स्वीकार किया जाता है, अपितु उनके द्वारा किया गया भक्तिकालीन साहित्य का उप-विभाजन भी प्रायः यथावत् अपनाया गया है। उन्होंने भक्तिकालीन साहित्य को आराधना पद्धति एवं आराधक को ध्यान में रखकर पहले निर्गुण-सगुण के दो भागों में विभाजित किया, जिन्हें उन्होंने पुनः प्रत्येक को दो-दो भागों में विभाजत किया । निर्गुण काव्य को ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी शाखा तो सगुण काव्य को कृष्ण भक्ति शाखा और रामभक्ति शाखा। पहली बात तो यह काव्य या साहित्य के विभाजन का आधार ही गलत है। क्योंकि दर्शन या दार्शनिक कोटि के आधार पर साहित्य का विभाजन नहीं किया जाना चाहिए। ऐसे में रामभक्ति शाखा का विस्तार 'साकेत', 'राम की शक्ति पूजा' आदि तक करना पड़ेगा और कृष्णभक्ति का संभवतः 'अंधा युग' या अन्य ऐसी रचनाओं तक किया जा सकता है, क्योंकि इन ग्रंथों की उपजीव्य कथा भी कहीं न कहीं यही प्राचीन मिथक कथाएँ हैं। इसके अतिरिक्त कई विद्वानों ने सिद्ध किया है कि निर्गुण साहित्य पूर्णतः सगुण से मुक्त नहीं है और सगुण साहित्य निर्गुण से। ऐसे में दार्शनिक पद्धतियों को लेकर किया गया यह विभाजन पूर्णतः तो स्वीकार नहीं किया जा सकता है, किन्तु यह इतना प्रचलित हो गया है कि इसके विपरित मत देकर स्थापित करना दुःसाध्य कार्य हो गया है।

बाबू श्यामसुन्दर दास ने भक्तिकाल को पूर्वमध्यकाल, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने 'धार्मिक काल', कहना उचित समझा। पूर्वमध्यकाल एक ऐतिहासिक कोटि है, इससे साहित्यिक प्रवृत्तियों का पता नहीं चलता। धार्मिक काल कहने से भक्ति का भाव जागृत होता है, साहित्यिक मूल्यों का पता नहीं चलता है। धर्म के अतिरिक्त भी इस काल में बहुत कुछ ऐसा लिखा गया, जो साहित्य एवं मूल्य की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि यह नामकरण स्वीकार न हो सके और इनके बाद आनेवाले साहित्येतिहासकार डॉ.रामकुमार वर्मा ने इस काल को पुनः भक्तिकाल नाम देना उचित समझा। डॉ. वर्मा ने भी इसकी समय सीमा सन् १३५०-१७०० ई. मानी। उन्होंने भी लगभग वही तर्क दिए जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दिए थे। भक्ति आन्दोलन के उद्‌भव को लेकर दोनों विद्वानों में मतभेद देखे जा सकते हैं, जिसका विवेचन 'विभिन्न साहित्यिक आन्दोलनों के उद्‌भव एवं विकास सम्बन्धी दृष्टिकोण' बिन्दु के अन्तर्गत आगे किया जाएगा।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, डॉ. बच्चन सिंह आदि विद्वानों ने ५०-६० वर्ष के अन्तर के साथ आचार्य शुक्ल द्वारा निर्दिष्ट भक्तिकाल की समय-सीमा को स्वीकार कर लिया है। नामकरण के सन्दर्भ में भी बात कुछ भिन्न रही है। बच्चन सिंह एवं सुमन

राजे ने ग्रियर्सन की भाँति भक्तिकाल को 'धार्मिक पुनर्जागरण का युग' कहना अधिक पसन्द किया। अतः निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया भक्तिकाल का नामकरण, काल-विभाजन एवं उप-विभाजन एक प्रकार साहित्येतिहासकारों तथा साहित्येधेताओं के बीच व्यापक रूप में स्वीकृत और प्रचलित हो गया है।

६.२.३ रीतिकाल अथवा उत्तरमध्यकाल

भक्तिकालीन साहित्य की अन्तिम समय-सीमा निश्चित हो जाने के कारण रीतिकालीन साहित्य के आरंभ के सन्दर्भ में अधिक मतभेद दिखाई नहीं देते हैं। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास की मृत्यु भी सन् १६५० में हो गई थी। इसी वर्ष से भक्तिकाल की रीतिवादी परिणति दरबारी साहित्य का प्रभाव भी दिखाई देने लगता है। नामकरण के सन्दर्भ में विचार किया जाए तो सर्वप्रथम ग्रियर्सन ने इस काल के साहित्य को 'रीतिकाव्य' नाम देकर उन्होंने इसे दो भागों में विवेचित किया। सन् १५८०-१६९२ ई. के बीच के काव्य को उन्होंने रीतिकाव्य कहा तो सन् १६००-१७०० ई. के अनन्तर आनेवाले काव्य को 'तुलसीदास के अन्य परवर्ती कवि' शीर्षक से विवेचित किया, जिसे दो भागों में बाँटा गया है। यह प्रवृत्तिनुसार विभाजन न होने के कारण तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता है, किन्तु इस नामकरण का प्रभाव आगे आचार्य शुक्ल के नामकरण पर देखा जा सकता है। मिश्रबन्धुओं ने भी रीतिकाल को 'पूर्वालंकृत काल' एवं 'उत्तरालंकृत' काल के विभागों में बाँटकर प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने कवियों के अनुसार उप-विभागों का निर्माण किया। समन्वित रूप में उन्होंने इस काल की समय-सीमा संवत् १६८१-१८८९ विक्रमी तक मानी है। यह दोनों वर्ष किसी भी विशेष घटना अथवा प्रवृत्ति के सूचक न होने के कारण न तो यह नामकरण सही सिद्ध होता है और न समय-सीमा। ऐडविन ग्रिब्ज़ ने इस काल को सन् १७००-१८०० ई. के बीच घटित मानते हुए इसे 'स्थिर काल' नाम देते हैं। साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में देखा जाए तो कोई भी काल स्थिर नहीं होता है। काल के अन्तर्गत ही कई प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं, विकसित होती है। वैसे इस काल में भी कई प्रवृत्तियाँ थी, ऐसे में यह नामकरण अतार्किक सिद्ध हो जाता है।

आचार्य शुक्ल ने रीतिकाल नाम का प्रयोग करते हुए इसकी समय-सीमा संवत् १७०० से १९०० विक्रमी मानी है। इसके बाद उन्होंने इस काल को रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त शीर्षक उप-विभागों में बाँटा। मुख्यतः रसवादी होने के कारण उन्होंने इस काल में श्रृंगार और वीर रसों का आधिक्य देखते हुए इस काल को 'श्रृंगार काल' कहने पर भी कोई आपत्ति नहीं जताई है। जहाँ तक इस काल के उप-

विभाजन का प्रश्न है, डॉ. बच्चन सिंह ने 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में प्रश्न चिन्ह उपस्थित किया है। बच्चन सिंह भी आचार्य शुक्ल की भाँति आचार्य केशवदास से रीतिकाव्य का आरंभ न मानते हुए आचार्य चिन्तामणि को इसका प्रवर्तक मानते हैं, किन्तु उन्होंने इस उप-विभाजन को अस्वीकार कर दिया है। रीतिकाल के अन्तर्गत जहाँ आचार्य शुक्ल ने उसे दो उपविभागों-रीतिग्रंथकार कवि और रीति के अन्य कवि - के रूप में विभाजित किया था, वही डॉ. सिंह भी इसे दो ही उप-विभागों में शीर्षक बदलकर प्रस्तुत करते हैं-बद्ध रीतिकाव्य और मुक्त रीतिकाव्य, में विभाजित करते हैं। इस सन्दर्भ में उनका तर्क है - "रीतिकाल वस्तु, शैली, छन्द, रूप-विधान में भक्तिकाल से भिन्न भूमिका पर खड़ा है। यह अपने आप में स्वतंत्र काल है। इसे उत्तर मध्यकाल कहना गणितीय भ्रमोत्पादन है। शुक्ल जी इसे दो भागों में बाँटते हैं - रीतिग्रंथकार कवि और अन्य कवि। अन्य कवि एक गोल शब्द है। इस कोटि में अर्थ की दृष्टि से हल्के कवि आएँगें। घनानन्द को शुक्ल जी रीतिकाल के सर्वोत्कृष्ट कवियों में मानते हैं। फिर उन्हें अन्य कवियों की बिरादरी में क्यों बैठाया जाता है? यहाँ पर उनकी इतिहास-दृष्टि में खोट दिखाई पड़ती है। प्रवृत्ति की दृष्टि से वे एक को रीतिबद्ध और दूसरे को रीतिमुक्त कहते हैं। इसके आधार पर रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध आदि अवैज्ञानिक उप-विभाजन होते रहे। वास्तविकता तो यह है कि रीतिनिर्मुक्त तो कोई नहीं है। रीतिकाल नाम इसी को लेकर सार्थक होता है। रीतिमुक्त होकर कोई रीतिकालीन कैसे होगा? रीतिबद्ध और रीतिमुक्त को मैंने उलट दिया है। यानि रीतिबद्ध को बद्ध रीति और रीतिमुक्त को मुक्त रीति कहा है। घनआनन्द, ठाकुर, बोधा आदि रीति से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। उनमें रीतितत्व है, पर उसकी बद्धता नहीं है। इस नाम से नैरन्तर्य भी बना रहता है और उसका बदलाव भी।"[27] वैसे साहित्येतिहास की वैज्ञानिक दृष्टि और साहित्यिक दृष्टि से देखा जाए तो यह उप-विभाजन स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि इसमें सर्वथा तर्काधारित दृष्टि के दर्शन होते हैं।

बाबू श्यामसुन्दर दास ने आचार्य शुक्ल के नामकरण में 'काल' के स्थान पर 'युग' का प्रयोग करते हुए उसे काल-विभाजन सहित यथावत् स्वीकार कर लिया है। रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' और हरिऔध ने इसे 'कलाकाल' नाम दिया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ.रामअवध द्विवेदी ने भी आचार्य शुक्ल के नामकरण एवं काल-विभाजन को प्रायः उसी रूप में स्वीकार करते हुए उसे अपने तर्कों द्वारा स्थापित करने का प्रयास किया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'श्रृंगार काल' कहना उचित समझा। वे इस

---

[27].हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, भूमिका-डॉ.बच्चन सिंह, पृ.ix

काल की काव्य भाषा में श्रृंगारिकता का आधिक्य पाते हैं। किन्तु रीतिमुक्त कहे जाने वाले कवि इस नाम से बाहर रह जाते हैं, इस ओर उनकी ध्यान नहीं गया है। वैसे रस को ध्यान में रखा जाए तो वीर रस का काव्य भी इस काल में लिखा गया है। ऐसे में भूषण जैसे कवि भी इस नामकरण से बाहर हो जाते हैं। यह नाम भी अव्याप्ति दोष से युक्त है। डॉ.सत्यकाम वर्मा द्वारा दिया गया नाम 'काव्यविलास' द्विअर्थी मालूम पड़ता है। इसमें विलासी काव्य और काव्य के माध्यम से विलास दोनों अर्थ ध्वनित होते हैं। अतः इसमें से भी रीतिमुक्त कवि बाहर हो जाते हैं। डॉ.गणपति चन्द्र गुप्त ने सम्पूर्ण मध्यकाल का समय सन् १३५०-१८५७ ई. के बीच मानते हुए रीतिकाल का विभाजन के रूप में उसे 'उत्तर मध्यकाल' कहा गया है। उत्तर-मध्यकाल की परम्पराओं के सन्दर्भ में लिखते हुए उन्होंने कहा - "सामान्यतः उत्तर-मध्यकाल के अन्त या आधुनिक काल के आरंभ तक प्रचलित रही है। उन परम्पराओं में मुख्यतः तीन उल्लेखनीय हैं - १.रसिक भक्ति काव्य परम्परा, २. शास्त्रीय मुक्तक काव्य (रीतिकाव्य) परम्परा और ३.स्वच्छन्द काव्य परम्परा। कहना न होगा कि यह तीनों परम्पराएँ क्रमशः धर्माश्रय, राजाश्रय और लोकाश्रय में विकसित हुई थी, जिसमें क्रमशः भक्ति एवं श्रृंगार के विकृत रूपों तथा प्रेम के स्वच्छ रूप के प्रदर्शन होते हैं। वस्तुतः भक्ति, श्रृंगार एवं प्रेम की प्रवृत्तियों का उन्मिलन एवं विकास पूर्व मध्यकाल में ही समुचित रूप में हो चुका था। अतः इस काल के अन्त तक आते-आते उनकी ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रकट होना स्वाभाविक था।"[28]

रामखेलावन पाण्डेय ने रीतिकाल को 'संवर्धन काल' कहते हुए उसकी समय-सीमा सन् १६०१-१८०० ई. मानी और उसमें रीतिकालीन दरबारी एवं लोक साहित्य को विवेचित किया। यह नामकरण अमूर्त और काल-विभाजन शताब्दी से शताब्दी के बीच कर दिया गया है। डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस काल के सन्दर्भ में भी आचार्य शुक्ल का अनुसरण किया है। डॉ.सुमन राजे ने अपने स्त्री दृष्टिकोण के सन्दर्भ में रीतिकाल के अस्तित्व को नकार दिया है। इस काल के सन्दर्भ में भी भक्तिकाल की तरह आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया नामकरण, काल-विभाजन एवं उप-विभाजन प्रायः अधिक स्वीकृत हुआ। इस सन्दर्भ में रीतिकाल के अन्त को लेकर कई विवाद रहे हैं। क्योंकि कई इतिहासकारों ने आधुनिक काल का आरंभ भारतेन्दु हरिश्चंद्र के जन्म वर्ष सन् १८५० से माना है। आधुनिक काल के नामकरण के सन्दर्भ में साहित्येतिहासकारों ने सामाजिक-राजनैतिक इतिहास को ध्यान में रखा किन्तु काल-विभाजन के सन्दर्भ में साहित्यिक व्यक्तित्व को। यह भी स्पष्ट नहीं होता है कि रीतिकालीन प्रवृत्ति का अन्त किसी विशिष्ट

---

[28].हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास-गणपति चन्द्र गुप्त, पृ.४९०

वर्ष मात्र में होता है। हिन्दी आलोचना एवं साहित्येतिहास लेखन में बिहारी देव विवाद के माध्यम से रीतिकालीन साहित्य संस्कार छायावादी समय तक सक्रिय दिखाई देते हैं। ऐसे में रीतिकालीन साहित्य के अन्त की घोषणा इतनी सरलता से नहीं की जा सकती है। उसके लिए साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं सामाजिक-राजनीतिक इतिहास की किसी विशिष्ट घटना के बीच संयोजन बैठाना अनिवार्य हो जाता है।

६.२.४ आधुनिक काल

हिन्दी साहित्येतिहास में रीतिकाल की अन्तिम सीमा और आधुनिक काल के आरंभ को लेकर अभी तक स्पष्टता देखने को नहीं मिलती है। अधिकांश आलोचकों और साहित्येतिहासकारों ने इस बात को माना है कि हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का आरंभ सन् १८५० ई. से अर्थात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जन्म वर्ष से होता है। मध्यकालीन मानसिकता से आधुनिक चेतना में हिन्दी समाज एवं साहित्य ने किस प्रकार प्रवेश किया? इसका उत्तर देते समय अधिकांश साहित्येतिहासकारों ने पाश्चात्य शिक्षा, विभिन्न सामाजिक संगठनों, प्रेस (छाप खानों) का भारत में प्रचार, पत्रकारिता के माध्यम से होनेवाले समाज सुधारक विचारों का प्रचार-प्रसार, यातायात के साधनों आदि का विश्लेषण किया है। इस पर ऐतिहासिक तिथियों के माध्यम से ध्यान दिया जाए तो हिन्दी ही नहीं भारतीय साहित्य में आधुनिकता के प्रवेश की तिथि बहुत पीछे जाती है। सन् १८२७-३० ई. के आस-पास महात्मा फुले कार्यरत थे, उधर बंगाल में राजाराम मोहन राय भी आधुनिक चेतना को प्रसारित करके समाज सुधार का कार्य कर रहे थे। ऐसे में यह माना जा सकता है कि भारत में आधुनिक चेतना का प्रसार बहुत पहले से हो रहा था, जो स्वाभाविक रूप में उन्हीं कारणों से था, जिसे हिन्दी साहित्येतिहासकार गिनाते हैं। इतिहास के किसी भी तथ्य से देखा जाए तो हिन्दी साहित्येतिहास में सन् १८५० ई. से आधुनिकता का आरंभ मानना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। यह सही है कि इस वर्ष भारतेन्दु हरिश्चंद्र का जन्म हुआ था, किन्तु उनका साहित्य तो १८६२-६३ के आस-पास आना आरंभ हुआ था।

मिश्रबन्धुओं ने आधुनिक काल का आरंभ संवत् १९२६ (सन् १८६९ ई.) से मानते हुए उसे संवत् १९४५ विक्रमी तक व्याप्त माना है। इसे उन्होंने 'वर्तमान प्रकरण' के अन्तर्गत विवेचित किया है। किन्तु उन्होंने इससे पूर्व रीतिकाल एवं आधुनिक काल के बीच संवत् १८९० से १९२५ मध्य 'परिवर्तन काल' नामक कोटि से मध्ययुगीनता एवं आधुनिकता के बीच की संक्रमण अवस्था की ओर संकेत किया है। इन्होंने आधुनिक काल को 'वर्तमान हिन्दी पत्र पत्रिकाएँ', 'पूर्व हरिश्चन्द्र काल' और 'उत्तर हरिश्चन्द्र

काल' की उप-प्रकरणों में विभाजित किया। इन्हीं की तरह डॉ.ग्रियर्सन ने भी सन् १८०० से १८५७ ई. के बीच के काल को 'कंपनी के शासन में हिन्दुस्तान' नाम से अभिहित करते हुए हिन्दी में आधुनिकता का प्रवेश १८५७ ई. से माना है। उन्होंने अपने इस प्रकरण को 'महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान' नाम दिया है, जिसे उन्होंने १८८७ ई. तक माना है, जो उनका समकाल भी है। शासकों के शासन काल के अनुसार साहित्य में काल-विभाजन करने की अंग्रेजी साहित्य की परिपाटी के अनुसार उन्होंने हिन्दी साहित्येतिहास में भी काल-विभाजन एवं नामकरण करने का प्रयास किया। इससे एक सकारात्मक बात यह निकलकर आती है कि उनके द्वारा कंपनी के शासन काल में लिखे गए साहित्य को मध्ययुगीनता से आधुनिकता का संक्रमण काल माना जा सकता है, ठीक वैसे ही जैसे आदिकालीन साहित्य से भक्तिकालीन साहित्य की ओर बढ़ते हुए आचार्य शुक्ल द्वारा खोला गया 'फुटकल खाता'।

हिन्दी साहित्येतिहास में आधुनिक काल को सर्वप्रथम सबसे अधिक सकारात्मक नामकरण करने का श्रेय ऐडविन ग्रिब्ज़ को दिया जाना चाहिए। सर्वप्रथम उन्होंने ही इस युग में चल रहे सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों एवं उससे निःसृत साहित्य को पहचानते हुए इस काल के साहित्यिक दौर का 'पुनर्जागरण और परिवर्तन काल' नामकरण किया, जिसे वे सन् १८०० ई. से वर्तमान काल तक परिव्याप्त मानते हैं। वर्तमान काल तक अर्थात् सन् १९१८ ई. तक, जिस वर्ष इनका इतिहास प्रकाशित हुआ था। अर्थात् ग्रिब्ज़ के नामकरण एवं काल-विभाजन में भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग दोनों समाविष्ट हैं, जिसे उन्होंने एकदम सही नाम दिया है। इन्होंने पुनर्जागरण और परिवर्तन को लक्षित करके अपने साहित्य का नामकरण किया, जो स्वीकार किया जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने समय तक के साहित्य को कई विभागों-उप-विभागों में विभाजित किया। उन्होंने हिन्दी साहित्य आधुनिकता का आरंभ संवत् १९०० विक्रमी (लगभग सन् १८५० ई.) से माना है। उनके द्वारा आधुनिक काल का नामकरण, काल-विभाजन एवं उसका उप-विभाजन इस प्रकार है -

१) आधुनिक काल : गद्य खण्ड (संवत् १९००-१९८० विक्रमी तक)

१) प्रकरण १ : गद्य का विकास

२) प्रकरण २ : गद्य साहित्य का अविर्भाव

३) आधुनिक गद्य साहित्य : परम्परा का प्रवर्तन - प्रथम उत्थान (सं १९२५-१९५० वि.)

४) गद्य साहित्य का प्रसार : द्वितीय उत्थान (सं. १९५०-१९७५ वि.)

५) गद्य साहित्य की वर्तमान गति : तृतीय उत्थान (सं.१९७५ से ...)

२) आधुनिक काल : काव्य खण्ड (सं.१९०० से -)

१) पुरानी धारा (सं.१९००-१९२५ वि.)

२) नई धारा : प्रथम उत्थान (सं.१९२५-१९५०)

३) नई धारा : द्वितीय उत्थान (सं.१९५०-१९७५)

४) नई धारा : तृतीय उत्थान (सं. १९७५ से -)

आचार्य शुक्ल द्वारा किए गए इस काल-विभाजन, उप-विभाजन एवं नामकरण पर कई आपत्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं। सबसे पहले तो एक ही काल के भीतर गद्य और पद्य को अलग-अलग रखा गया है। दूसरी बात काल-विभाजन को लेकर है, जिसके तहत सन् १८५० ई. से आधुनिकता का आरंभ माना गया, जैसाकि कहा गया, इस वर्ष से आधुनिकता का आरंभ मानने का कोई तर्क नहीं बनता है। इसके अतिरिक्त वे अपनी समकालीन काव्यधारा, हिन्दी गद्य की विभिन्न विधाओं की धाराओं का न तो काल-विभाजन कर पाए थे और न ही उनका नामकरण ही कर पाए थे। उन्होंने अपने हिन्दी साहित्येतिहास में भारतेन्दु, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि का महत्व तो सही आँकते हैं, किन्तु उनके नाम पर उनके युगों का नामकरण नहीं करते हैं। इसके अतिरिक्त यदि उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चंद्र के जन्म को केन्द्र में रखकर आधुनिक काल का आरंभ सन् १८५० ई. से माना था तो उन्होंने उन्हें ही केन्द्र में रखकर इस युग का नामकरण क्यों नहीं किया? आचार्य शुक्ल द्वारा किए गए इस नामकरण पर डॉ.बच्चन सिंह ने टिप्पणी करते हुए सही लिखा है, उनके अनुसार - "ये दोनों खण्ड इस तरह असमंजस्यपूर्ण और विच्छिन्न हैं मानों गद्य की रचनाएँ एक काल में लिखी गई और काव्य साहित्य किसी अन्य काल में लिखा गया।"[29] इसी ओर संकेत करते हुए डॉ.रमेश चन्द्र ने लिखा है - "आधुनिक काल को आचार्य शुक्ल जी ने गद्य तथा पद्य दो स्पष्ट खण्डों में बाँटकर प्रत्येक खण्ड को विभिन्न उत्थानों में वर्गीकृत किया है। ये उत्थान आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास के ढाँचे में कहीं भी फिट नहीं बैठते तथा अलग से जुड़े हुए लगते हैं। उत्थानों के अनुकूल वर्णन न करने से गद्य साहित्य में विभिन्न विधाओं की जानकारी नहीं मिल पाती।"[30] यद्यपि

---

[29].डॉ.बच्चन सिंह, हिमप्रस्त, मार्च-अप्रैल १९७५, पृ.१०

[30].हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल विभाजन एवं नामकरण – रमेश चन्द्र गुप्त, पृ.१६७

आचार्य शुक्ल ने छायावाद नामकरण का उल्लेख किया है, किन्तु उसका काल निश्चित तौर पर उन्होंने भी तय नहीं किया था, किन्तु १९२० के आस-पास ऐसी रचनाओं के प्रकाश में आने का उल्लेख किया था। इसके अतिरिक्त गद्य साहित्य में किसी भी परिवर्तन की सूचना उन्होंने नामकरण में नहीं दी है, जबकि भारतेन्दु युगीन उपन्यासों से भिन्न उपन्यास एवं कहानी लेखन उनके समय में प्रेमचन्द, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, जयशंकर प्रसाद, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह आदि प्रस्तुत कर चुके थे। नाटकों में भी जयशंकर प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी आदि ने युगप्रवर्तक कार्य किया था। आचार्य शुक्ल इनके कार्य को तो रेखांकित करते हैं, किन्तु इनकी युगान्तरकारी भूमिका को रेखांकित कर साहित्य का काल-विभाग एवं नामकरण प्रस्तुत नहीं करते हैं। अतः यहाँ तक के साहित्य का विवेचन करके आचार्य शुक्ल का साहित्येतिहास थम जाता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास' (१९५२) में इस काल-खण्ड का 'आधुनिक काल' नामकरण करते हुए इसे छः उप-विभागों में विभाजित किया -१.गद्य युग, २.परिमार्जित भाषा और साहित्य का आरंभ, ३.भारतेन्दु का उदय और प्रभाव, ४.साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल, ५.छायावाद और ६.प्रगतिवाद। सर्वप्रथम बात तो यह है कि उप-विभाग अपने-आप में स्वतंत्र काल या साहित्यिक आन्दोलन हैं। सन् १९५२ ई. तक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी को इस बात को समझ जाना चाहिए था। इसके अतिरिक्त बाद के समय में भी गद्य साहित्य लिखा जाता रहा है, किन्तु उन्होंने पहले काल का नामकरण ही गद्य काल किया और बाद के अन्य कालों का नामकरण काव्य साहित्य के आधार पर कर दिया है। उनके समकालीन उपन्यासकारों, नाटककारों, निबंधकारों आदि का भी समावेश इस नामकरण में नहीं हो पाता है। इसलिए उनके द्वारा प्रस्तावित आरंभिक चार नामों को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। छायावाद नामकरण की चर्चा आचार्य शुक्ल ने और उनसे भी पूर्व मुकुटधर पाण्डेय ने इस नाम की काफी मात्रा में चर्चा की थी, अतः इसमें भी कोई नवीनता नहीं थी। वैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रगतिवाद और प्रगतिशील में अन्तर करते हैं और दोनों का अस्तित्व हिन्दी साहित्य में मानते हैं, फिर वे प्रगतिशील काव्य को नज़रअन्दाज़ कर इस काव्यधारा का नामकरण प्रगतिवाद ही क्योंकर कर रहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर उनके उपरोक्त नामकरण में नहीं मिल पाता है। इसके अतिरिक्त इस युग में लिखा जा रहा सम्पूर्ण काव्येत्तर साहित्य इसकी सीमा से बाहर ही रह जाता है। अतः इनके द्वारा किया गया नामकरण भी अधिक स्वीकृत नहीं हो पाता है।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा किए गए नामकरण एवं काल-विभाजन में भी यही त्रुटियाँ देखने को मिलती हैं। उन्होंने, "ब्रिटिश काल (१८०० से १९४७...स्वतंत्रता काल/यथार्थवादी काल (१९४७ से --)"31 को आधुनिक साहित्य में समेट दिया है। गणपति चन्द्र गुप्त ने आधुनिक साहित्य के उप-विभाजन में भारतेन्दु मंडल, द्विवेदी मंडल, छायावादी काव्य परम्परा, प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी काव्य परम्परा, नवगीत, साठोत्तरी काव्य आन्दोलन शीर्षकों का प्रयोग किया। इसके बाद उन्होंने नाटक, आलोचना, निबंध, एकांकी, उपन्यास, आत्मकथा आदि गद्य विधाओं का अलग से विकास-क्रम दिखाया गया है। अतः इस नामकरण में भी गद्य साहित्य को ध्यान में नहीं रखा गया है, किन्तु काव्य साहित्य के सन्दर्भ में इस नामकरण में नवीनता न होते हुए भी स्वीकार किया जा सकता है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने भी प्रायः इसी नामकरण को स्वीकार किया है। डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी आधुनिक साहित्य के काल-विभाजन एवं नामकरण के सन्दर्भ में चूक जाते हैं। उन्होंने आधुनिक साहित्य का आरंभ सन् १८५० ई. से मानते हुए छायावाद तक के साहित्य का पूर्वप्रचलित नामकरण ही स्वीकार करते हैं तथा छायावाद के बाद के साहित्य को 'उत्तर-छायावादी काव्य', 'प्रगतिवाद', 'कथा साहित्य : प्रेमचन्द के बाद', 'प्रसादोत्तर नाटक' 'शुक्लोत्तर आलोचना', और 'नई कविता-नवलेखन युग' आदि रूपों में विभाजित किया है। स्पष्टतः इनके नामकरण एवं काल-विभाजन में इनके प्रिय कवि अज्ञेय द्वारा चलाए गए 'प्रयोगवादी' काव्यान्दोलन को कोई स्थान नहीं मिल पाया। इसके अतिरिक्त इन्होंने भी आचार्य शुक्ल की भाँति गद्य और पद्य साहित्य को भिन्न-भिन्न रूपों में विभाजित कर प्रस्तुत किया।

इस प्रकार हिन्दी साहित्येतिहासों में काल-विभाजन एवं नामकरण का विकास होता आया है। सारांश रूप में कहा जाए तो प्रायः प्रत्येक साहित्येतिहासकार अपने समकालीन साहित्य का नामकरण एवं कालों में विभाजन करने में अक्षम रहा है। इसके अतिरिक्त अधिकांश काल-विभाजन एवं नामकरण के केन्द्र में काव्य-साहित्य ही रहा है। गद्य साहित्य को केन्द्र में रखकर साहित्य में न तो काल-विभाजन प्रचलित हो पाया है और न ही नामकरण ही। अभी तक एक भी इतिहास ग्रंथ में गद्य एवं पद्य साहित्य में सन्तुलन स्थापित करते हुए नामकरण एवं काल-विभाजन करने में किसी भी साहित्येतिहासकार को सफलता नहीं मिल पायी है। रीतिकाल तक के साहित्य के सन्दर्भ में काल विभाजन को लेकर आचार्य शुक्ल की दृष्टि को पूर्णतः माना जा सकता है। हिन्दी साहित्य में सन् १८५७ ई. से आधुनिक साहित्य का

---

[31].हिन्दी साहित्य का इतिहास-लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ.६-७

आरंभ मानना अधिक तर्कसंगत लगता है, जैसा कि बच्चन सिंह ने सुझाया था। भारतेन्दु युग को पर्याय रूप में 'पुनर्जागरण और परिवर्तन काल' भी कहा जा सकता है, जैसाकि ऐडविन ग्रिब्ज़ ने कहा था। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता आदि नामकरणों एवं उनके आरंभिक वर्षों को लेकर अधिक विवाद नहीं हैं। छायावाद के प्रथम कवि प्रसाद, पंत, निराला में से कौन हैं, इस विवाद को भूलकर सन् १९१८ ई. में 'झरना' के प्रकाशन से छायावाद का आरंभ माना जाना चाहिए। सन् १९३६ ई. में हुए प्रगतिशील साहित्य सम्मेलन से हिन्दी में प्रगतिवाद का आरंभ माना जाए तो बेहतर होगा। वैसे प्रगतिवादी आन्दोलन अपनी प्रौढ़ता में समकालीन साहित्य तक मौजूद है, किन्तु सन् १९४३ ई. में प्रकाशित 'तारसप्तक' से प्रयोगवाद का आरंभ माना जाए। इसके बाद कई काव्यान्दोलन कुकुरमुत्ते की तरह उगते हुए दिखाई देते हैं, इनका भी समुचित मूल्यांकन हिन्दी साहित्येतिहास के अन्तर्गत किया जाना चाहिए किन्तु उनकी प्रवृतियाँ तय करके नामकरण अथवा काल-विभाजन नहीं किया जा सकता है। इधर के समय में हिन्दी आलोचना में साठोत्तरी कविता, सत्तर के दशक के बाद का हिन्दी साहित्य, अन्तिम दशक की हिन्दी कविता आदि नाम प्रचलित हो चले हैं। समकालीनता नामकरण साहित्य की अमापता की ओर इशारा करता है, किन्तु यह नामकरण स्वयं किसी भी साहित्यिक प्रवृत्ति की ओर इशारा नहीं करते हैं। विमर्शों के चलते समाज की तरह साहित्य को भी बाँटकर उन्हें आदिवासी, दलित, स्त्री आदि आदि कोटियों में विभाजित किया जा रहा है, जो किसी भी कोण से सही नहीं कहा जा सकता है। साहित्य तो मानवीय विभाजन के विरुद्ध है और उसे ही विभाजन का शिकार बनाना गलत है। विमर्शों का स्वागत है, किन्तु साहित्य के विभाजन को साहित्येतिहास में स्थान देने से यह अगली पीढ़ी में विभाजनवादी मानसिकता को जन्म दे सकते हैं।

६.३ विभिन्न साहित्यिक आन्दोलनों के उद्‌भव एवं विकास सम्बन्धी दृष्टिकोण

हिन्दी साहित्य में मध्यकाल तक आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल में भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि रचना-युगों एवं आन्दोलनों के माध्यम से विकास होता आया है। यह नामकरण युगीन परिस्थितियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त मुख्य साहित्यिक व्यक्तित्वों एवं विचारधाराओं को ध्यान में रखकर किए गए हैं। भक्तिकाल, भारतेन्दु युग, छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद साहित्यिक सामाजिक आन्दोलन के रूप में उपस्थित होते हैं। इसी

के साथ रीतिकाल भी एक सामूहिक चेतना के साथ विकसित होता है, जहाँ रचनाओं में अधिकांश एक जैसी प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती है, अपनी विविधता के साथ। द्विवेदी युग में भी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के माध्यम से साहित्यकारों का समूह सा बन गया था, जैसा भारतेन्दु युग में भारतेन्दु हरिश्चंद्र को केन्द्र में रखकर 'भारतेन्दु मंडल' बना था। द्विवेदी युगीन रचनाकार भी 'महावीर' के प्रसाद से रचना प्रवृत्त होने की बात को मानते हैं। छायावाद अपने सांस्कृतिक चेतना में सारे छायावादी कवियों में अपने विविध रूपों में मौजूद दिखाई देता है। प्रगतिवाद विशिष्ट विचारधारा के तहत साहित्यकारों का रचनात्मक समूह था। प्रयोगवाद का आरंभ ही काव्य-संकलन के सम्पादन से आरंभ हुआ था, जिसके मूल में इकट्ठा होने का ही भाव था।

जैसे-जैसे हिन्दी साहित्येतिहास लेखन आगे बढ़ता गया, उसमें प्रौढ़ता आती गई, उसने साहित्यिक आन्दोलनों के सम्बन्ध में, उनके उद्‌भव के सम्बन्ध में, उनके विकास और एक आन्दोलन से दूसरे आन्दोलन में परिवर्तित होने के सन्दर्भ में विभिन्न पद्धतियों से सोचना-समझना आरंभ कर दिया। इस सम्बन्ध में सबसे पहला विवाद भक्ति आन्दोलन के उद्‌भव को लेकर उपस्थित हुआ, जो साहित्य की नहीं, समाज-विज्ञानों तक में चर्चा का विषय रहा। डॉ.ग्रियर्सन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी भक्तिकाल के उद्‌भव के कारणों, उसके विकास एवं उसकी रीतिकालीन परिणति की व्याख्या करनेवालों में सर्वप्रथम साहित्येतिहासकारों में से हैं। डॉ.ग्रियर्सन भक्तिकाल के उद्‌भव को ईसाई प्रभाव मानते हैं। आचार्य शुक्ल ने उसे ईस्लामी आक्रमण से जोड़ा तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे भारतीय परम्परा का सहज विकास बताया। इन विद्वानों ने न केवल अपने मत प्रस्तुत किए अपितु उन्हें व्यापक स्थापना का रूप देते हुए इस सन्दर्भ में उन्होंने तर्क भी प्रस्तुत किए। डॉ.ग्रियर्सन के तर्क ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित न होने के कारण स्वीकृत न हो सके, जिसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निराधार सिद्ध किया है। साहित्येतिहास में इस सन्दर्भ में मुख्य रूप से आचार्य शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यताओं में टकराहट देखी जा सकती है। आचार्य शुक्ल इसे विदेशी आक्रमण का प्रभाव मानते हैं तो आचार्य द्विवेदी देशी परम्परा का स्वतः स्फूर्त विकास। इस सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल ने 'भक्ति द्रविड़ी उपजी, लाए रामानन्द' को वैदुष्य स्तर पर स्वीकृति प्रदान करते हुए लिखते हैं - "भक्ति का सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य

पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।"[32] आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रत्येक मान्यता के पीछे तर्क के रूप में अन्य मान्यता प्रस्तुत कर दी है। उन्होंने मध्यकालीन कई स्रोतों से अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिए काफी तर्क जुटाए। उन्होंने 'देश म्लेच्छाक्रान्तातु' को भी अपनी मान्यता का आधार बनाया, और इसे तत्कालीन जनता की पराजित मानसिकता से जोड़ते हुए प्रसिद्ध वाक्य कहा जिसमें वे कहते हैं - " अपनी पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[33] इस प्रकार उन्होंने दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन का उद्‌भव वैष्णव भक्तों में दिखाते हुए उसे स्थापित होने के लिए मुसलमान आक्रमण को उत्तर भारत में उसे स्थापित होने के लिए परिस्थिति निर्माण में सहायक माना था, न कि भक्ति आन्दोलन के उद्‌भव का कारण। भक्ति आन्दोलन का उद्‌भव तो वे परम्परा के रूप में दक्षिण से ही मानते हैं।

आचार्य शुक्ल की इन मान्यताओं को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने तर्कों के आधार पर निराधार सिद्ध करने का प्रयास किया। उन्होंने इसे विदेशी आक्रमण प्रभाव मानने से इन्कार करते हुए आचार्य शुक्ल की मान्यताओं की 'मिसरिडिंग' की। आचार्य शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन के फैलाव एवं विकास के लिए उत्तर भारत में परिस्थितियों के निर्माण के रूप में ईस्लामी आक्रमण एवं उससे निर्मित मानसिकता को कारण माना था, जबकि आचार्य शुक्ल की मान्यताओं को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भक्ति आन्दोलन के उद्‌भव सन्दर्भ में देखते हैं, जबकि आचार्य शुक्ल भक्ति आन्दोलन का उद्‌भव दक्षिण भारत में ही मानते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता थी - "बौद्ध तत्व वाद, जो निश्चय ही बौद्ध आचार्यों की चिन्ता की देन था, मध्ययुग के हिन्दी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित पदचिन्ह छोड़ गया है, जिसे 'सन्त साहित्य' नाम दिया गया है।...मैं जो कहना चाहता था वह यह है कि बौद्ध धर्म क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिन्ह हम हिन्दी साहित्य में पाते हैं।"[34]

यदि गौर से देखा जाए तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश साहित्य के माध्यम से बौद्ध धर्म की देन को सन्त साहित्य में रेखांकित किया है। आचार्य शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यताओं में देखा जानेवाला अन्तर केवल मात्रात्मक है, उसमें

---

[32]. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.५४

[33]. वही, पृ.६३

[34]. हिन्दी साहित्य की भूमिका-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.१-१०

मूलभूत रूप में अधिक अन्तर नहीं है। स्थापनाओं को प्रस्तुत करने के ढंग के अतिरिक्त। आगे हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में इन्हें दो पक्ष मानकर विवेचित-विश्लेषित करने और स्थापित करने का प्रयास किया गया है, जबकि दोनों में बहुत अधिक अन्तर नहीं है। इसमें निहित एकता की ओर बाद में डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास'[35] में साधार विस्तृत रूप में प्रकाश डाला है।

इन दोनों मान्यताओं में व्याप्त मूलभूत अन्तर्विरोधों को लक्ष्य करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "कुछ लोक भक्ति आन्दोलन को मुसलमान शासन की प्रतिक्रिया समझते हैं तो कुछ दूसरे उस पर इस्लाम का अत्यन्त सीमित प्रभाव मानते हैं। जो लोग भक्ति आन्दोलन को लोक जागरण और जन संस्कृति की अभिव्यक्ति कहते हैं वे भी लोक जीवन और जन संस्कृति के भीतर इस्लाम के सामाजिक या सांस्कृतिक प्रभावों को अस्वीकार नहीं करते, लेकिन आश्चर्य की बात ऐसा सभी आलोचक भक्तिकाल में उन प्रभावों की उपेक्षा करते हैं।"[36]

डॉ.बच्चन सिंह ने भक्ति आन्दोलन को तत्कालीन परिस्थितियों की उपज मानते हैं। उन्होंने लिखा है - "ये सभी आन्दोलन तत्कालीन परिस्थितियों की देन हैं। सामाजिक दृष्टि से देखने पर कबीरादि सन्तों और सूफियों के भक्ति आन्दोलनों को प्रतिवादात्मक (प्रोटेस्टेंट) और कृष्ण राम भक्ति आन्दोलनों को प्रतिरोधात्मक या यथास्थितिवादात्मक (रेजिस्टेंट) आन्दोलन कह सकते हैं। पहले आन्दोलन का स्वर शोषित-पीड़ितों का स्वर है तो दूसरे का मुख्य रूप से रामभक्ति का आन्दोलन का स्वर यथास्थितिवाद का है। पहले आन्दोलन की सीमा उसका रहस्यवाद है तो दूसरे की ब्राह्मणवाद।"[37] कुछ इसी प्रकार का मत डॉ.सुमन राजे ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' में दिया है - "सम्पूर्ण भक्ति कालीन नवजागरण लोक चेतना की जागृति का परिणाम था। इसका सर्वप्रथम संकेत सिद्धों एवं जैनों की रचनाओं में मिलता है। महायान का सारा आन्दोलन ही लोकपरक था। उनके बाद नाथों और सन्तों में इस परम्परा का विकास हुआ। सगुण भक्ति काव्य में एक भिन्न स्तर पर यही लोक चेतना प्रस्फुटित हुई। ...इस लोक चेतना का सम्बन्ध एक ओर पौराणिक चेतना से है तो दूसरी ओर युगीन चेतना से।"[38]

---

[35]. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.३०-३७

[36]. भक्ति आन्दोलन और सूर का काव्य-मैनेजर पाण्डेय, पृ.२३

[37]. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास-डॉ.बच्चन सिंह, पृ.८०-८१

[38]. हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास-डॉ.सुमन राजे, पृ.१२२

भक्ति आन्दोलन के उद्‌भव सम्बन्धी हिन्दी साहित्येतिहासों में जिस विकासात्मक दृष्टि की विवेचना की गई है, उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता। प्रत्येक दृष्टि किसी-न-किसी अंग को अनदेखा करती है अथवा अपने पूर्ववर्ती इतिहासकार की दृष्टि की पुनरावृत्ति करती है। इस सन्दर्भ में यह कहना अनुचित न होगा कि भक्ति आन्दोलन के सन्दर्भ में हिन्दी साहित्येतिहासों में दी गई स्थापनाएँ तब तक अपूर्ण है, जब तक कि उनमें समाज विज्ञान एवं साहित्येतिहासकारों के अतिरिक्त आलोचकों द्वारा दी गई मान्यताओं के साथ न पढ़ा जाए। इस सन्दर्भ में मुक्तिबोध, डॉ.रामविलास शर्मा, डॉ.प्रेमशंकर, डॉ.ताराचन्द, इरफान हबीब आदि की मान्यताओं को भी आचार्य शुक्ल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यताओं के साथ रखकर एक पूर्ण चित्र का निर्माण किया जा सकता है।

भक्तिकाल का रीतिकाल में रुपान्तरण को या रीतिकाल के उद्‌भव को लेकर भी हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने अपने विभिन्न मत प्रकट किए हैं। जहाँ भक्तिकालीन काव्य पारलौकिकता की बात करता है, वह अपने लौकिक जीवन को भी पारलौकिक पात्रों, मिथकों आदि के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, वहीं इसके ठीक विपरित रीतिकालीन काव्य मिथकों, मिथकीय पात्रों आदि का भी लौकिकीकरण करता हुआ देखा जा सकता है। डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि साहित्येतिहासकारों ने भक्तिकालीन कृष्ण काव्य एवं भक्तिकाल के उत्तर में लिखे जा रहे काव्य रीतिकाल के पदचिन्ह खोजने का प्रयास किया। डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार, "भक्ति और श्रृंगार की विभाजक रेखा सूक्ष्म है। भक्ति की अनुभूतिक की सघनता को व्यक्त करने के लिए बहुत बार राधा-कृष्ण के चरित्र, और दाम्पत्य जीवन के विविध प्रतीकों का सहारा लिया गया। कबीर जैसे बीहड़ प्रकृति के कवि भाव विभोर होकर कहते हैं - 'हरि मोरा पीउ मैं हरि की बहुरिया'। भक्ति सम्बन्ध की निकटता को व्यक्त करने के लिए तुलसी जैसे मर्यादा प्रिय कवि को भी रामचरितमानस् का प्रबन्ध सम्पन्न करते हुए एकदम अन्तिम दोहे में, सबकुछ कह लेने के बाद 'कामिहि नारि पिआरि जिमि' जैसी उपमा ही सुझी। कालान्तर में राधा-कृष्ण के चरित्र अपने रूप में हट गए और वे महज दाम्पत्य जीवन के प्रतीक रूप में अवशिष्ट रह गए। प्रेम और भक्ति की सम्पृक्त अनुभूति में से भक्ति क्रमशः क्षीण पड़ती गई, और प्रेम का श्रृंगारिक रूप केन्द्र में आ गया। भक्तिकाल के रीतिकाव्य में रूपान्तरण की यही प्रक्रिया है।"[39]

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में रीतिकाल का आरंभ आचार्य चिन्तामणि से माना था, किन्तु उन्होंने रीति निरुपण करनेवाले पहले कवि के रूप में आचार्य केशवदास का नाम लिया था। इसके लिए उन्होंने

---

[39]. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.५६

क्रम-बद्ध परम्परा को ध्यान में रखते हुए सन् १६४३ में लिखित चिन्तामणि त्रिपाठी के ग्रंथों से इसकी शुरुआत मानी है। ध्यान देने की बात है कि जहाँ आचार्य शुक्ल रीति निरुपण अर्थात संस्कृत काव्यशास्त्र की पुरानी परिपाटी पर लिखित ग्रंथों के आधार पर इसका नामकरण करते हुए इसका आरंभ मानते हैं, वहीं रामस्वरूप चतुर्वेदी मात्र इसे श्रृंगारिकता से जोड़ते हुए कृष्णभक्ति काव्यधारा से नत्थी कर देते हैं। अधिकांश परवर्ती विद्वानों ने चिन्तामणि त्रिपाठी से आचार्य शुक्ल के तर्कों के सहारे ही रीतिकाल का आरंभ माना, किन्तु प्रायः सभी ने अपने-अपने तर्क दिए हैं। किसी ने इस काल में राज्य स्थिर हो जाने के कारण दरबारी कवियों द्वारा राजाओं-राजदरबारियों के मनोरंजन में लिखित काव्य के आधार पर इसका मूल्यांकन किया तो, किसी ने राज्यों के आपस में युद्धों के कारण इस काल में भूषण जैसे कवियों द्वारा वीर रस का काव्य लिखे जाने की बात को ध्यान में रखकर इसका आरंभ माना है। कुल मिलाकर रसों के आधार पर ही भक्तिकाल से रीतिकाल को अलगाते हुए इसका आरंभ मानने की परिपाटी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में देखी जा सकती है, जिसकी सशक्त अभिव्यक्ति एक स्वर में पहली बार चिन्तामणि त्रिपाठी से होने की बात को गाहे-बगाहे प्रायः सभी इतिहासकारों ने स्वीकार की है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में भक्तिकाल के उद्भव के पश्चात यदि सबसे अधिक विवाद रहे हैं, तो वे हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के प्रवेश को लेकर रहे हैं। एक तो यह काल हिन्दी साहित्य में उपन्यास, कहानी, नाटक, समालोचना, साहित्यिक पत्रकारिता, निबंध आदि कई विधाओं के प्रवेश का काल रहा है। दूसरी ओर हिन्दी नवजागरण एवं बांग्ला नवजागरण में कम-से-कम ५० से अधिक वर्षों के अन्तर को रेखांकित किया जा सकता है। ऐसे में बांग्ला नवजागरण के देखा-देखी हिन्दी नवजागरण को भी पीछे ले जाकर उसकी हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति को दिखाए जाने के प्रयास हुए हैं। आधुनिक काल मध्ययुगीनता से ही मुक्ति का पर्याय नहीं है, बल्कि इसके सहारे हिन्दी का प्रथम आधुनिक कवि या कि रचनाकार भी तय होना है। ऐसे में यह विवाद अधिक तूल पकड़ लेता है। प्रत्येक विधा के सन्दर्भ में और उसके आरंभकर्ता के सन्दर्भ में भी विवाद हो सकते हैं और हैं। आधुनिकता के प्रवेश के कारणों पर भी कई साहित्येतिहासकारों ने अलग-अलग दृष्टियों से प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

सबसे पहले यदि हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के प्रवेश की बात की जाए तो कई साहित्येतिहासकार इसे प्रेस (छापखाने) के भारत में आने एवं उसके माध्यम से पत्रकारिता के व्यापक प्रसार से जोड़ते हैं, तो कई विदेशी (अंग्रेजी या विज्ञान की) शिक्षा से जोड़कर देखते हैं। यातायात के साधनों में बढ़ोतरी, गाँवों की आर्थिक निर्भरता में कमी, कम्पनी सरकार द्वारा शिक्षा संस्थानों की स्थापना

आदि को भी अन्य कारणों के रूप में गिनाया गया है, किन्तु कई साहित्येतिहासकार इसके मूल में भारतीय शिक्षित युवाओं द्वारा विभिन्न संस्थाओं के निर्माण द्वारा समाज सुधार के प्रयासों व उसके मूल में देखते हैं। हिन्दी साहित्येतिहासकारों में सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' हिन्दी में आधुनिकता के प्रवेश को स्पर्श करता है, क्योंकि इससे पूर्व के सभी इतिहास या तो सन् १८५० ई. से पूर्व प्रकाशित हैं या वे इसे समझ नहीं सके। जैसे तासी ने कंपनी शासन एवं व्हिक्टोरिया शासन में भारत के खुशहाली का चारण गुणों से परिपूर्ण चित्रण करते हुए उसे ब्रिटिशों द्वारा खुशहाल राज्य बतलाया था। वे इसे आधुनिकता के रूप में नहीं बल्कि अंग्रेज़ों द्वारा किए गए विकास कार्यों के रूप में दिखाने का प्रयास कर रहे थे। किन्तु जब इतिहास की भाँति भारतीयों ने साहित्येतिहास भी लिखना आरंभ किया, तो उन्होंने ब्रिटिश राज एवं भारतीय साहित्य-समाज-संस्कृति को अपनी पद्धति से विवेचित करना आरंभ किया। इस सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रथम ग्रंथ है, जिसने भारतीय पुनर्जागरण के रूप को पहचानकर उसमें आनेवाली विभिन्न विधाओं का परिचय दिया।

आचार्य शुक्ल के अनुसार सन् १८५० ई. के आस-पास हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का आरंभ माना। ऐसा उन्होंने क्यों किया, इसका कोई कारण या तर्क उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया, सिवाए इसके कि इस वर्ष भारतेन्दु हरिश्चंद्र का जन्म हुआ था। निःसंदेह भारतेन्दु का हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में महत्त्वपूर्ण योगदान है, किन्तु उनके जन्म से आधुनिक काल का आरंभ माना नहीं जा सकता है, क्योंकि उनका साहित्य तो सन् १८६२-६३ के आस-पास आना आरंभ होता है। इसी प्रकार यह युग भारतीय नवजागरण का युग भी जिसका साहित्यिक प्रतिफलन भारतेन्दु मंडल के विभिन्न कवियों में देखने को मिलता है, जो कविवचनसुधा आदि के आरंभ के साथ साहित्यिक पटल पर विराजमान होता है।

भारतीय नवजागरण के तहत लिखे जानेवाले भारतेन्दु युगीन साहित्य में देशभक्ति एवं राज्यभक्ति का मिला-जुला रूप देखा जा सकता है। सन् १८५७ ई. के बाद ही स्थिति में स्पष्टता आती है। इसके अतिरिक्त सन् १८५७ ई. में ही कम्पनी शासन समाप्त होता है और भारतीयों के प्रति इंग्लैड का संसद सीधे जवाबदेह बनता है। और इस गदर या प्रथम स्वातंत्र्य युद्ध जैसी एकता बाद के स्वतंत्रता आन्दोलन में भी देखने को नहीं मिली, जो साहित्य में सांस्कृतिक नवजागरण के रूप में स्थित थी। हिन्दी पत्रकारिता से लेकर विभिन्न विधाओं का विकास भी १८५७ ई. के बाद जो गति पकड़ता है, वैसा इससे पूर्व न था। अतः यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का प्रवेश सन् १८५७ ई. से माना जा

सकता है। इससे पूर्व के काल को संक्रमण की स्थिति में देखा जा सकता है। इस सन्दर्भ में डॉ.बच्चन सिंह द्वारा की गई स्थापनाएँ काफी महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार - "संयोग है कि हिन्दी साहित्य में आधुनिक जीवन बोध के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चंद्र का जन्म सन १८५० ई. – ठीक उन्नीसवीं शती के मध्य – में होता है। अतः इतिहास लेखकों ने इस वर्ष को ही आधुनिक हिन्दी साहित्य की शुरुआत का वर्ष मान लिया। किन्तु यह वर्ष स्वयं इतिहास की गतिमानता या बदलाव में किसी तरह की भूमिका अदा नहीं करता। इतिहास के काल विभाजन की रेखा कम-से-कम दो विभिन्न प्रवृत्तियों को स्पष्टतः अलगाने वाली तथा इस अलगाव के लिए खुद भी बहुत कुछ उत्तरदायी होनी चाहिए। यदि सन १८५७ को आधुनिक काल का प्रारंभिक बिन्दु मान लिया जाए तो ऊपर्युक्त दोनों शर्तें पूरी हो जाती हैं।

सन् १८५७ ई. का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम (जो पहले गदर के नाम से प्रसिद्ध था) ब्रिटिश सम्राज्यवाद की जड़ें हिला देनेवाला सिद्ध हुआ। इसके पहले देश के अन्य भागों में छिटपुट विद्रोह हो चुके थे। उदाहरणार्थ, बंगाल का सन्यासी विद्रोह (१८६३-१८००), उडिसा के जमींदारों का विद्रोह (१८०४-१८१७), विजयनगरम् के राजा का विद्रोह (१७९४) आदि। सन १८५७ का विद्रोह भी हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के एक सीमित भाग तक ही फैलकर रह गया था, यद्यपि यह क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था। किन्तु अपनी प्रकृति और संरचना में यह भिन्न था।"[40] इस काल-विभाजन के सन्दर्भ में डॉ.सिंह के तर्क को साधार स्वीकार किया जा सकता है, इस सन्दर्भ में उन्होंने उपरोद्धृत अंश में पूर्ण स्पष्टीकरण दे दिया है। उन्होंने इस काल का नाम 'पुनर्जागरण काल' दिया है, जो उनके साहित्यिक व्यक्तियों के नामकरण न देने के तर्क से मेल खाता है। अतः हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का आरंभ सन् १८५७ से माना जा सकता है, किन्तु इसे 'कविवचन सुधा' भारतेन्दु के साहित्य के प्रकाशन से भी माना जा सकता है।

हिन्दी में दूसरा विवाद छायावाद को लेकर है। स्पष्टतः छायावाद का आरंभ सन् १९१८ ई. में जयशंकर प्रसाद के काव्य-संग्रह 'झरना' से माना जाता है, किन्तु आचार्य शुक्ल ने छायावाद के मूल में पंत की कविताओं को माना था। आचार्य शुक्ल का पहला हिन्दी साहित्य का इतिहास था, जिसने एक काव्यधारा के रूप में छायावाद की पहचान की थी। उनके द्वारा किया गया छायावाद का मूल्यांकन उसके सम्बन्ध में आरंभिक दृष्टि को अभिव्यक्त करता है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रंथ में 'छायावाद'

---

[40]. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास-डॉ.बच्चन सिंह, पृ.०७

शब्द को दो अर्थों में ग्रहण करते हुए लिखा है - "छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि इस अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। 'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है।"[41]

आचार्य शुक्ल ने छायावादी आन्दोलन के उद्भव को बंगाल के रहस्यवादियों से जोड़ा था और उन्हें यूरोप के ईसाई मिशनरियों से। डॉ.बच्चन सिंह ने आचार्य शुक्ल की इस मान्यता को मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने इस युग की कविता की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए 'छायावाद' नाम को अव्याप्ति दोष से युक्त मानते हुए उसे स्वच्छन्दतावाद नाम देना अधिक उचित समझा। उनकी मान्यता है - "छायावाद रूपी गंगावतरण की यह धारणा कोरी काल्पनिक है। बंगाल में किसी प्रकार की कविता की छायावाद की संज्ञा नहीं दी गई और न तो हिन्दी का छायावाद ब्रिटेन से सात समुद्र पार करता हुआ बंगाल पहुँचकर हिन्दी में आया। यह अपने देश की उस बेचैनी का परिणाम है, जो सांस्कृतिक राजनीतिक पुनर्जागरण में दिखाई पड़ता है। जिसका सीधा सम्बन्ध नई मूल्य दृष्टि से है।"[42]

आचार्य शुक्ल ने जहाँ छायावाद के उद्भव को बंगाल के माध्यम से विदेशी प्रभाव से जोड़कर देखा तो डॉ.बच्चन सिंह ने देशी राजनैतिक-सामाजिक परिस्थितियों से। डॉ.नामवर सिंह ने भी इसे 'राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति'[43] कहा था। इसी प्रकार डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसे पूर्णतः राष्ट्रवादी काव्य के रूप में रेखांकित किया, जिसे वे 'शक्ति काव्य' कहते हुए लिखते हैं - "छायावाद महज़ संध्या सुन्दरी, चाँदनी रात या नौका विहार का चित्र नहीं है। यह मूलतः शक्ति काव्य है।"[44] अर्थात् आचार्य शुक्ल के बाद छायावादी काव्यान्दोलन का उद्भव विदेशी के स्थान पर देशी और बंगाल या अन्य भाषाओं के स्थान पर स्वतःस्फूर्त हिन्दी नवजागरण की परिणति मानने की ओर अधिक रहा। इस क्रम में बाद के इतिहासकारों ने छायावादी पलायनवाद के स्थान पर उसे व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन, तत्कालीन सामाजिक आन्दोलन, हिन्दी नवजागरण या भारतीय नवजागरण आदि सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक मुद्दों से जोड़ते हुए व्याख्यायित करने का प्रयास किया। इस विवेचन-क्रम में छायावादी आन्दोलन के

---

[41]. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.३६२

[42]. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास-डॉ.बच्चन सिंह, पृ.१३८

[43]. छायावाद-डॉ.नामवर सिंह, पृ.२४

[44]. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.११०

उद्भव को उद्घाटित करने के साथ-साथ इन इतिहासकारों ने छायावाद के प्रति देखने के दृष्टिकोण में बदलाव भी लाने का प्रयास किया। इसमें हिन्दी आलोचना का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है, जिसे यहाँ विवेचित करना श्लाघ्य नहीं है।

छायावाद के बाद हिन्दी साहित्येतिहास में प्रगतिवाद साहित्यिक आन्दोलन के रूप में चिन्हित किया जाता है। जहाँ छायावाद अधिकतर कविता तक सीमित होकर रह गया था, वहीं प्रगतिवाद का प्रभाव साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में देखा जा सकता है। प्रायः सभी इतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का आरंभ सन् १९३५ ई. में हुए 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना से माना है। प्रगतिशील लेखक संघ का संबंध प्रायः सभी साहित्येतिहासकारों ने मार्क्सवादी विचारधारा से जोड़ा। इस रूप में देखा जाए तो प्रगतिशील लेखक संघ की लंदन में स्थापना तो इससे दो वर्ष पूर्व ही हो चुकी थी, किन्तु इसका लखनऊ अधिवेशन सन् १९३५ में हुआ, जिसके अध्यक्ष के चुनाव में ही एक प्रकार की सामुहिकता एवं सामंजस्य का भाव देखा जा सकता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसकी ओर इंगित करते हुए बड़े नपे-तुले शब्दों में कहा है - "वामपंथी विचारों के साहित्यकारों ने संगठित होकर १९३६ ई. में एक प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। हिन्दी-उर्दू के प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द जी इसके सभापति हुए।...शुरु-शुरु में विश्वास रखनेवाले सभी प्रकार के साहित्य सेवी थे। बाद में यह संस्था प्रधान रूप से कम्युनिस्ट पार्टी के साहित्यिक मोर्चों के काम में आने लगी। परन्तु यहीं से उस प्रकार के साहित्य का संगठित रूप आन्दोलन और प्रचार रूप हुआ जिसे आगे चलकर प्रगतिवादी साहित्य नाम दिया गया।"[45]

अर्थात् आचार्य द्विवेदी हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य का आरंभ प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना से मानते हैं। आचार्य द्विवेदी के समय तक हिन्दी साहित्य में जनवादी साहित्य के चिन्ह नहीं दिखते थे। इसलिए उन्होंने केवल मार्क्सवादी विचारधारा से प्रगतिवाद को नत्थी कर दिया। उन्होंने लिखा है - "वामपंथी विचारों के साहित्यकारों ने संघटित होकर १९३६ ई. में एक प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। हिन्दी-उर्दू के प्रसिध्द उपन्यासकार प्रेमचन्दजी इसके सभापति हुए।"[46] इसे आगे बढ़ाते हुए डॉ.बच्चन सिंह ने कहा - "माकपा के अस्तित्व में आने पर उसने भी 'जनवादी लेखक संघ' का एक सांस्कृतिक मोर्चा खोला। इस तरह एक बार फिर साहित्य में स्तालिनवाद का प्रवेश हुआ। लेकिन अब हिन्दी साहित्य दलीय राजनीति के ऊपर जा चुका था। इसका यदि कुछ प्रभाव पड़ा भी तो वह नकारात्मक

---

[45]. हिन्दी साहित्य :उद्भव और विकास-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.२५९-६०

[46]. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.२५९

था। इधर पूर्वी यूरोप के जनतांत्रिक आन्दोलन और मिखाइल गोर्बाच्योव के पेरिस्त्रोइका और ग्लासनोस्ट ने समाजवादी विचारधारा की अर्थनीति और व्यक्ति स्वातंत्र्य में जिस व्यापकता और उदारता का सन्निवेश किया है, उससे साहित्य और कला को नई दिशा मिली है, प्रगतिशील चिन्तन में एक स्वस्थ आयाम जुड़ा है।"[47]

डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी भी प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना से ही प्रगतिवादी आन्दोलन की शुरुआत मानते हैं, किन्तु इस समय में लिखी गई हिन्दी कविता को वे प्रगतिशील और प्रगतिवाद नामक दो भागों में बाँटकर देखते हैं। यह आकस्मिक नहीं कि सन् १९३५ में पंत का काव्य-संग्रह 'युगान्त' प्रकाशित हुआ, जो व्यापक स्तर पर छायावाद के अन्त की घोषणा भी करता है। इसी वर्ष 'कामायनी', 'सरोज स्मृति', 'गोदान' जैसी युगान्तरकारी कृतियाँ प्रकाशित हुई, जो तत्कालीन प्रचलित साहित्यिक मुहावरे से हटकर थी। छायावादी काव्यधारा अब रूढ़ी में बदल चुकी थी। एक स्वर्णयुग दुहराव का शिकार हो रहा था। साहित्य और समाज में लगभग यही स्थिति थी। एक ओर साहित्य में छायावाद कपोल कल्पना एवं आँसू में तब्दील हो चुकी थी। महादेवी वर्मा जैसे रचनाकार अपने ही वृत्त में कैद हो चुकी थीं। समाज में भी गाँधीवादी दर्शन एवं उसकी पद्धतियाँ एक प्रकार का निराशावाद फैला रही थी। ऐसे में नवीन पीढ़ी का प्रगतिवादी विचारधारा की ओर आकर्षित होकर साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति करना स्वाभाविक था।

डॉ.बच्चन सिंह ने हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद के आगमन को प्रगतिवादी आन्दोलन से जोड़कर देखा। उनके अनुसार - "यथार्थवाद को लेकर भी बहुत बहसें हुई। यह मार्क्सवादी चिन्तन की देन है। पश्चिम में मार्क्सवादियों ने इसे उपन्यासों में देखा। लुकाच का औपन्यासिक चिन्तन इसी पर आधारित है। पर हिन्दी के यथार्थवाद के सिद्धांतों को कविता में खोजा जाने लगा। पश्चिम में जिस जादुई यथार्थवाद की कल्पना की गई है वह हिन्दी के कथा साहित्य में भी मिलता है। इससे काव्यालोचन दुर्दशाग्रस्त हो उठा। पाब्लो नेरुदा कविता को यथार्थ-विरोधी कहता है। प्रगति-प्रयोग की दोनों विरोधी प्रवृत्तियों ने लोक-भाषा की निकटता प्राप्त करने की कोशिश की।"[48] वास्तव में हिन्दी साहित्य में 'यथार्थवाद' नाम से वैसे ही कोई आन्दोलन नहीं चला, जैसे बांग्ला में छायावाद नाम से कोई काव्यान्दोलन मौजूद नहीं है। हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद एक विचारधारा के साथ कभी जुड़ा नहीं रहा है। छायावाद के समानान्तर लिखित

---

[47]. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास-डॉ.बच्चन सिंह, पृ.३९७

[48]. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास-डॉ.बच्चन सिंह, पृ.३९८

कथा-साहित्य में या उससे भी पूर्व 'उसने कहा था' के साहित्यिक-गठन में इसे देखा जा सकता है। वाद के रूप में न तो यथार्थवाद हिन्दी में मौजूद है और न जाद्धुई यथार्थवाद ही। यथार्थ का चित्रण तो हिन्दी उपन्यासों में आरंभ से ही होता आया है। 'परीक्षा गुरु' आदि सुधारवादी उपन्यासों और भारतेन्दु के नाटकों के सन्दर्भ में भी यह उतना ही सही है, जितना भारतेन्दु युग में लिखित तिलिस्मी-अय्यारी उपन्यासों के सन्दर्भ में। लुकाच की ही मानी जाए तो उपन्यास में यथार्थ की कई परतें होती है, जिसे वह 'ध्वनियों की अनेकता' के माध्यम से सिद्ध करते हैं। इसका व्यावहारिक रूप में राजेन्द्र यादव की पुस्तक 'दयनीय महानता की दिलचस्प दास्ताँ' में सोदाहरण स्पष्ट किया है। राजेन्द्र यादव ने इस पुस्तक के माध्यम से दिखाया है कि जासूसी-अय्यारी माने जानेवाले उपन्यासों में यथार्थ की झीनी परत किस रूप में मौजूद है और वह सन् १८५७ ई. के बाद उपजी भारतीय मानसिकता को किस रूप में अभिव्यक्त कर रहे हैं। इसे लुसिए गोल्डमान के शब्दों में कहा जाए तो जासूसी-अय्यारी उपन्यासों में तत्कालीन समाज की 'विश्वदृष्टि' की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसे में मार्क्सवाद के प्रभाव से ही हिन्दी साहित्य में यथार्थ का आगमन मानना गलत होगा, जबकि हिन्दी साहित्य में ऐसा कोई आन्दोलन ही नहीं हुआ। यथार्थ का चित्रण कभी कम तो कभी अधिक मात्रा में इससे पूर्व भी साहित्य में होता आया है, विशेषतः कथा साहित्य में।

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद के बाद आन्दोलन के रूप में प्रयोगवाद को स्थान दिया जाता है, जिसका आरंभ अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तार सप्तक' (सन् १९४३ ई.) से होता है। इसमें साहित्येतिहासकारों के बीच कोई मतभेद देखने नहीं मिलता। 'तार सप्तक' के नामकरण को लेकर सम्पादक अज्ञेय की आपत्ति के बावजूद भी इतिहासकार एकमत हैं। इसके बाद के साहित्यिक आन्दोलनों को, आन्दोलन के रूप में नहीं अपितु बरसाती 'कुकुरमुत्तों' के रूप में देखा जा सकता है। क्योंकि कोई भी वैचारिक-सामाजिक आन्दोलन साहित्य में न तो प्रतिफलित हुआ और न वैसी एकल प्रवृत्तियाँ ही साहित्य में देखने को मिलती हैं। कुछ आयातित प्रवृत्तियों के चलते हिन्दी में स्त्रीवाद, दलित, आदिवासी और पसमान्दा आदि विमर्श चले आए हैं, जिन्हें 'आन्दोलन' भी कहा जाता है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में अभी इन्हें स्थान नहीं मिल पाया है, क्योंकि इधर कोई साहित्येतिहास प्रकाश में नहीं आया। इन्हें लेकर हिन्दी आलोचना में खूब बहस-मुबाहिसें जारी हैं, किन्तु अभी हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने इनके सन्दर्भ में कोई मत प्रस्तुत नहीं किया है।

६.४ युगीन परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के समन्वय सम्बन्धी दृष्टिकोण

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में साहित्य एवं समाज के सम्बन्धों को लेकर स्पष्ट दृष्टिकोण के दर्शन गार्सा द तासी के इतिहास-ग्रंथ से ही देखने को मिलता है। युगीन परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध तथा अपने युग से आगे-पीछे लिखे जा रहे साहित्य पर प्रायः प्रत्येक इतिहासकार ने अपना मत प्रकट किया है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में सामान्यतः आरंभ से ही और विशेष तौर पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास-ग्रंथ से युगीन परिस्थितियों को तद्युगीन साहित्यिक प्रवृत्तियों को कारण के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। गार्सा द तासी, डॉ.ग्रियर्सन, मौलवी करिमुद्दीन आदि शुक्लपूर्व साहित्येतिहासकारों के ग्रंथों में हिन्दी साहित्यिक आन्दोलनों की स्पष्ट रूपरेखा देखने को इसलिए नहीं मिलती है क्योंकि ये इतिहासकार साहित्यिक आन्दोलनों एवं युगीन प्रवृत्तियों को स्पष्टतः पहचनाने में पूर्णतः सफल नहीं हो पाए थे।

युगीन परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के सम्बन्धों को दर्शाने अथवा इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने में साहित्येतिहासकार को तब अधिक कठिनाई होती है, जब एक ही समय में कई प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि हिन्दी साहित्येतिहास में आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक के साहित्यिक युगों और युगीन परिस्थितयों के मिलान सन्दर्भ में विशेष दिक्कतों का सामना करना पड़ा है। इस सन्दर्भ में हिन्दी साहित्य के आरंभ से ही इस कठिनाई से हिन्दी साहित्येतिहासकारों का सामना होता है। आदिकालीन साहित्य में एक ओर धार्मिकता के परदे में लिखा गया सिद्ध, जैन, नाथ साहित्य है तो दूसरी ओर सामन्ती संस्कृति के अधिक समीपता बरतनेवाला रासो साहित्य। भाषा की दृष्टि से भी इस युग में डिंगल, पिंगल, ब्रज, राजस्थानी और खड़ी बोली का प्रयोग हो रहा था। इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि इन सभी साहित्यिक प्रवृत्तिगत धाराओं एवं भाषागत भेदों का कोई सामाजिक आधार प्रस्तुत करने का प्रयास आचार्य शुक्ल से पूर्व किसी इतिहासकार ने व्यापक रूप में नहीं किया है। डॉ.ग्रियर्सन द्वारा आदिकाल का 'चारण काल' नाम प्रस्तावित किया गया था, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने इस काल की प्रवृत्तियों में चारण प्रवृत्ति को अधिक महत्व दिया था और साथ ही उनके द्वारा अन्य प्रवृत्तियों की उपेक्षा हुई थी। इस काल की सामंतवादी संस्कृति और उसके अनन्तर लिखे गए साहित्य को उन्होंने केन्द्र में माना है, किन्तु लोक में लिखे जा रहे साहित्य के साथ-साथ दरबारों में जो खुसरो आदि कवियों द्वारा साहित्य लिखा जा रहा था, वह इसकी प्रवृत्तिगत परिसीमा से बाहर रह गया। इसलिए सामंती प्रवृत्ति को इस युग के न तो साहित्य की और न सामाजिक इतिहास की एकमात्र विशेषता माना जा सकता है।

आदिकालीन साहित्य एवं समाज का मूल्यांकन करते समय आचार्य शुक्ल ने भाषा, साधना पद्धतियों, सामंती वातावरण और राजनैतिक इतिहास को दृष्टि में रखा। उन्होंने तद्युगीन कई प्रवृत्तियों को रेखांकित करते हुए सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक इतिहास और भाषा के विकास को ध्यान में रखा। उन्होंने सर्वप्रथम इस काल की प्रवृत्तियों को तीन भागों में बाँटकर प्रस्तुत किया - धार्मिक साहित्य, लोक साहित्य और लौकिक साहित्य। इस क्रम में उन्होंने प्रथम आधार भाषा को बताया, जिसकी समय सीमा का निर्धारण करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है - "मुंज और भोज को समय (सं.१०५०) के लगभग तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुध्द साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिन्दी साहित्य का आदिकाल संवत् १०५० से लकर संवत् १३७५ तक माना जा सकता है।"[49] अर्थात् यहाँ भाषा के इतिहास के अनुरूप हिन्दी साहित्य के आदिकाल का आरंभ माना गया है और उसके लिए राजनीतिक परिघटनाओं का आधार ग्रहण किया गया है। आदिकाल में पाये जानेवाले नाथ, जैन एवं सिद्ध आदि के धार्मिक साहित्य को आचार्य शुक्ल ने 'शुद्ध साहित्य' मानने से इनकार कर दिया था। जिसके सन्दर्भ में उनका स्पष्ट मत था - "उनकी रचनाएँ तांत्रिक विधान, योग साधना, आत्मनिग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अन्तर्मुख साधना के महत्व इत्यादि का साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र है। जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः वे शुध्द साहित्य के अन्तर्गत नहीं आती।"[50] उन्होंने धार्मिक साहित्य एवं 'फुटकल साहित्य' को छोड़कर रासो साहित्य को केन्द्र में रखकर इस युग की प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों का विवेचन किया है। इस युग की परिस्थितियों की चर्चा में भी यही केन्द्रीयता देखने को मिलती है। इस काल की परिस्थितियों के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है - "सारांश यह कि जिस समय से हमारे हिन्दी साहित्य का अभ्युदय होता है वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था और सब बातें पीछे पड़ गई थी...इस दशा में काव्य साहित्य और भिन्न अंगों की पूर्ति और समृधदि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। उस समय तो केवल वीरगाथाओं की उन्नति संभव थी।"[51] इसी प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण आदिकालीन साहित्य एवं तत्कालीन परिस्थितियों को राजनीतिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया, जिसका प्रभाव उनके नामकरण एवं समय-सीमा की निश्चिती पर भी देखा जा सकता है। उन्होंने आदिकालीन साहित्य की इतिश्री के सन्दर्भ में लिखा है - "मोटे हिसाब

---

[49]. हिन्दी साहित्य का इतिहास, वक्तव्य – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.०३

[50]. वही, पृ.१४

[51]. वही, पृ.२१-२२

से वीरगाथा काल महाराज हम्मीर के समय तक ही समझना चाहिए। उसके उपरान्त मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थिर हो गया और हिन्दू राजाओं को न तो आपस में लड़ने का उत्साह रहा और न मुसलमानों से। जनता की चित्तवृत्ति बदलने लगी और विचारधारा दूसरी ओर चली।"[52] आचार्य शुक्ल का यह दृष्टिकोण उनके भक्तिकाल के उदय सम्बन्धी मान्यता में विस्तारित रूप से देखा जा सकता है, जहाँ इसी 'पराजित मानसिकता' को उन्होंने कारण के रूप में प्रस्तुत किया। परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में लगभग यही दृष्टिकोण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के यहाँ भी देखने को मिलता है - "जिन दिनों हिन्दी साहित्य बनने लगा, उन्हीं दिनों मध्य देश पर बारम्बार मुसलमानों के आक्रमण हुए। उन दिनों उत्तर भारत की केन्द्रीय राजशक्ति दुर्बल हो गयी।"[53] अर्थात् कहीं-न-कहीं दोनों इतिहासकारों ने आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि में मुसलमानों के आक्रमण को कारण रूप में प्रस्तुत किया है। आचार्य शुक्ल से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि का भेद सिद्ध, जैन, नाथ साहित्य को लेकर उपस्थित होता है। जहाँ आचार्य शुक्ल ने इसे मात्र धार्मिक साहित्य कहकर साहित्य क्षेत्र से निष्कासित कर दिया था, वहीं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे साहित्य क्षेत्र में पुनः स्थापित करने का प्रयास करते हैं। ऐसा करते समय वे भक्तिकाल को ध्यान में रकखर भारतीय चिन्तनधारा का विकास मानते हुए, आध्यात्मिक इतिहास को प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए उन्होंने जैनों-बौध्दों की परम्परा का विकास इस साहित्य में दिखाकर पृष्ठभूमि या कारण के रूप में प्रस्तुत किया। अर्थात दोनों आचार्यों ने आदिकालीन परिस्थितियों के रूप में या तो विदेशी आक्रमण को कारण रूप में प्रस्तुत किया अथवा आध्यात्मिक-सांस्कृतिक इतिहास को। सामाजिक इतिहास एवं तत्कालीन जन-लोक के इतिहास को दोनों में से किसी भी इतिहासकार ने तरजीह नहीं दी है।

आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी साहित्येतिहासों में आदिकालीन साहित्य को देखने का दृष्टिकोण प्रायः राजनीतिक ही रहा है। गाहे-बगाहे इसके केन्द्र में राजनीति एवं रासो काव्य के सम्बन्धों को दर्शाने के ही प्रयत्न हुए हैं। सिद्ध-जैन-नाथ साहित्य की सामाजिक भूमिका एवं उसके सांस्कृतिक अवदान पर इतिहासकार मौन ही रहे हैं और हिन्दी आलोचना में इस पर काफी चर्चा हुई है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' भी केवल इस काल के साहित्य एवं भाषा की चर्चा के आगे नहीं बढ़ पायी है। सामाजिक परिस्थितियों एवं आदिकालीन सिद्ध, जैन, नाथ साहित्य के सम्बन्धों

---

[52]. वही, पृ.४१-४२

[53]. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.३८

पर चर्चा प्रायः नहीं के बराबर होती है। कई शोधों के बाद भी इधर लिखे गए साहित्येतिहास ग्रंथों में भी इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी आदिकालीन साहित्य के केन्द्र में सामन्ती परिस्थितियों को ही मानते हैं। उन्होंने इस काल के साहित्य को सामन्ती वातावरण की चरम् सीमा को रेखांकित करने के लिए उसमें किये गये आश्रयदाताओं के वर्णन को ईश्वर के समान होने का उल्लेख किया है।

सारांशतः कहा जा सकता है कि आदिकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं तत्कालीन परिस्थितियों में समन्वय साधने के क्रम में सामन्ती वातावरण एवं उससे निःसृत साहित्य को केन्द्र में रखा गया है। प्रायः इतिहासकारों ने सिद्ध, जैन, नाथ साहित्य के साथ खुसरो, मुल्ला दाउद आदि के साहित्य का उल्लेख तो किया, किन्तु उनके सन्दर्भ में परिस्थितियों का ब्यौरा सकारण प्रस्तुत न कर सके। इसका कारण यह हो सकता है कि इस समय के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास की उस प्रकार की प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती, जैसी आगे के समय की मिलती है। आज भी हमें पृथ्वीराज चौहान, राजा हम्मीर आदि के इतिहास की प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती है, जैसी बाद के इतिहास की मिलती है। इसके अतिरिक्त सामाजिक इतिहास का ब्यौरेवार वर्णन करनेवाले ग्रंथ भी नहीं मिलते हैं, जिससे यह पता चल सके कि इस युग में लिखित लोक-लौकिक साहित्य की क्या भूमिका थी और वह किस समाज में लिखा-पढ़ा जाता रहा है। यही कुछ कारण है कि हिन्दी साहित्येतिहास ग्रंथों में आदिकालीन साहित्य एवं तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में असमंजस की स्थिति देखने को मिलती है।

भक्तिकाल के उद्‌भव संबंधी जितने विवाद रहे हैं, प्रायः वही विवाद उस काल की परिस्थितियों को लेकर रहे हैं। यह विवाद अधिकांश राजनीतिक इतिहास को लेकर अधिक रहे हैं, सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास को लेकर कम। साहित्येतिहासकारों ने भक्ति आन्दोलन को सांस्कृतिक पुनर्जागरण, उच्च वर्ग/वर्ण के प्रति निम्न वर्ग/वर्ण का विद्रोह, लोक साहित्य का काल, देशी भाषाओं के अभ्युदय का काल, हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग आदि विशेषताओं से विभूषित किया। भक्ति काल के उदय में आदिकालीन परिस्थितियों की निरंतरता को प्रायः तरजीह दी जाती रही है। कभी इसके मूल में मुस्लिम आक्रमण को माना गया तो कभी इसके बगैर भी इसकी संभावनाओं को खोजा गया। भक्तिकाल का आरंभ नामदेव, रैदास, कबीर आदि निर्गुण कवियों की कविताओं से माना जाता है और इसके मूल में सिद्ध-नाथ साहित्य की परम्परा को स्वीकार किया जाता है। ऐसे में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'परम्परा का स्वतः विकास' की धारणा सही होती हुई दिखाई देती है। संत साहित्य की लोकप्रियता के

कारणों में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का ब्यौरा प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें धार्मिक उन्माद, जातिभेद आदि है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक-धार्मिक समन्वय की भावना को भी इतिहासकारों ने रेखांकित किया है, जिसके तहत आचार्य द्विवेदी ने कबीर को बुद्ध के बाद का सबसे बड़ा समन्वयवादी माना है तो आचार्य शुक्ल ने तुलसीदास की समन्वयवादी भावना को तरजीह दी। अर्थात् कबीर से लेकर भक्ति साहित्य का प्रवास समन्वय का प्रयास कर रहा था, जो समाज में भी कई स्तरों पर जारी था। कुछ इतिहासकारों-आलोचकों ने इस समय हो रहे संघर्षों एवं टकराहटों को भी तत्कालीन परिस्थितियों के रूप में प्रस्तुत किया। डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'म्लेच्छाक्रान्तातु' को तरजीह देते हुए 'अष्टछाप' कवियों के काव्य में आए निर्गुण-सगुण के विवाद को नए से व्याख्यायित करने का प्रयास किया। स्त्री चेतना से गोपी प्रसंग को व्याख्यायित करते हुए कुछ इतिहासकारों ने तत्कालीन समय में स्त्री की आज़ादी के सन्दर्भ में इसे प्रस्तुत किया। जिस समाज में स्त्री को घर से बाहर निकलने का कोई अवसर नहीं है, वहीं सूर आदि कृष्णभक्त कवियों द्वारा लीला प्रसंग में अपना घर छोड़कर बाहर निकलनेवाली गोपियों को स्त्री-विद्रोह के स्वर के रूप में विवेचित किया गया है। उसी प्रकार मीरा के जीवन एवं काव्य के बहाने कई इतिहासकारों ने तत्कालीन स्त्री जीवन को भी भक्तिकालीन परिस्थितियों के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

जहाँ इतिहासकारों ने भक्ति आन्दोलन एवं तद्जनित काव्य का सम्बन्ध लोक से जोड़ने का प्रयास करते हुए, उसे लोकमन से प्रभावित माना है, वहीं उसकी पृष्ठभूमि एवं उद्भव के रूप में विशुद्ध राजनीतिक कारणों को प्रस्तुत किया है। आचार्य शुक्ल ने इसे 'पराजित मानसिकता' की देन माना है। भक्ति आन्दोलन अपना प्रवास तेरहवीं से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक पूर्ण करता है। इस समय की राजनीतिक परिस्थितियों से मात्र सम्पूर्ण समय को देखने का दृष्टिकोण इस युग के सम्बन्ध में पूर्ण दृष्टि का निर्माण नहीं कर सकता है। सामाजिक इतिहास को जाने बगैर सन्त काव्य से लेकर रामभक्ति काव्य तक का प्रवास करनेवाले भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि को संकुचित दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। इसके अतिरिक्त भक्ति आन्दोलन के उद्भव पर इतना ध्यान केन्द्रित किया गया है कि सम्पूर्ण भक्ति काल की परिस्थितियों पर बहुत कम ध्यान दिया गया है।

रीतिकालीन साहित्य की परिस्थितियों के रूप में भी अधिकांश रूप में राजनीतिक परिस्थतियों को ही इतिहासकारों ने प्रस्तुत किया है। आदिकालीन साहित्य की परिस्थितियों के रूप में भी सामन्ती वातावरण को दर्शाया गया है। रीतिकालीन समय में राजाओं-सामन्तों की सत्ता स्थिर हो जाती है और दरबारी वातावरण में रीतिकालीन कविता अपने पैर जमाने में सफल होती है। ध्यान देने की बात है कि

दरबार में रहनेवाले अधिकांश रीतिकालीन कवि मध्यवर्गीय ग्रामीण वातावरण से आकर अपने-आप को दरबार में रचा-बसा तो लेते हैं किन्तु अधिकांश कवियों के काव्य में अपनी ग्रामीण मध्यवर्गीय स्मृतियाँ बहुत कम ही मात्रा में देखने को मिलती हैं। इसके अतिरिक्त जिन कवियों ने अपने को दरबार से दूर रखकर काव्य-सृजन किया है, उनके सन्दर्भ में दरबारी वातावरण की परिस्थितियों को मेल कैसे बैठाया जाए? इसकी भी समस्या पैदा होती है। दरबारी चारण कवि बजाए अपने समय से प्रेरणा पाकर साहित्य-सृजन करने के संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के लक्षणों के उदाहरण प्रस्तुत करने में क्यों लगे हुए थे? इसका भी विवेचन रीतिकालीन परिस्थितियों के विवेचन के क्रम में आवश्यक हो जाता है। इतनी गहराई में जाकर रीतिकालीन परिस्थितियों का विवेचन किसी भी हिन्दी साहित्येतिहास ग्रंथ में देखने को नहीं मिलता है। प्रायः राजनीतिक परिस्थियों एवं तत्कालीन भोग वृत्ति आदि का विवेचन करने की रीति इस काल के सन्दर्भ में कायम हो गई है। खेद का विषय है कि मध्यकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास पर हिन्दी साहित्येतिहासकार बहुत ही कम ध्यान देकर हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल और रीतिकाल का विवेचन-विश्लेषण करते हुए देखे जा सकते हैं। इस कारण इन युगों के साहित्य एवं तत्कालीन परिस्थितियों में असमंजस्य स्थापित हो गया है।

हिन्दी साहित्येतिहासों में आधुनिक कालीन परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के सामंजस्य को लेकर सबसे अधिक विविधता तथा मतभेद देखने को मिलते हैं। इसके कई कारण है, जैसे आधुनिक काल न केवल साहित्यिक प्रवृत्ति का सूचक है, बल्कि वह सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्थिति को भी दर्शाता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल किसी काल विशिष्ट का नाम न होकर मध्यकालीनता से बाहर निकालनेवाले चिन्तन का नाम है, जो साहित्य में विधाओं की विविधता, नए विधाओं का उदय, पुरानी विधाओं का नवीनीकरण, पूर्वप्रचलित विधाओं के रूप-स्वरूप में अमूलचूल परिवर्तन आदि के रूप में प्रतिफलित हुआ। हिन्दी में आधुनिकता के उदय के साथ ही आज लिखी जानेवाली सारी विधाओं का जन्म आकस्मिक नहीं हुआ। जैसे आत्मकथा, यात्रा-वृत्तान्त आदि। अर्थात हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का उदय सम्पूर्ण विधाओं पर समान रूप से अंग्रेजी या विदेशी साहित्य की देखा-देखी आरोपित नहीं किया जा सकता है। कुल मिलकर यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का प्रवेश एक ओर सामाजिक चेतना एवं चिन्तन का प्रतिफलन है तो दूसरी ओर वह साहित्य की स्वाभाविक विकास प्रक्रिया का भी अंग है।

हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के प्रवेश को साहित्येतिहासकारों ने सन् १८०० से १८५७ ई. तक की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विवेचित करने का प्रयास करते हुए हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का आरंभ विभिन्न वर्षों से माना है। किसी के लिए वह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जन्म वर्ष सन् १८५० ई. से आरंभ होता है तो किसी इतिहासकार ने सन् १८५७ के गदर या प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के वर्ष से जोड़ा है। कुछ इतिहासकारों ने इसे सन् १८५७ से ही आरंभ माना है किन्तु उन्होंने कंपनी का शासन समाप्त होकर रानी विक्टोरिया के शासन लागू होने को तर्क के रूप में प्रस्तुत किया है। कुछ इतिहासकारों ने 'हिन्दी नई चाल में ढली' को प्रतिमान बनाते हुए सन् १८८३ से मानते हुए, हिन्दी में आधुनिकता का प्रेवेशद्वार भारतेन्दु की साहित्यिक पत्रकारिता से माना है।

सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का आरंभ और हिन्दी समाज में आधुनिक चेतना के प्रवेश को साहित्येतिहासकार समन्वित रूप में तादात्म्य के साथ प्रस्तुत करने का लगातार प्रयास करते रहे हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जब हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का आरंभ नाटकों के रास्ते देखते हैं तो कुछ चौकने की मुद्रा में लिखते हैं, "विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।"[54] वास्तव में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हो या आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि परवर्ती साहित्येतिहासकार, इन्होंने आधुनिक काल के मूल में जातीय चेतना एवं सामूहिक भावना के उदय को हिन्दी समाज की आधुनिकता के रूप में रेखांकित किया, जिसके उन्होंने प्रेस, अंग्रेजी शिक्षा, इसाई मिशनरियों का धर्म प्रचार, युवाओं द्वारा विदेश में जाकर शिक्षा पाना आदि कई कारण गिनाए हैं। किन्तु ध्यान देने की बात है कि आचार्य शुक्ल जैसा इतिहासकार इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाया है। डॉ.रामस्वरूप चतर्वेदी ने इसे 'सामुहिक चेतना' का प्रतिफलन मानते हुए लिखा है, "यदि हम १८ वीं-१९वीं शती की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थतियों का विश्लेषण करते हैं, जिस काल को सामान्यतः पुनर्जागरण कहकर पुकारा जाता है, तो पाते हैं कि इस समय की जो कई बुनियादी विशेषताएँ हैं उनमें एक यह है कि परम्परागत हिन्दू एकांतिकता की भावना का निरसन करने के लिए इस युग के मनीषियों ने सामाजिकता भावना पर बल दिया।"[55] डॉ.चतुर्वेदी ने नाटक की सामुहिक प्रकृति को ध्यान में रखते हुए तत्कालीन परिस्थितियों से संलग्न किया। इसी प्रकार उपन्यास के उद्भव को भी आधुनिकता से जोड़ा जाता है और इस क्रम में उसे अंग्रेजी से आयातित कहा जाता है। ध्यान देने की

---

[54]. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. ३०६

[55]. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.१४७

बात है कि अंग्रेजी की तमाम विधाओं में से उपन्यास ही इस समय क्यों स्वीकार किया गया? इसके अतिरिक्त उपन्यास एक विधा मात्र नहीं है, वह अपने आप में पूर्ण विचार है। इसके सूत्र भले ही भारतीय साहित्य परम्परा में ढूँढ़े गए हो, किन्तु वैचारिक स्तर पर वह आयातित ही है। विचारों के जनतांत्रिक समय में रचना में जनतंत्र को बढ़ावा देनेवाली विधा का स्वीकार-प्रचार-प्रसार होना स्वाभाविक था। इसे सूक्ष्म रूप से संभवतः सामाजिक परिस्थितियों के साथ किसी इतिहासकार ने रेखांकित नहीं किया है।

विधाओं के अतिरिक्त विधाओं की अन्तर्गत प्रवृत्तियों से तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के मिलान की जिम्मेदारी साहित्येतिहासकार पर होती है। ब्रजभाषा कविता अपने कुछ अंशों में अभी भी रीतिकालीन विचारों को ढ़ो रही थी, किन्तु उसके साथ ही भारतेन्दु जैसे कुछ कवियों ने भाषाभेद से कविता में भी आधुनिकता का प्रवेश कराने क प्रयास किया है। 'रसा' नाम से उर्दू में लिखित उनकी कविताएँ हो या नाटकों में लिखे उनके विविध गीत, काव्य में आधुनिकता के वे श्रेष्ठतम् उदाहरण कहे जा सकते हैं। नाटकों पर प्रवृत्तिगत रूप में दृष्टि डाली जाए तो स्पष्ट होता है कि अधिकांश नाटक अपने युगानुरूप या तो समाज सुधार के कार्यों में लगे थे अन्यथा राष्ट्रभक्ति को जगाने में। इन विशेषताओं को इतिहासकारों ने नाटक एवं आलोचना दोनों प्रसंगों में उद्घाटित किया है। हिन्दी आलोचना का भी सूत्रपात नाटक की आलोचना से ही होता है। आधुनिकता में आलोचनात्मक विवेक की आवश्यकता होती है और आधुनिक आलोचना पद्धति में भी। संस्कृत में साहित्य सिद्धान्त का अनुगामी होने के लिए अभिशप्त था, किन्तु आधुनिक समय में आकर क्रम ठीक उल्टा हो जाता है। हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना का सूत्रपात भी नाटक के सिद्धान्त कथन से ही होता है। इतिहासकारों के अनुसार भारतेन्दु हरिश्चंद्र के 'नाटक' (१८८३ ई.) से होता है। इसे डॉ.चतुर्वेदी द्वारा स्थापित 'सामुहिकता की भावना' से जोड़ा जा सकता है। हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने परिस्थितियों एवं आधुनिकता के प्रवेश को लेकर कई बार साहित्य से उसके सम्बन्धों को समझने में भूल की है तो कई बार वे इतने अचूक थे कि उन्हें सहसा गलत नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

भारतेन्दु युगीन वातावरण एक साथ देश भक्ति और राज्य भक्ति से व्याप्त था तो दूसरी ओर समाज में स्त्रियों को लेकर कई रुढ़ियाँ परिव्याप्त थीं। इन सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था। राज्यभक्ति तो उपन्यास-कहानी आदि गद्य में न आ सकी और देशभक्ति कविताओं से नदारद रही। उपन्यासों में स्त्री की इस समस्या को उठाया गया और उपन्यासों को उनके साथ युवा वर्ग को संस्कारित करने का माध्यम बनाया गया, जो पुनर्जागरण की अतीत की ओर लौटने

की चेतना के अनुकूल था। इस काल के उपन्यासों में संस्कृति एवं संस्कार पर अतिरिक्त बल देखा जा सकता है, चाहे वह 'परीक्षा गुरु' हो या 'नूतन ब्रह्मचारी' आदि सभी उपन्यास सुधारवादी भूमिका में दिखाई देते हैं। नाटकों में राष्ट्रभक्ति, सामाजिक कुरीतियाँ आदि सभी विषयों को छूने का प्रयास देखने को मिलता है। इस समय की साहित्यिक पत्रकारिता भी नीरी साहित्यिक नहीं थी, बल्कि वह अपनी सामाजिकता में साहित्यिकता की तलाश करती थी। इस प्रकार से साहित्येतिहासकारों ने इस युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों में समन्वय बैठाते हुए, साहित्य के इस काल का विवेचन-विश्लेषण करने का प्रयास किया है।

हिन्दी साहित्येतिहासों में सन् १९०० ई. से आरंभ होनेवाले 'द्विवेदी युग' को प्रायः भाषा के विकास के युग या यों कहिए कि खड़ी बोली के व्याकरण के विकास के युग के रूप में रेखांकित किया जाता रहा है। यह क्रम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास से आरंभ होकर बाद के सभी इतिहासों में देखने को मिलता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से किए गए 'भाषा संस्कार' को रेखांकित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "१९०३ ई. में इस पत्रिका के द्वारा द्विवेदी जी ने हिन्दी गद्य को व्यवस्थित बनाने का बहुत अच्छा प्रयत्न किया। उन्होंने नए ढंग से लिखने के लिए लेखकों को उद्‌बुद्ध किया।"[56]

जिस प्रकार से भारतेन्दु युगीन परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों का समन्वित विश्लेषण साहित्येतिहासकारों ने किया है, वैसा अध्ययन द्विवेदी युग के सन्दर्भ में नहीं किया गया है। साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों पर इस युग में सबसे कम ध्यान दिया गया है। किसी भी हिन्दी साहित्येतिहास ग्रंथ में इस युग की केन्द्रीय साहित्यिक प्रवृत्ति पर ध्यान नहीं दिया गया है। उसी अनुपात में इस युग की परिस्थितियों पर भी कम ध्यान दिया गया है। इस युग को लेकर अधिकतर साहित्येतिहासकार 'भाषा-संस्कार-चर्चा' तक सीमित करके देखते हैं। यह सही है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से खड़ी बोली को इस प्रकार परिमार्जित किया कि सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में कहे तो "हिन्दी कविता ने अब तुतलाना छोड़ दिया। अब वह 'पिय' को 'प्रिय' बोलने लगी।"[57] किन्तु इसी क्रम में उन्होंने हिन्दी पर साहित्यिक भाषा के रूप में एक नकारात्मक प्रभाव भी छोड़ा, जिसे डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है, "हो सकता है कि 'सरस्वती' सम्पादक ने

---

[56]. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.२१७

[57]. पल्लव, भूमिका-सुमित्रानंदन पंत, पृ.१५

खड़ी बोली पर आधारित तत्कालीन नई हिन्दी भाषा को एक पहिचान और अस्मिता तो दी, पर उसके आन्तरिक विकास की गति को मन्द कर दिया। व्याकरण का लाभ रचना की कठिनाई में बदल गया। हिन्दी गद्य में प्रतिमानीकरण और नवीकरण की प्रसन्न द्वन्द्व-प्रक्रिया उस बिन्दु से आगे बहुत गतिशील नहीं हो पा रही।"[58] यह दृष्टिकोण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अवदान को कम करके कहीं भी नहीं आँकता, बल्कि साहित्यिक विकास क्रम को अपनी स्थिति के साथ प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार इस समय की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों को भी प्रायः अनदेखा किया गया है।

द्विवेदी युग के बाद हिन्दी साहित्य में छायावाद का उदय होता है और भारतीय राजनीति में महात्मा गाँधी का। गाँधी के राष्ट्रव्यापी आन्दोलन के आगे छायावादी कविता को पहले तो पलायनवादी कहा गया फिर व्यक्तिवादी। वास्तव में छायावाद के आरंभिक आलोचकों एवं साहित्येतिहासकारों ने छायावाद को समझने में भूल तो की ही, किन्तु साथ में उन्होंने छायावादी काव्य से यह भी उम्मीद जाने-अनजाने लगाई कि कविता को राजनीति का पिछलग्गू होना चाहिए था, या कि गाँधी जी के आन्दोलन का। छायावादी काव्य में उन्हें चूँकि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं देखने को मिला, इसलिए उसके खिलाफ पलायनवाद का फतवा जारी किया गया। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों पर दृष्टि फेरे बगैर ही छायावाद को मधुचर्या आदि उपमाएँ दी गई। पलायनवाद और व्यक्तिवाद की अधिक सामाजिक होने की व्याख्या बाद के आलोचकों नामवर सिंह आदि ने की है।

प्रगतिवादी साहित्य के उदय के साथ ही हिन्दी आलोचना ने उसे विदेशी विचारधारा से प्रेरित घोषित कर दिया। जिस छायावादी काव्य के पलायनवाद से हिन्दी आलोचना को बैर था उसने प्रगतिवादी काव्य की समाज सापेक्षता पर प्रहार करने शुरु कर दिए। इसका प्रभाव हिन्दी साहित्येतिहास लेखन पर भी देखा जा सकता है। हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने भी प्रगतिवाद को प्रायः पूर्णतः मार्क्सवाद से प्रेरित साहित्यधारा माना, बजाए यहाँ कि परिस्थतियों में उसकी आवश्यकता को रेखांकित करने के। छायावादी आन्दोलन के उदय के साथ ही हिन्दी आलोचना एवं साहित्येतिहास लेखन में विदेश से शैली एवं भावों के आयतीत होने के विचार ने जोर पकड़ा, जो प्रगतिवादी आन्दोलन के विवेचन-विश्लेषण के क्रम में अपने चरम पर जा पहुँचा। डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी प्रगतिशील एवं प्रगतिवाद में अन्तर को इसी आधार पर अलग किया है कि प्रगतिवाद मार्क्सवादी विचारधारा का साहित्यिक संस्करण है और प्रगतिशील साहित्य नहीं है। यह एक साहित्येतिहासकार की असाहित्यिक समझ का नतीजा है। इसी प्रकार

---

[58]. हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.२१

इस काल में साहित्येहासकारों ने पूर्ववर्ती कालों की भाँति राजनीतिक परिस्थितियों पर ही अधिक ध्यान केन्द्रित किया है, किन्तु उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि प्रगतिवादी समय-सीमा में देश का विभाजन हुआ और इसकी कोई भी प्रतिध्वनि काव्य में सुनाई नहीं देती है। इसके क्या कारण थे? इस पर प्रायः सभी साहित्येतिहासकार मौन हैं। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न और अधिक गहरा तब हो जाता है, जब गद्य साहित्य में विभाजन की त्रासदी को अधिक संवेदनशीलता एवं सूक्ष्मता से चित्रित किया जाता है और काव्य में नहीं। इसके अतिरिक्त इस काल की परिस्थतियों को ध्यान में रखकर साहित्यिक प्रवृत्तियों को द्विवेदी युग की भाँति रेखांकित भी नहीं किया गया। जैसे गद्य साहित्य एवं काव्य में जो फाँक नज़र आती है, हिन्दी आलोचना एवं उसकी शब्दावली में आनेवाली नवीन धारणाएँ-अवधारणाएँ आदि तो दूसरी ओर परिस्थितियों में देश का विभाजन, गाँधी जी की हत्या आदि।

इसी प्रकार हिन्दी में प्रयोगवादी कविता, नई कविता और उसके बाद आनेवाले साहित्यिक आन्दोलनों, हिन्दी रंगमंच में आनेवाले इप्टा (IPTA), जनवादी नाट्य मंच आदि मंचन मंडलियों, नाट्य साहित्य में आनेवाली पौराणिक-मिथकीय चेतना, काव्य- नाट्य का जोरदार प्रसार, विभिन्न किसान-मज़दूर आन्दोलनों एवं उसके साथ आनेवाले नुक्कड़ नाटक, प्रगितावाद से भिन्न किन्तु वैचारिक स्तर पर उसी से जुड़नेवाली जनवादी कविता, दुष्यन्त के माध्यम से हिन्दी में ग़ज़ल का चरमोत्कर्ष आदि को उनकी युगीन परिस्थतियों में सूक्ष्मता से विवेचित करना अभी बाकी है। डॉ.बच्चन सिंह, डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि साहित्येतिहासकारों ने इस दिशा में पहल की है। आगे आनेवाले साहित्येतिहासकार इस पर ध्यान अवश्य देंगे कि साहित्येतिहास में प्रवृत्तियों के लिए परिस्थितियाँ हमेशा पृष्ठभूमि में रहकर कार्य करती हैं। यह भी सही है कि हमेशा सामाजिक विकास के साथ ही साहित्य का विकास नहीं होता, साहित्य का विकास अपने आन्तरिक अनुशासन से भी विकसित होता रहता है।

६.५ रचना, रचनाकार, मूल्य एवं साहित्य-दृष्टि

साहित्य का इतिहास साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों का इतिहास मात्र नहीं होता है। उसमें साहित्य का क्रमवार युगानुरूप विवेचन के अतिरिक्त इतिहासकार की रचना, रचनाकार सम्बन्धी साहित्यिक एवं जीवन-मूल्य सम्बन्धी दृष्टि की भी अभिव्यक्ति अनायास हो जाती है। साहित्य, साहित्य सम्बन्धी दृष्टि एवं मूल्य समूहनिष्ठ धारणाएँ होने के अतिरिक्त कई मायनों में वह व्यक्तिनिष्ठ भी होती है। उदाहरणार्थ साहित्य और समाज के सम्बन्धों, सौन्दर्यवादी मानदण्डों आदि को लेकर सार्वभौम नियम

नहीं बनाए जा सकते हैं, किन्तु जो नियम बनाए गए हैं, उनमें पूर्णतः विभेद भी निर्माण नहीं किया जा सकता है। इस रूप में हिन्दी साहित्येतिहास ग्रंथों में विभिन्न रचनाकारों और उनकी रचनाओं का जो मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है, उनमें भिन्नता होते हुए भी साहित्यिक दृष्टि से कई समानताएँ भी देखने को मिलती हैं।

हिन्दी साहित्येतिहास में आरंभ से ही रचना एवं रचनाकारों को लेकर मूल्य-दृष्टि में विविधता देखने को मिलती है। इस सम्बन्ध में साहित्यिक मानदण्डों, लोक-दृष्टि, शास्त्रीय दृष्टिकोण, साहित्येतिहास में विशिष्ट रचना-रचनाकार का स्थान आदि को लेकर विभेद देखने को मिलते हैं। इसमें कभी वस्तुवादी दृष्टिकोण से रचना-रचनाकारों को देखा गया तो कभी रूपवादी दृष्टिकोण से। रचनाओं की सामाजिक भूमिका को लेकर भी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में कई दृष्टिकोणों को प्रचलित होते देखा जा सकता है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के आरंभिक समय में निर्मित 'देव बड़े कवि हैं या बिहारी बड़े कवि हैं?' विवाद के मूल में साहित्य की मूल्य दृष्टि को कार्यरत होते हुए देखा जा सकता है। इस विवाद का साहित्य की सामाजिक भूमिका का शायद ही कोई सम्बन्ध रहा होगा। यह मात्र एक साहित्य की रूपवादी धारा के बीच निर्मित साहित्यिक विवाद था। इस विवाद में देव और बिहारी को दोनों पक्षों ने पारम्पारिक शास्त्रीय रूपवादी प्रतिमानों के आधार पर बड़ा कवि सिद्ध करने का प्रयास किया। वास्तव में हिन्दी साहित्येतिहास ही नहीं हिन्दी आलोचना को भी आरंभ में रीतिकालीन मानदण्डों पर प्रस्तुत किया गया है, जिसमें मूल्यांकन के आधिकांश प्रतिमान प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र से उधार लिए गए थे। यह साहित्यिक मूल्यांकन के पारम्पारिक मूल्य थे, जिसके अनुसार काव्य या साहित्य का महत्व उसके शुध्द साहित्यिक प्रतिमानों पर खरा उतरना तय किया जाता था।

आरंभ में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन या तो पूर्णतः रूपवाद था अथवा वह रूप पक्ष की वह पूर्णतः अवहेलना करते हुए, साहित्यिक कृतियों की कथावस्तु प्रस्तुत कर रचनाकारों के जीवन परिचय को लिपिबद्ध कर देने में ही अपनी इतिश्री समझता था। यही कारण है कि वहाँ इतिहास और आलोचना का 'कनककुंडलवत्' सन्तुलन नहीं हो पाया। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ऐसा प्रथम ग्रंथ है, जिसमें इतिहास और आलोचना, साहित्यिक मूल्य और सामाजिक मूल्य, लोक और जन में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। चूँकि यहाँ विभिन्न प्रकार के मूल्यों को साहित्येतिहास में समाहित किया गया इसलिए यह स्वाभाविक है कि इसकी मूल्यांकन की दृष्टि एवं विभिन्न मूल्यों को लेकर कई विवाद भी खड़े हों। आचार्य शुक्ल द्वारा आदिकाल

से लेकर आधुनिक काल तक विभिन्न रचनाओं एवं रचनाकारों के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण अपनाया गया, वह उनके बाद के साहित्येतिहास लेखन में विवाद एवं विमर्श का विषय रहा। उनके द्वारा आदिकालीन रासो काव्य, भक्तिकाल में सगुण कवियों, रीतिकाल में रीतिमुक्त कवियों, छायावाद में पंत आदि रचनाकारों को साहित्येतिहास में अतिरिक्त महत्व देकर आदिकालीन सिद्ध-जैन-नाथ साहित्य, भक्तिकालीन निर्गुण सन्त कवियों, रीतिकालीन आचार्यों, छायावाद में निराला, महादेवी वर्मा को पंत से कमतर आँकना आदि ऐसे ऐतिहासिक प्रसंग हैं, जिसमें उनकी साहित्यिक एवं तत्संबंधी मूल्य-दृष्टि स्पष्ट होती है। आदिकालीन अप्रामाणिक, अर्द्धप्रामाणिक या बाद की रचनाओं के आधार पर उन्होंने तत्कालीन युद्धों के सामन्ती वातावरण को सिद्ध करते हुए इस काल का नामकरण किया। इस तरह आचार्य शुक्ल की दृष्टि में आदिकालीन साहित्य के निर्माण के पीछे सामन्ती वातावरण की प्रेरणा की दृष्टि कार्य कर रही थी और उन्होंने इस समय के साहित्य को अपनी सांस्कृतिक-साहित्यिक दृष्टि से भिन्न पाते हुए साहित्यिक क्षेत्र से ही वंचित कर दिया था। भक्तिकालीन साहित्य के आरंभ में उन्हें निर्गुण संत साहित्य के रूप में उनके द्वारा साहित्य क्षेत्र से वंचित किए गए सिद्ध-जैन-नाथ साहित्य का ही अलग रूप देखने मिला, जिसे उन्होंने साहित्यिक कसौटी पर आँककर परवर्ती भक्ति साहित्य की तुलना में कमतर आँका। रैदास-कबीर आदि निर्गुणिया सन्तों की वाणियों के सामाजिक जुड़ाव और साहित्यिकता को लेकर आचार्य शुक्ल में मन में कोई शंका नहीं थी। उन्होंने तो कबीर के बहाने सारे सन्त साहित्य के सन्दर्भ में ही लिखा है, "यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य-चमत्कार-पूर्ण बातें निकलती थी। इनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था।"[59] लेकिन जीवन के सम्पूर्ण पक्षों का चित्रण न होने के कारण उन्होंने मुक्तक काव्य को कभी तरजीह नहीं दी। इसके अतिरिक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक एवं जीवन मूल्य उन्हें सन्त साहित्य में व्याप्त रहस्यवाद को साहित्य के बाहर की वस्तु मानने पर विवश करते थे। उन्होंने न केवल सन्त साहित्य में चित्रित रहस्यवाद का खुलकर विरोध किया अपितु छायावादी रहस्यवाद को भी साहित्य में विदेशी प्रभाव माना।

आचार्य शुक्ल के साहित्यिक एवं जीवन मूल्य रचनाकार-रचना में मानव-प्रेम, देशप्रेम एवं उसकी व्यापकता के पक्षधर हैं। उन्होंने मानव जीवन की गहराई को साहित्य का अनिवार्य विषय माना और इस आधार पर साहित्य का मूल्यांकन अपने साहित्येतिहास में किया। चूँकि उन्हें सन्त साहित्य में सम्पूर्ण मानव

---

[59]. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.४४

जीवन का चित्रण नहीं मिला, इसलिए उन्होंने सन्त साहित्य को तुलसी साहित्य से नीचे का स्थान दिया। इसी आधार पर उन्होंने सूरदास के साहित्य को भी अपनी गहराई के बावजूद जायसी के समन्वयवादी व्यापक जीवन मूल्यों के चलते अधिक महत्त्वपूर्ण माना। जायसी एवं पंत साहित्य में आए निसर्ग चित्रण की उन्होंने भूरी-भूरी प्रशंसा की है। भारतेन्दु की 'चन्द्रावली' नाटिका में आया निसर्ग चित्रण भी उन्हें आकर्षित करता है। मानवीय मन की दशाओं एवं दिशाओं के अनुसार किये गये प्रकृति चित्रण को उन्होंने अधिक श्रेयस्कर मानते हुए जायसी द्वारा किए गए नागमती के विरह प्रसंग के प्रकृति चित्रण को अधिक सराहनीय माना है। निर्गुण-सगुण साहित्य के मूल्यांकन के प्रसंग में आचार्य शुक्ल की दार्शनिक मान्यताओं से अधिक इन साहित्यिक मूल्यों को कारगर रूप में प्रयोग में लाते हुए देखा जा सकता है।

साहित्य को जीवन की व्यापकता में देखते हुए भी आचार्य शुक्ल ने उसके प्रसंग विशेष पर भी ध्यान केन्द्रित कर उसके गहराई को भी महत्व दिया है। इसी आधार पर उन्होंने सूरदास के बाललीला के पदों, 'रामचरिचतमानस' के कई प्रसंगों और इतना ही नहीं बिहारी के 'चुने हुए गुलदस्तों' के कई प्रसंगों की सराहना की है। जीवन की व्यापकता के साथ वे साहित्य में गहराई को लिए रसपूर्ण प्रसंगों को भी साहित्य में विवेच्य मानते हैं, किन्तु उसमें भी जीवन 'सागर' को ढूँढ़ने से नहीं चूकते। जिस प्रकार विविधरंगी होता है, वैसे ही रंगों की अपेक्षा आचार्य शुक्ल साहित्य से करते हैं, किन्तु साहित्य का मर्यादावादी होना अनिवार्य मानते हैं। साहित्य को जीवन का पथ-प्रदर्शक एवं जीवन को साहित्य का प्रेरणास्रोत मानते हुए उन्होंने अपने साहित्यिक मूल्य तय किए हैं। यही कारण है कि उन्होंने किसी एक रस को 'रसराज' स्पष्ट रूप में कहीं नहीं माना है। जीवन के समन्वय मानने वाले आचार्य शुक्ल ने साहित्य में भी 'विरोधों के सामंजस्य' के चित्रण का विवेचन-विश्लेषण किया है। उन्होंने साहित्य में चित्रित 'सिद्धावस्था' से अधिक 'साधनावस्था' को महत्व दिया। यहाँ उनकी दृष्टि जीवन-संघर्ष को साहित्य का विषय सिद्ध करती है।

रूप के स्तर पर देखा जाए तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का साहित्यिक विजन अधिक-से-अधिक व्यापकता की ओर आकर्षित करता था, इसलिए उनके साहित्येतिहास में मुक्तक की अपेक्षा महाकाव्य और कहानी की अपेक्षा उपन्यास को अधिक तरजीह दी गई है। रूप पक्ष के विवेचन में भी उनके साहित्यिक मूल्यों को कार्यरत देखा जा सकता है। उन्होंने महाकाव्य को 'विस्तृत वनस्थली' तो मुक्तक को 'चुना हुआ गुलदस्ता' कहा है। मुक्तक की अपेक्षा जीवन की व्यापकता उन्हें महाकाव्य में देखने को मिली। उनकी साहित्यिक दृष्टि में हमेशा व्यापकता को प्राथमिकता पाते हुए देखा जा सकता है। हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का प्रवेश नाटकों से होने पर चौकनेवाले आचार्य शुक्ल आधुनिकता की व्याख्या

देशी दृष्टिकोण से करते हुए उसे विदेशी विचारों से प्रभावित मानने में तनिक भी नहीं हिचकते हैं। उन्होंने नाटक विधा की सामाजिकता के साथ ही उपन्यास की सुधारवादी भूमिका को भी अपने साहित्यिक मूल्यों में समाहित कर लिया था। उन्होंने एक ओर तो उपन्यास को विदेशी प्रभाव से हिन्दी में लिखा जाना माना, किन्तु उसकी कथा को अत्यन्त भारतीय मानते हुए उसे युग आवश्यकता के रूप में देखा। हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता को साहित्य के विकास का एक अंग मानते हुए, उसे खड़ी बोली के विकास से जोड़ने का प्रयास किया। एक ओर जहाँ आचार्य शुक्ल ने भक्तिकालीन कवियों के बोलियों लिखित साहित्य को अपने इतिहास के केन्द्र में रखा तो दूसरी ओर आधुनिक साहित्य में खड़ी बोली का भी जमकर स्वागत करते हुए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा किए गए भाषा संस्कार की भी सराहना की। उन्होंने जिस आधार पर निर्गुण सन्तों की काव्यभाषा को मिश्रित कहा था, उसी आधार पर वे खड़ी बोली को मूल्यांकित नहीं कर पाए थे, क्योंकि भारतेन्दु तथा द्विवेदी युगीन हिन्दी गद्य में मिश्रित भाषा की ही प्रयोग होता था।

आचार्य शुक्ल के साहित्य मूल्यों एवं उनके द्वारा साहित्यिक प्रतिमानों के रूप में प्रयुक्त जीवन मूल्यों को परम्परावादी अथवा सामन्तवादी के रूप में देखा गया हो, किन्तु उन्होंने न तो प्रत्येक कवि के ऐतिहासिक मूल्यांकन के सन्दर्भ में इन्हें प्रयुक्त किया है और न ही किसी एक प्रतिमान के आधार पर ही उन्होंने सम्पूर्ण साहित्येतिहास का विवेचन-विश्लेषण किया है। साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं कवि की युगीन चेतना को भी उन्होंने कई बार ध्यान में रखते हुए साहित्यिक एवं जीवन मूल्यों में ढील दी है। कई बार उन्होंने साहित्यकार के सम्पूर्ण कृतित्व पर ध्यान देने की अपेक्षा किसी एक रचना के आधार पर सम्पूर्ण मूल्यांकन प्रस्तुत कर दिया है, जैसे तुलसीदास के ही प्रसंग में देखा जाए तो उन्होंने उनकी १२ रचनाएँ गिनाई हैं, किन्तु उनकी सम्पूर्ण दृष्टि 'मानस' पर ही केन्द्रित दिखाई देती है। जायसी के प्रसंग में भी प्रायः यही बात हुई है। इतना होते हुए भी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को रीतिवादी मानसिकता एवं प्रतिमानों से बाहर निकालकर उसे जीवन-क्षेत्र के यथार्थवादी प्रतिमानों के साथ मेल कराने का श्रेय आचार्य शुक्ल को दिया जाना चाहिए। उनके पूर्ववर्ती इतिहासकार जहाँ नीरी साहित्यिक चर्चा तक साहित्येतिहास को सीमित कर दिया करते थे, उन्होने समकालीन राजनीति एवं समाजनीति से साहित्येतिहास को जोड़ने का प्रयास किया है।

हिन्दी साहित्येतिहासों को क्रमशः पढ़ने से एक ऐसी छवि निर्माण होती है कि इसमें मूल्यों की टकराहट साफ झलकती है। यह टकराहट उतनी मुखर रूप में नहीं है, जितनी यह हिन्दी आलोचना में दिखाई देती है। आचार्य शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मत भिन्नताओं को भी हिन्दी

साहित्येतिहास लेखन के क्रम में मूल्यों की टकराहट के रूप में देखा जा सकता है। यह मूल्यों की भिन्नता साहित्यिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर ही नहीं, प्रस्तुत इतिहासकारों के समकालीन समाज की वैचारिक भिन्नता की भी गवाही देती है। इस सम्बन्ध में मैनेजर पाण्डेय का कहना है, "आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के आधे भाग में हिन्दी साहित्य के अविर्भाव काल से लेकर रीतिकाल तक पर विचार किया है और आधे भाग में आधुनिक काल पर। द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के उपसंहार में आधुनिक काल की बहुत संक्षिप्त चर्चा की है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में आधुनिक काल की संक्षिप्त चर्चा में न तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उल्लेख है और न स्वाधीनता आन्दोलन पर विचार हुआ है।...द्विवेदी जी ने इस कमी को 'हिन्दी साहित्य' में पूरा किया।"[60]

आचार्य शुक्ल ने जिन साहित्यिक रचनाओं एवं साहित्यकारों को 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में अपने साहित्यिक-सांस्कृतिक-सामाजिक मूल्यों-विचारधारा आदि के चलते उन्हें स्थान देने से मना किया या स्थान दिया, उन्हें साहित्यिक-सामाजिक इतिहास में स्थापित करने का प्रयास आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा किया जाना दोनों इतिहासकारों की मूल्यों की ओर इंगित करता है। यह टकराहट नदी के भीतर बहते हुए जल की भाँति अत्यन्त शान्त रूप में इतिहास ग्रंथों में चलती है, जिसमें कभी-कभार एक छोटा-सा व्यंग्य का ज्वार अवश्य आ जाता है। यह मूल्य भिन्नता प्रायः भक्तिकालीन साहित्य में अधिक मुखर रूप में देखने को मिलती है, जिसमें सन्त साहित्य को लेकर दोनों इतिहासकारों में विचार-वैविध्य देखने को मिलता है। आचार्य शुक्ल जहाँ अपनी 'जन' दृष्टि में कबीर आदि निर्गुणिया सन्तों को समा नहीं पाते हैं, वही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उसे 'लोक' दृष्टि से देखने का प्रयास करते हुए, सिद्ध-नाथ परम्परा की साहित्येतिहास में सन्त साहित्य को इतिहास की आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत किया। वैसे देखा जाए तो आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास में भले ही पढ़े-लिखे 'जन' की सुसंस्कृत दृष्टि का प्रभाव रहा हो किन्तु उन्होंने साहित्य का मूल उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उसमें 'लोकमंगल' का विधान होना अनिवार्य समझा। यहाँ उनकी दृष्टि में फाँक निकाली जा सकती है, किन्तु साहित्य के उद्देश्य को उन्होंने जहाँ अधिक व्यापक बनाते हुए 'लोक' को समाहित कर लिया वहीं उसके मूल्यांकन के लिए 'जन' अभिरुचि को ध्यान में रखा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक-सामाजिक मूल्य मात्र 'लोक' को ही साहित्य का विषय और उसे ही साहित्य का लक्ष्य मानने के पक्ष में थे। यही बात दोनों इतिहासकारों को

---

[60]. साहित्य और इतिहास दृष्टि-मैनेजर पाण्डेय, पृ.१५९-१६०

भिन्न करती है।

ध्यान देने की बात है कि तमाम मतवैभिन्यता के बावजूद रीतिकालीन साहित्य पर आचार्य शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लगभग एक सी राय रखी है, जिसमें समाज एवं साहित्य के अनिवार्य सम्बन्धों को तरजीह दी गई है और रीतिकालीन साहित्य को तत्कालीन समाज से कटा हुआ पाया। दोनों इतिहासकारों की दृष्टि में अन्तर मात्र इतना है कि जहाँ आचार्य शुक्ल ने इसे 'विचित्र संयोग ही नहीं ऐतिहासिक ट्रैजिडी' कहा तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'परम्परा के विकास' के दृष्टिकोण के चलते रीतिकालीन साहित्य का सम्बन्ध उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य से जोड़ा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जिस प्रकार प्रत्येक साहित्यिक प्रवृत्ति का विकास संस्कृत से लेकर हिन्दी साहित्य में क्रमशः दिखाया है, उसी क्रम में आचार्य शुक्ल ने कई बार दिखाया है। विशेष रूप से छायावाद में अभिव्यक्त रहस्यवाद के सम्बन्ध में उन्होंने महादेवी वर्मा के काव्य में अभिव्यक्त रहस्यवाद के प्रसंग में कबीर, मीरा आदि भक्तिकालीन कवियों के रहस्यवाद का भी उल्लेख किया। इसके साथ ही उन्होंने रहस्यवाद के विदेशी स्त्रोत पर भी पर्याप्त चर्चा की।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में सामाजिक-राजनीतिक इतिहास की भी कई अवधारणाओं का अनायास समावेश हो जाता है। नवजागरण, आधुनिकता, साहित्य और विचारधारा का सम्बन्ध, साहित्य और विभिन्न विमर्शों से साहित्य को जोड़ा जाना, साहित्य और सामाजिक आन्दोलन के सम्बन्ध आदि ऐसी ही धारणाएँ हैं, जिसने साहित्येतिहास को नवीन शब्दावली और नए विचार दिए हैं। 'पुनर्जागरण' या 'नवजागरण' शब्दों के उपयोग एवं उसमें निहित अर्थ-भिन्नता को मूल्य दृष्टि के रूप में देखा जा सकता है। हिन्दी साहित्येतिहास में आधुनिकता का अविर्भाव नवजागरण के रूप में हुआ। सामुहिकता एवं सामाजिक समानता के विचार भारतीय नवजागरण के मूल में थे। हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने हिन्दी में आधुनिकता के प्रवेश को लेकर कई विचार अभिव्यक्त किए हैं, जिनमें नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध आदि विधाओं का उदय और साहित्य में नवीन विचारों का प्रवेश महत्त्वपूर्ण है। आचार्य शुक्ल हिन्दी में 'गद्य युग' का प्रारंभ नाटक से होने के एक अभूतपूर्व घटना के रूप में देखते हुए चौक पड़ते हैं, वहीं डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी इसे हिन्दी नवजागरण की चेतना के अनुरूप बताते हुए सामुहिकता से जोड़ते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक चिन्तन मूलतः मध्यकाल तक के साहित्य तक ही सीमित रहा। डॉ.बच्चन सिंह ने हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के प्रवेश के लिए विदेशी शिक्षा प्रणाली, प्रेस का आगमन आदि कारणों को गिनाते हुए साहित्य से उसका अन्तःसम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया

है। प्रायः प्रत्येक हिन्दी साहित्येतिहासकार ने हिन्दी साहित्य में आधुनिक चेतना को प्रथम अभिव्यक्त करने का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को दिया है। भारतेन्दु द्वारा लिखित नाटक, निबंध और उनकी साहित्यिक पत्रकारिता को माध्यम बनाए जाने का प्रायः प्रत्येक साहित्येतिहासकार ने उल्लेख किया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' पत्रिका को माध्यम बनाकर खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में संस्कार किए जाने के प्रयासों को साहित्येतिहासकारों एक स्वर में मान्यता दी है।

छायावादी काव्यान्दोलन को लेकर आचार्य शुक्ल से लेकर डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी तक के साहित्येतिहासकारों में मतवैभिन्य देखा जा सकता है। इस क्रम में साहित्येतिहास में छायावादी रचनाकारों एवं रचनाओं के सम्बन्ध में भी मूल्य एवं मूल्यांकनसंबंधी भेद देखे जा सकते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद को दो रूपों में ग्रहण किया था - एक तो रहस्यवाद के और दूसरे शैली विशेष के। इसमें उन्होंने रहस्यवाद को विदेशी साहित्य से तो शैली विशेष को बांग्ला कविता से प्रभावित माना था। आचार्य शुक्ल ने इसके अतिरिक्त मुकुटधर पाण्डेय की कई मान्यताओं को ग्रहण करते हुए छायावाद में निहित व्यक्तिवाद एवं सामाजिक असंपृक्तता को भी अप्रस्तुत रूप में रेखांकित किया था। छायावादी कवियों में उन्हें सुमित्रानंदन पंत विशेष प्रिय लगे थे। पंत के प्रकृति चित्रण को आचार्य शुक्ल ने एक ऐसे समय में राष्ट्रप्रेम से जोड़ा, जब छायावादी कविता को अपने समय-समाज से कटी कविता माना जाता था। बाद के साहित्येतिहासकारों ने पंत की अपेक्षा निराला एवं जयशंकर प्रसाद को क्रमशः अधिक महत्व दिया। यहाँ स्पष्ट रूप में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन लकीर का फ़कीर होने से बचता हुआ दिखाई देता है। यह अत्यन्त भ्रान्त धारणा है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन सैद्धान्तिक रूप में आचार्य शुक्ल से बहुत अधिक आगे नहीं बढ़ पाया है। समय-समय पर हुए शोधों के माध्यम से वर्तमान ने जहाँ हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को प्रभावित किया है, वहीं तत्कालीन आवश्यकताओं एवं विचारधाराओं के अनुसार भी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन ने अपना स्वरूप परिवर्तन किया है। जैसे प्रगतिवादी आन्दोलन एवं उससे प्रभावित होने के बाद हिन्दी साहित्येतिहास में रचनाकारों एवं रचनाओं की वही स्थिति नहीं रह गई जो पहले थी। इस सन्दर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा कबीर जैसे सामान्य माने जानेवाले कवि को महत्व देना अनायास न था।

हिन्दी साहित्येतिहास में उपन्यास के उद्भव एवं उसके प्रेमचन्दोत्तर विकास को लेकर उपन्यास की व्याख्या में परिवर्तन होते हुए देखा जा सकता है। भारतेन्दु युगीन उपन्यास कई दिशाओं में अपना विकास करता है। इस युग में जहाँ जासूसी, अय्यारी जैसे उपन्यास लिखे जा रहे थे वहीं सुधारवादी उपन्यास भी लिखे जा रहे थे। इसके बाद उपन्यास ने अपनी दशा एवं दिशा प्रेमचन्द के माध्यम से तय

की, जो हिन्दी उपन्यास के इतिहास में पैमाने के रूप में स्थित है। हिन्दी उपन्यास के इतिहास में बाद के उपन्यासकारों को प्रायः प्रेमचन्द को पैमाना बनाकर मूल्यांकित किया जाना, इस बात की ओर इंगित करता है कि हिन्दी साहित्येतिहासकार हिन्दी उपन्यास को अधिकांशतः ग्रामीण एवं आदर्शवादी-यथार्थवादी स्थिति में देखना अधिक पसन्द करते हैं। प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास प्रेमचन्द के परिवार की कहानी से बाहर निकलकर रेणु के माध्यम से गाँव या कथांचल को केन्द्र में रखता है। इतिहास और कई बार पौराणिक घटनाएँ भी उपन्यास का उपजीव्य बनती हैं। हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने इस प्रश्न को भी प्रायःअनुत्तरित ही छोड़ दिया है कि हिन्दी कहानी-उपन्यास ने तो स्वतंत्रता आन्दोलन एवं विभाजन की त्रासदी को बखूबी अभिव्यक्त किया है, किन्तु हिन्दी कविता में प्रायः इसके अप्रस्तुत भी संकेत क्यों नहीं मिलते हैं?

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद हिन्दी साहित्येतिहास लेखन साहित्यिक एवं सामाजिक मूल्यों को लेकर दो खानों में बँट गया। एक प्रकार की साहित्येतिहास दृष्टि का प्रतिनिधित्व आचार्य शुक्ल कर रहे थे तो दूसरे का आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी। आचार्य द्विवेदी के बाद के समय में बहुत सारे इतिहास ग्रंथ इन्हीं दो दृष्टियों को लेकर आगे बढ़ते रहे और कुछ मायनों में अभी भी बढ़ रहे हैं। डॉ.बच्चन सिंह ने 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को नवीन दृष्टि देने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने अपनी साहित्यिक दृष्टि का निर्माण अपने समकालीन साहित्य के आधार पर भी किया, उसी प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्य दृष्टि में उनके समकालीन प्रगतिवादी आन्दोलन के मूल्यों को सक्रिय रूप में देखा जा सकता है। ठीक उसी प्रकार डॉ. बच्चन सिंह ने अपने समय तक इतिहास पर हुए शोधों का आधार अपने साहित्येतिहास लेखन के लिए किया। इसी क्रम में डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी का नाम भी लिया जा सकता है। हिन्दी साहित्य में चल रहे विमर्शवादी स्वर का प्रभाव ही है जो हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में सुमन राजे के 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' के रूप में सामने आया है। नए मूल्यों के उद्‌भव के साथ हर पीढ़ी को नए साहित्येतिहास की आवश्यकता महसूस होती रहेगी, जिसमें अनिवार्य रूप से पिछली पीढ़ी के साथ मूल्य-संघर्ष निर्माण होगा। इसे नए साहित्येतिहास के माध्यम से ही पूर्ण किया जा सकेगा।

६.६ आधुनिकता, आधुनिकीकरण, समाज और साहित्य

आधुनिकता मूल्याधारित धारणा है और मूल्य व्यक्तिनिष्ठ एवं समाजनिष्ठ दोनों हो सकते हैं।

समय के साथ मूल्यों में बदलाव अवश्य देखा जा सकता है किन्तु कुछ सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य प्रत्येक प्रकार के समाज के लिए समान रूप से अनिवार्य होते हैं। प्रायः प्रत्येक पीढ़ी अपने साहित्य के साथ अतीत के साहित्य का भी पुनर्मूल्यांकनकरती है। साहित्येतिहास वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अतीत के साहित्य को मूल्यांकन करता है, वहीं वह अतीत के मूल्यों को आधार बनाकर तद्युगीन साहित्य और सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। साहित्य और समाज के सम्बन्धों को युगानुरूप दिखाते जाना भी साहित्येतिहासकार का कार्य होता है। हिन्दी साहित्येतिहास के सन्दर्भ में यह कार्य साहित्येतिहास की अवधारणा के विकास के साथ अधिक पुष्ठ होता गया और आधुनिकता के प्रवेश ने साहित्येतिहास की अवश्यकता को और अधिक तीव्र किया। ऐसे में आधुनिकता की अवधारणा भी साहित्य को समझने-समाझाने का न केवल माध्यम बनी बल्कि उसने इतिहास एवं इतिहास लेखन की मूल चेतना को भी विकसित किया। इसलिए हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आधुनिकता, आधुनिक साहित्य, समाज एवं संस्कृति से साहित्य के सम्बन्धों को किस प्रकार प्रस्तुत किया गया, इसे देखना अनिवार्य हो जाता है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में ऐतिहासिक चेतना का पूर्ण रूप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में पहले-पहल देखने को मिलता है। इससे पूर्व लिखित साहित्येतिहास किसी महतोद्देश्य को लेकर नहीं लिखे गए हैं। इनकी साहित्यिक चेतना-शून्यता को आचार्य शुक्ल ने सही रूप में रेखांकित करते हुए इन्हें ठीक ही 'कवि-वृत्त-संग्रह' कहा था। उनसे पूर्व लिखित इतिहास-ग्रंथ या तो शासकों को समर्पित थे या तो विदेश में बैठकर भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में बखान कर रहे थे। आचार्य शुक्ल का इतिहास-लेखन इतिहास की प्रथम आवश्यकता को पूर्ण करते हुए 'नागरी प्रचारिणी सभा', काशी द्वारा सम्पन्न विस्तृत शोधों पर आधारित था। आचार्य शुक्ल ने न केवल इतिहास को आधुनिक रूप में देखा अपितु आधुनिकता को भी अपने साहित्येतिहास में समझने-समझाने का प्रयास करते हुए हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल को 'गद्य काल' के रूप में रेखांकित किया। उन्होंने हिन्दी साहित्य के 'गद्य काल' का आरंभ नाटकों से मानते हुए इसे 'विलक्षण' बात कहा था। उन्होंने लिखा है, "विलक्षण बात यह है कि आधुनिक-गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।"[61] वैसे आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल की सबसे बड़ी विशेषता गद्य का अविर्भाव माना। उन्होंने लिखा, "आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव सबसे

---

[61]. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.२४८

प्रधान साहित्यिक घटना है।"[62] वास्तव में उन्होंने भारत में आधुनिकता के प्रवेश की चर्चा के सन्दर्भ में पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था के साथ-साथ भारतीय परम्परा को भी कारण माना था। यही कारण है कि जब गद्य साहित्य को वे आधुनिक साहित्य की सबसे बड़ी घटना मान रहे होते हैं, तभी वे इससे पूर्व के गद्य साहित्य के इतिहास को भी प्रस्तुत करते हैं। वे फोर्ट विलियम कॉलेज के तीन महत्त्वपूर्ण गद्यकार लल्लू लाल, सदल मिश्र और सदासुख लाल के अवदान को प्रस्तुत करते समय इनसे पूर्व के गद्य साहित्य के विकास को 'आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था' शीर्षक के अन्तर्गत विवेचित-विश्लेषित करना नहीं भूलते हैं। अर्थात् आचार्य शुक्ल के आधुनिक साहित्य की अवधारणा के अन्तर्गत 'परम्परा का स्वतःस्फूर्त विकास' का समावेश अपने-आप हो जाता है।

हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का विवेचन करने के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पास तीन प्रमुख बिन्दु थे। पहला था भारत में पुनर्जागरण की चेतना का प्रवेश, दूसरा हिन्दी गद्य का विकास और तीसरा बिन्दु खड़ी बोली का साहित्य में स्वीकार था। हिन्दी साहित्य में आधुनिक चेतना को समझाने के लिए आचार्य शुक्ल ने रीतिकालीन साहित्य से आधुनिक साहित्य की तुलना करना उचित समझा। उन्होंने हिन्दी गद्य का विकास दिखाते समय विठ्ठलनाथ, सूरती मिश्र, वैकुंठमणी शुक्ल के ग्रंथों का उल्लेख करना आवश्य समझा। उन्होंने खड़ी बोली के गद्य की परम्परा भी अलग से दिखाना उनके लिए इसलिए आवश्यक था कि हिन्दी के आधुनिक काल के प्रथम उत्थान के गद्य साहित्य के लिए निर्विवाद रूप में खड़ी बोली का प्रयोग किया जा रहा था। इसके साथ ही आचार्य शुक्ल के इतिहास में हिन्दी-उर्दू विवाद की भी संक्षिप्त में चर्चा की गई है, जो खड़ी बोली विकास में फोर्ट विलियम कॉलेज के योगदान को ध्यान में रखते हुए अनिवार्य हो गई थी। हिन्दी उपन्यास को विदेशी प्रभाव मानते हुए उसकी अवधारणा को शुक्ल जी ने अकुंठ भाव से हिन्दी में उपन्यास जैसी विधा का स्वागत किया, जिसे वे 'अंगरेज़ी ढंग का नॉवल' कहते हैं। हिन्दी कहानी के विकास की जड़ें आचार्य शुक्ल भारतीय परम्परा में खोजने का प्रयास करते हैं।

आत्मालोचना एवं सामाजिक कुरीतियों की आलोचना के साथ-साथ राष्ट्रीयता का विकास भी भारतीय आधुनिकीकरण की अनिवार्य विशेषताएँ थी। हिन्दी के अधिकांश आरंभिक उपन्यासों में भारतीय समाज व्यवस्था की कई परम्पराओं पर टिप्पणियों के साथ-साथ सुधारवादी प्रवृत्ति भी दिखाई देती है,

---

[62]. वही, वक्तव्य, पृ.०९

जिसे आचार्य शुक्ल का मर्यादावादी भाव सहर्ष स्वीकार करता है। संभवतः यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने हिन्दी के आधुनिक कालीन नितान्त नवीन इस विधा का जमकर स्वागत किया। प्रायः हिन्दी कहानी के साथ भी यही प्रक्रिया दोहराई जा रही थी। तत्कालीन परिस्थितियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों को समझने वाले आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में नाटकों के अचानक प्रादुर्भाव को समझने में भूल कर दी। वे इसे नहीं समझ पाए कि आधुनिकता ने सामुहिक चेतना को भी बढ़ावा दिया, जो नाटक विधा के मूल में है। नाटक के मंचन से लेकर उसके आस्वाद तक एक समूह की आवश्यकता होती है। ब्राह्मों समाज, सत्यशोधक समाज आदि संस्थाओं के नाम में 'समाज' का होना इसी ओर संकेत करता है कि आधुनिक काल का आरंभ नाटकों से होना अनिवार्य सा हो गया था, जो पुनर्जागरण की चेतना के अनुकूल था। संक्षेप में कहा जाए तो आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य एवं समाज में आनेवाली इस चेतना को समझने-समझाने में महती भूमिका का निर्वहन किया। उन्होंने समाज एवं साहित्य की बदलती हुई चेतना को अपने इतिहास-ग्रंथ में लिपिबद्ध करने का प्रयास किया। बाद के इतिहासकारों के लिए आचार्य शुक्ल की आधुनिकता की समझने पथ-प्रदर्शन किया।

भारतेन्दु युगीन चेतना को आधुनिकता का काल, पुनर्जागरण का काल अथवा नवजागरण का काल आदि नामों से प्रत्येक इतिहासकार ने विवेचित-विश्लेषित किया है। आचार्य शुक्ल ने गद्य का आरंभ नाटक से होने को जिस दृष्टि से देखा था, बाद के समय में आनेवाले इतिहासकारों ने इस काल की साहित्यिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों को ठीक उसी रूप में नहीं देखा। साहित्य को समझने के लिए समाजवैज्ञानिक अवधारणाओं का जैसे-जैसे प्रयोग बढ़ता गया, उसी अनुपात में साहित्येतिहास में इन अवधारणाओं के उपयोग में अधिक स्पष्टता एवं तार्किकता आती गई। अब 'पुनर्जागरण' एवं 'नवजागरण' शब्द का प्रयोग पर्याय रूप में नहीं किया जाता है। उसी प्रकार किस स्थान पर पुनर्जागरण, नवजागरण या आधुनिकता शब्द का प्रयोग किया जाए, यह अत्यन्त स्पष्ट है। इसी को समझते हुए डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी भारतेन्दु युगीन साहित्य एवं समाज को 'संक्रान्ती कालीन चेतना'[63] का रूप माना है। इसी प्रकार उन्होंने आचार्य शुक्ल के नाटकों से गद्य काल के अविर्भाव की मान्यता को समझाते हुए लिखा है, "यदि हम १८वीं-१९वीं शती की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करते हैं, जिस काल को सामान्यतः पुनर्जागरण कहकर पुकारा जाता है, तो पाते हैं कि इस

---

[63]. हिन्दी साहित्य एवं संवेदना का विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.७८

समय की जो कई बुनियादी विशेषताएँ हैं उनमें एक यह है कि परम्परागत हिन्दू एकान्तिकता की भावना का निरसन करने के लिए इस युग के मनिषियों ने सामाजिकता की भावना पर बल दिया। इसलिए सामाजिक छुआछुत को हटाने तथा पुरुष और स्त्री को बराबर का दर्जा दिए जाने की लगातार उन्होंने वकालत की।"[64] इसी प्रकार की चेतना का हमें इस काल के सुधारवादी उपन्यासों में देखने को मिलती है। इस काल के उपन्यासों में दूसरी चेतना को हम देशप्रेम से जोड़कर देख सकते हैं, जिसे राजेन्द्र यादव ने जासूसी उपन्यासों के सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'दयनीय महानता की दिलचस्प दास्ताँ' में सविस्तार प्रस्तुत किया है। किन्तु ध्यान देने की बात है कि डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का प्रवेश अज्ञेय द्वारा 'तार सप्तक' (सन् १९४३ ई.) सम्पादन और अज्ञेय के अपने लेखन से मानते हैं। इससे ऐसा लगता है कि उनकी आधुनिकता की अवधारणा में देश में राष्ट्रीयता का उदय, नवजागरण की चेतना का उदय, सामुहिकता की चेतना का उदय आदि को स्थान नहीं दिया गया है। उनके अनुसार "तारसप्तक' के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य में आधुनिक संवेदना का सूत्रपात माना जाता है। आधुनिकता की अवधारणा मूल्यबोधी होने पर भी मूलतः तो कालबोधी है। इतिहास की प्रक्रिया को समझकर उसकी गति को द्रुततर करने का सजग मानवीय प्रयास यदि आधुनिकता का मुख्य लक्षण है तो साम्यवादी विचारधारा ने इस क्षेत्र में सैद्धान्तिक ढंग से पहल की इसमें संदेह नहीं, यों पश्चिम के देश औद्योगिक क्रान्ति और तत्संबंधी अन्वेषणों से यह कार्य व्यावहारिक रूप में पहले से करते आ रहे थे।"[65] डॉ.चतुर्वेदी आधुनिकता की अवधारणा को समझाते हुए लिखते हैं, "आधुनिक चिंतन में मनुष्य सारे मूल्यों का स्रोत और उपादान है और वह स्वयं ही उनके विघटन का कारण है।"[66] किन्तु ऐसा नहीं है कि अज्ञेय के समकाल को ही डॉ.चतुर्वेदी ने पूर्णतः हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के प्रवेश का आरंभ माना हो। इससे पूर्व उन्होंने भारतेन्दु युगीन साहित्य में नवजागरण की चेतना के आरंभ को रेखांकित करने का प्रयास किया है, किन्तु वे कहीं भी आधुनिकता की चेतना और नवजागरण की चेतना में अन्तर स्पष्ट नहीं कर पाए हैं। इतना ही नहीं किसी भी हिन्दी साहित्येतिहास में इन दो अवधारणाओं में निहित अन्तर को स्पष्ट नहीं किया गया है, यदि उनमें अन्तर है तो। प्रायः इन धारणाओं को एक-दूसरे के पर्याय रूप में भी प्रयोग में लाया जाता रहा है। डॉ.चतुर्वेदी ने नवजागरण की चेतना के साहित्यिक प्रतिफलन के सन्दर्भ में लिखा है, "पुनर्जागरण

---

[64]. वही, पृ.१४७

[65]. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.१९२

[66]. वही, पृ.वही

का भारतीय साहित्य में पहला प्रतिफलन माइकेल मधुसूदन दत्त के बँगला काव्य 'मेघनाथ-वध' (१८६१ ई.) को माना गया।....हिन्दी क्षेत्र में पुनर्जागरण की पहली सशक्त साहित्यिक अभिव्यक्ति भारतेन्दु हरिश्चंद्र (१८५०-१८८५) के व्यक्तित्व में मिलती है। यहाँ स्मरणीय है कि आधुनिक काल में संस्कृति का प्रवाह पूर्व से पश्चिम की ओर रहा है।"[67] अर्थात इतिहासकार यह मान रहे हैं कि हिन्दी साहित्य में नवजागरण की चेतना का प्रवेश सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चंद्र के साहित्य में होता है और इस समय पश्चिम से आधुनिक सांस्कृतिक विचार यहाँ प्रवेश कर रहे थे, तो ऐसे में अज्ञेय तक आधुनिकता के संक्रमण काल का विस्तार माना गया है? यदि नहीं तो भारतेन्दु और अज्ञेय दोनों साहित्यकारों को हिन्दी साहित्य में आधुनिक चेतना के पुरोधा माना जाए? ऐसे में हमें बीच के लगभग सौ वर्षों के साहित्य को संक्रमणकालीन साहित्य मानना पड़ेगा। यदि उन्हीं की व्याख्या को ध्यान में रखा जाए तो केवल मूल्य विघटन से आधुनिकता का सम्बन्ध नहीं होता, अपितु उसके साथ मूल्य निर्माण की प्रक्रिया भी चलती है। यह मूल्य निर्माण की प्रक्रिया दो पद्धतियों से अपना कार्य करती है, एक तो वह अपने समयानुसार मूल्यों का निर्माण करती है और दूसरे अतीत के समाज सापेक्ष मूल्यों को फिर से पुनर्जीवित किया जाता है। प्रायः यही बात नवजागरण में भी होती है। अर्थात इन दो अवधारणाओं को नितान्त भिन्न मानकर हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के प्रवेश को अज्ञेय तक का विस्तार देना वैचारिक दुराग्रह होगा, जिसके पक्ष में केवल कुतर्क ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। मूल्यबोधी अवधारणा को जबरदस्ती कालबोधी बनाना भी एक प्रकार का दुराग्रह ही है। किसी विशिष्ट काल में ही प्रत्येक समाज में समान स्तर पर आधुनिक चेतना का प्रवेश नहीं होता। भारतीय समाज को ही देखा जाए तो आज २१वीं सदी में भी यहाँ एक ही समय में आधुनिक, उत्तर-आधुनिक के साथ मध्यकालीन एवं प्राचीन समय में जी रहे लोग भी हैं। ऐसे में इसे कैसे आधुनिकता को मात्र कालबोधी माना जा सकता है?

डॉ.बच्चन सिंह भी डॉ.चतुर्वेदी की भाँति हिन्दी साहित्य में आधुनिकता प्रवेश अज्ञेय से ही मानते हैं। उनके अनुसार, "आधुनिकतावादी प्रवृत्ति सबसे पहले अज्ञेय में दिखाई पड़ती है, इसका उल्लेख किया जा चुका है। किन्तु धारा के रूप में यह सन् १९६० के बाद ही प्रवाहित होती है - वह भी एक भिन्न मार्ग पर।"[68] डॉ. बच्चन सिंह ने आधुनिक और आधुनिकता में अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "आधुनिक और आधुनिकता में अन्तर है। 'आधुनिक' 'मध्यकालीन' से अलग होने की सूचना देता है। 'आधुनिक'

---

[67]. वही, पृ.८३

[68]. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास-डॉ.बच्चन सिंह, पृ.४८३

वैज्ञानिक अविष्कारों और औद्योगीकरण का परिणाम है जब कि 'आधुनिकता' औद्योगीकरण की अतिशयता, महानगरीय एकरसता, दो महायुद्धों की विभीषिका का फल है। वस्तुतः नवीन ज्ञान-विज्ञान, टेक्नोलॉजी के फलस्वरूप उत्पन्न विषम मानवीय स्थितियों के नये, गैर-रोमैन्टिक और अमिथकीय साक्षात्कार का नाम 'आधुनिकता' है।"[69] डॉ. बच्चन सिंह ने भी अन्य इतिहासकारों की भाँति मध्यकालीनता से आधुनिकता में प्रवेश करनेवाले हिन्दी साहित्य एवं समाज की विशेषताओं का उल्लेख किया और उनके कारण रूप में विदेशी शिक्षा, नया आर्थिक ढाँचा : नए सम्बन्ध, विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितियों, शिक्षा के पश्चिमीकरण, विभिन्न सरकारी प्रयासों, यातायात के साधनों तथा भारतीयों द्वारा किए गए समाज सुधार के विभिन्न प्रयासों को प्रस्तुत किया। इस समय की भाषायी स्थिति पर भी प्रकाश डालते हुए उन्होंने खड़ी बोली एवं ब्रज के गद्य की परम्परा को संक्षिप्त में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उन्होंने पुनर्जागरण एवं आधुनिक चेतना का प्रवेश भारतेन्दु युगीन साहित्य में तो आधुनिकतावादी प्रवृत्ति अज्ञेय एवं उनके समय के अन्य रचनाकारों में दिखाया है। इस प्रकार से देखा जाए तो डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी के यहाँ जो अवधारणा आरंभिक अवस्था में थी, उसे बच्चन सिंह ने पूर्णतः तर्कसंगत करने का प्रयास किया।

ऊपर उल्लेखित इतिहास-ग्रंथों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्येतिहास की पुस्तकों में आधुनिकता, आधुनिकतावाद, पुनर्जागरण के सन्दर्भ में साहित्य के सम्बन्धों के लेकर कोई मौलिक धारणा की अभिव्यक्ति नहीं हुई है। डॉ.सुमन राजे का इतिहास स्त्री विमर्श को आगे बढ़ाता है, जो आधुनिकता की परिपक्वता का परिचायक है। प्रायः इतिहासकारों ने आधुनिक काल के आरंभ में साहित्येतिहास के क्रम एवं साहित्य में आए बदलावों को नोटिस लिया है और मध्यकालीनता से आधुनिक साहित्य की भिन्नता की ओर संकेत किए हैं। डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ.बच्चन सिंह आदि जैसे बहुत कम हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने इस अवधारणा को साहित्य के सन्दर्भ में समझने-समझाने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने आधुनिकता का प्रयोग नए बदलावों को सन्दर्भ में किया था, जो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास लेखन में अवधारणात्मक स्तर पर स्वीकार किया गया। जिस प्रकार हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद का इतिहास लेखन आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी के खेमों में बँट गया था, उस रूप में आधुनिकता की अवधारणा एवं आधुनिक साहित्य

---

[69]. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास-डॉ.बच्चन सिंह, पृ.३७

में आए मूलभूत बदलावों के लेकर विभाजन की स्थिति नहीं दिखाई देती है। अवधारणात्मक स्तर पर जैसे-जैसे समाज विज्ञान में आधुनिकता सम्बन्धी चर्चा में स्पष्टता आती गई, उसी अनुपात में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में भी इसके प्रयोग में। इसी क्रम में डॉ.बच्चन सिंह द्वारा 'उत्तर-आधुनिकता' का किया गया प्रयोग लक्षणीय है। उन्होंने समाज-वैज्ञानिक समझ के आलोक में सन् १९७० के बाद के हिन्दी साहित्य को विवेचित करने का प्रयास किया है। यह प्रशंसनीय है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन न केवल सैद्धान्तिक स्तर पर अपितु प्रायोगिक स्तर पर भी अगले चरण में जाने के लिए आन्तरानुशासनिक बनता जा रहा है, यह हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के लिए शुभ संकेत कहा जा सकता है।

६.७ साहित्यिक रूप सम्बन्धी दृष्टिकोण

किसी भी साहित्य का इतिहास समाज, संस्कृति, भाषा एवं साहित्य का इतिहास होने के साथ-साथ साहित्यिक रूपों का भी इतिहास होता है। कुछ साहित्येतिहास के चिन्तकों ने तो साहित्येतिहास की कल्पना मात्र साहित्यिक रूपों के इतिहास के रूप में ही की है। उनके अनुसार साहित्य की मूल चेतना में तो मनुष्य के विचार एवं भावों की लगातार अभिव्यक्ति होना अनिवार्य है। कई बार विचारों-भावों में समानता देखने को मिलती है। ऐसे में साहित्यिक अभिव्यक्ति की पद्धति ही एकमात्र साधन बच जाती है, जो एक काल के साहित्य को दूसरे काल के साहित्य से अथवा प्रत्येक साहित्यकार की अपनी निजी विशेषता का निर्माण करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार वह शैली अथवा साहित्यिक रूप ही है, जिसका साहित्यिक इतिहास में विकास होता रहता है। स्पष्ट रूप में यह साहित्यिक रूप के प्रति अतिवादी दृष्टिकोण कहा जा सकता है। वात्सल्य की अभिव्यक्ति सूरदास के काव्य से लेकर निराला के काव्य में होती है, किन्तु उसके सामाजिक सन्दर्भों में अन्तर पड़ जाता है, लेकिन मध्यकालीन कवि के कहने की पद्धति एवं आधुनिक कवि की कहने की पद्धति में जो अन्तर आया है, वह केवल रूप के स्तर पर मूल्यांकित नहीं किया जा सकता है। एक विशिष्ट समय तक ही महाकाव्य क्यों लिखे गए? मुक्त छन्द का प्रवर्तन साहित्य में रोमैन्टिसिज़्म (स्वच्छन्दतावाद) के साथ ही क्यों होता है? मध्यवर्ग के उदय के साथ ही उपन्यास साहित्य को क्यों जोड़ा जाता है? जैसे प्रश्न इस बात की ओर संकेत करते हैं कि साहित्यिक रूप नितान्त रूपवादी दृष्टि से नहीं देखे जा सकते हैं, उनका अपना सामाजिक सन्दर्भ भी होता है। अतः साहित्येतिहास में केवल साहित्यिक रूपों का इतिहास प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। अर्थात साहित्येतिहास भाषा, समाज, संस्कृति, विचारों, भावों, संवेदना के इतिहास के साथ-साथ साहित्यिक रूपों के सामाजिक सन्दर्भ

का भी इतिहास होता है, जैसे वह साहित्यिक रूपों के सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमानों पर मूल्यांकित करके भी लिखा जाता है।

हिन्दी आलोचना एवं साहित्येतिहास लेखन दोनों ने संस्कृत काव्यशास्त्र से अपने प्रतिमानों को विकसित करने का आरंभ में प्रयास किया। संस्कृत काव्यशास्त्र देहवादी एवं विदेहवादी दोनों प्रकार की विचारों को प्रश्रय देनेवाला रहा है। यहाँ देहवादी विचारधारा के रूप में रस, ध्वनि आदि तो विदेहवादी विचारधारा के रूप में वक्रोक्ति, रीति आदि प्रतिमान प्रचलित रहे हैं। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन ने भी दोनों को तरजीह देते हुए अपना विकास किया। वैसे शुक्लपूर्व हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में रूप सम्बन्धी समुचित दृष्टि का विकास भले ही न हुआ हो, किन्तु हिन्दी आलोचना से होते हुए हिन्दी साहित्येतिहास लेखन तक का प्रवास करने वाला देव-बिहारी विवाद कहीं-न-कहीं रूपवाद से प्रभावित अवश्य था। इस विवाद में भाग लेनेवाले किसी भी आलोचक या साहित्येतिहासकार की दृष्टि इन कवियों के कथ्य पर नहीं अपितु इन कवियों की वचनवक्रता, गागर में सागर भरने की कला, शब्द-अलंकार योजना जैसे रूपवादी प्रतिमानों पर ही थी। यह हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में वस्तु के प्रति उदासीन रहकर रूप को ही रचनाकार के रूप को ही एकमात्र प्रतिमान मानकर किये गए मूल्यांकन का बेहतरीन उदाहरण है। यह इतिहासकार-आलोचक देव-बिहारी के काव्य-रूप पर रीझकर केवल सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमानों पर उनका मूल्यांकन कर रहे थे।

एक साहित्येतिहासकार का साहित्य-रूप के प्रति दृष्टिकोण उसकी इतिहास-दृष्टि को किस प्रकार बहुत दूर तक प्रभावित करता है, इसका उदाहरण हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आचार्य शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्येतिहास लेखन है। आचार्य शुक्ल के यहाँ जिन रचनाकारों को स्वीकार करते हुए भी उन्हें कमतर करके आँका गया है, प्रायः आचार्य द्विवेदी के साहित्येतिहास लेखन में उन रचनाकारों को तरजीह दिये जाने का कारण केवल वस्तुवादी ही नहीं, रूपवादी भी हैं। आचार्य शुक्ल ने यह माना था कि कबीर में 'प्रतिभा बड़ी प्रखर थी', किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि यह प्रतिभा किस प्रकार की थी, इसे स्पष्ट नहीं किया। संभवतः उन्होंने कबीर की कारयित्री प्रतिभा की ओर संकेत किया है, जो साहित्य रचना के लिए आवश्यक होती है। ध्यान देने की बात है कि कबीर ने जो बातें अपने दोहों में की है, प्रायः वही बातें और वैसी ही कर्मकाण्डों की आलोचना हम कम-अधिक मात्रा में जायसी के यहाँ भी देख सकते हैं, किन्तु कहने की विशेष पद्धति के कारण आचार्य शुक्ल उसका

सम्बन्ध 'जन' से जोड़ते हैं और कबीर की बातों का अपढ़ जनता से। यही वह काव्य-रूप है जो एक कवि को दूसरे से अलग करता है तथा इतिहास लेखन के क्रम में इतिहासकार की दृष्टि का निर्माण करता है। इसी प्रकार यदि हम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के यहाँ आचार्य शुक्ल के इतिहास की प्रक्रिया को पूरे न सही किन्तु उलटे क्रम में घूमते हुए देख सकते हैं। आचार्य द्विवेदी का रूप के प्रति दृष्टिकोण अधिक लोकवादी था अतः उन्हें कबीर के काव्य में काव्यत्व दिखाई दिया। ठीक उसी प्रकार जैसे ग्रियर्सन से पूर्व हम तुलसीदास को केवल एक धार्मिक सन्त-भक्त मात्र मानते थे किन्तु सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से देखने के बाद जॉर्ज ग्रियर्सन ने तुलसीदास को कवि के रूप में स्थापित किया।

पश्चिम में रूपवाद एक विचारधारात्मक आन्दोलन के रूप में उदित हुआ किन्तु भारतीय उपमहाद्वीप में यह सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमान के रूप में संस्कृत साहित्य के समय से ही विद्यमान था। ऐसे में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन का इससे प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। किन्तु रूप के सामाजिक सन्दर्भ को लेकर हिन्दी आलोचना वैचारिक स्तर पर हमेशा से ही सशंकित रही है। इसके अतिरिक्त रूप को ही साहित्य मानने के कारण 'परहित सरिस धरम नहीं भाई' तथा साहित्य का 'साधु काव्य निबंधनम्' वाला साहित्य का उद्देश्य पूर्ण न होता। संभवतः यही कारण हो सकते हैं कि आचार्य शुक्ल के यहाँ देहवादी प्रतिमानों को बगल करते हुए देहवादी रस के प्रतिमान को साहित्य की आत्मा के स्तर पर मुख्य रूप से प्रस्तुत-अप्रस्तुत रूप में स्वीकार किया गया है। इसके कारण ही आचार्य शुक्ल ने तमाम रीतिवादी साहित्य के सामाजिक सन्दर्भ को प्रश्नांकित किया था और 'लोकमंगल' के विधान को साहित्य का मुख्य उद्देश्य माना था। प्रायः यही प्रक्रिया हमें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास लेखन में कुछ लोकवादी रुझान के साथ देखने को मिलती है।

आचार्य शुक्ल के बाद से हिन्दी साहित्येतिहास लेखन ने अपने प्रतिमान मुख्य रूप से भले ही संस्कृत साहित्यशास्त्र से स्वीकार किए हो, किन्तु वह पूर्णतः रूपवादी कभी नहीं रहा है। ऐसा भी नहीं है कि हिन्दी साहित्य का कोई ग्रंथ केवल हिन्दी साहित्यिक रूपों के इतिहास को ही केन्द्र में रखकर लिखा गया हो, किन्तु साथ ही इसमें रूप के प्रति पूर्णतः उदासीनता भी नहीं दिखाई देती है। ऊपर आचार्य शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद के साहित्येतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण का उल्लेख हो चुका है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य में साहित्यिक रूपों के इतिहास को अवश्य प्रस्तुत करते हैं, किन्तु उसके सामाजिक सन्दर्भ को वे भी कई बार अनदेखा कर देते हैं। उन्होंने उलटबाँसियों की परम्परा, गेय पदों की परम्परा, दोहा छन्द की परम्परा आदि को संस्कृत-प्राकृत की प्राचीन परम्परा में दिखाने का प्रयास किया

है, किन्तु बाद के हिन्दी साहित्य में साहित्यिक रूप के स्तर पर वे इसे अनवरत रूप में नहीं दिखा पाए। आचार्य शुक्ल ने भी 'दोहा' और 'दुहा' को भाषायी स्तर पर ही समझा-समझाया है। इस प्रकार साहित्यिक रूपों के इतिहास के रूप में हिन्दी साहित्येतिहास प्रायः उदासीन तो नहीं है, किन्तु उसके प्रति केन्द्रित दृष्टिकोण भी आरंभिक साहित्येतिहास लेखन में देखने को नहीं मिलता है।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में नाटक, निबंध, उपन्यास, कहानी, यात्रा-वृतान्त, रिपोर्ताज, आलोचना/समीक्षा आदि साहित्यिक रूपों का एक-के-बाद-एक अवतरित होना अनायास नहीं था। नाटक के सन्दर्भ में पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। निबंध और आलोचना का सम्बन्ध चिन्तन से है, जो साहित्य की समाजिकता के साथ-साथ पुनर्जागरण की चेतना का अंग था। हिन्दी में उपन्यास विधा का सम्बन्ध मध्यवर्ग के उदय से जोड़ा जाता है, इसकी ओर अप्रस्तुत रूप से आचार्य शुक्ल ने संकेत तो किया है, किन्तु उसमें स्पष्टता नहीं है। बाद के इतिहासकारों में डॉ.बच्चन सिंह एवं डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसे और अधिक स्पष्टता से साहित्येतिहास में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में यह तो रेखांकित किया गया कि हिन्दी में मुक्त छन्द में लिखित प्रथम कविता 'तोड़ती पत्थर' है किन्तु मुक्त छन्द के उद्‌भव के सामाजिक सन्दर्भों का विवेचन-विश्लेषण नहीं किया गया है। इसी क्रम में आलोचना के उद्‌भव को लेकर भी उसके सामाजिक सन्दर्भों का विवेचन भी न के बराबर किया गया है। इस पर डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ध्यान दिया है। उन्होंने इस बात को भी रेखांकित किया है कि जिस प्रकार हिन्दी आधुनिकता का प्रवेश नाटक के माध्यम से हुआ, उसी क्रम में हिन्दी व्यावहारिक आलोचना का आरंभ नाटक की आलोचना से हुआ और हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना का आरंभ भी भारतेन्दु के निबंध 'नाटक' से हुआ। इसी प्रकार हिन्दी में काव्य-नाटक जैसे नितान्त नवीन रूप के इतिहास पर भी कम ही ध्यान दिया गया है। नाटकों में गीतों का विधान तो इससे पूर्व भी हुआ करता था, किन्तु पूर्ण नाटक गीतों में लिखने की परम्परा आधुनिक काल में ही संभव हो पायी। ऐसे में साहित्येतिहासकारों को गीति-नाट्य अथवा काव्य-नाटक के इतिहास को प्रस्तुत कर उसका इतिहास दिखा पाना असंभव हो गया।

हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के प्रवेश के साथ ही पूर्ववर्ती कई साहित्यिक रूपों को अवश्य त्याग दिया गया, किन्तु इसके बाद भी कई रचनाकारों ने पूर्व के साहित्यिक रूपों का प्रयोग जारी रखा। ऐसे में साहित्यिक रूपों का श्रृंखलाबद्ध इतिहास दिखा पाना साहित्येतिहासकारों के लिए असंभव है। उसी

प्रकार इससे नितान्त नवीन विधाओं जैसे रिपोतार्ज, यात्रा-वृत्तान्त, डायरी, संस्मरण आदि विधाओं का भी इतिहास दिखा पाना असंभव है, क्योंकि इससे पूर्व यह विधाएँ थी ही नहीं। इसके अतिरिक्त साहित्यिक पत्रकारिता का इतिहास भी साहित्येतिहास का महत्त्वपूर्ण अंग होता है। अपने बिखराव के कारण साहित्येतिहास में इसके अंशों को ही दिखाया जा सकता है। साहित्यिक पत्रकारिता अपने-आप में इतिहास का एक विषय है, जिस पर हिन्दी में लेखन होना अभी बाकी है। हिन्दी साहित्य में जो विमर्शवादी स्वर गूँज रहे हैं, उनके कई स्वतंत्र इतिहास लिखे जा रहे हैं। दलित, स्त्री, आदिवासी आदि साहित्यिक विमर्श अपने साथ नए-नए रूप लेकर प्रस्तुत हो रहे हैं। आदिवासी साहित्य में अपने आँचलिक अनेक गीत-रूप, नाट्य-रूप देखने को मिलते हैं। इनके साथ हिन्दी के पारम्परिक साहित्यिक रूपों के साथ सामंजस्य बैठाना भी साहित्येतिहास लेखन की एक चुनौती है। अभी तक ऐसा प्रयास हिन्दी साहित्येतिहास में देखने को नहीं मिला है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन कहीं भी पूर्णतः रूपवादी नहीं दिखाई देता है, किन्तु उसने रूप की पूर्णतः अवहेलना भी नहीं की है। साहित्य की वस्तु के साथ ही साहित्येतिहासकारों ने साहित्यिक रूप को भी अपने विवेचन का आधार बनाया। साहित्य के रूप की सामाजिकता की ओर भले ही कई स्थानों पर ध्यान नहीं दिया गया हो, किन्तु उसके कारणों की खोज करने का प्रयास मात्र हिन्दी साहित्येतिहास ग्रंथों में देखने को मिलता है। हिन्दी साहित्येतिहासकार प्रायः प्रत्येक साहित्यिक रूप की खोज अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा में करने का प्रयास अवश्य करते हैं और उन्हें परम्परा में न पाकर उसे पश्चिम से आयातित घोषित कर देते हैं। कई साहित्यिक विधाओं का हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने इसलिए स्वागत किया कि उसकी वस्तु उन्हें अपने विचारों के अनुरूप लगी। हिन्दी साहित्येतिहासकार नाटक से तो हिन्दी के गद्य काल का आरंभ मानते हुए उसकी संस्कृत परम्परा तक जाते हैं किन्तु वे यह नहीं दिखा पाते हैं कि संस्कृत नाटकों और हिन्दी के इन पुनर्जागृत नाटकों के रूप में कितनी समानताएँ और असमानताएँ हैं। स्वयं भारतेन्दु के नाटकों का मंचन नुक्कड़ नाटक से लेकर प्रेक्षागृह तक में किया गया है, क्या कालिदास के नाटकों के साथ रंगमंचीय स्तर पर यह प्रयोगधर्मिता संभव है? उपन्यास को भी इन साहित्येतिहासकारों ने बाण की 'कादम्बरी' से जोड़ा है, किन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर हैं। 'कादम्बरी' केवल रूप के स्तर पर ही नहीं, वस्तु के चुनाव के स्तर पर भी आधुनिक उपन्यास रूप से नितान्त भिन्न है। ऐसे में सरलीकरण करना नितान्त भूल होगी कि हिन्दी उपन्यास विधा का मूल 'कादम्बरी' या संस्कृत की अन्य विधा से हुआ होगा। हिन्दी में गज़ल लेखन का भी अब अपना

इतिहास बन गया, किन्तु इसकी परम्परा अन्य साहित्यिक रूपों की भांति नहीं दिखाई जा सकती है। ऐसे में उर्दू गज़ल और हिन्दी गज़ल की तुलना कर दोनों साहित्यिक रूपों के अन्तर को समझकर प्रस्तुत करना अनिवार्य है। हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना ने सैद्धान्तिक स्तर पर रूप के सन्दर्भ में काफी चर्चा-परिचर्चाएँ की हैं, किन्तु हिन्दी साहित्येतिहास लेखन व्यावहारिक रूप में साहित्यिक रूपों के क्षेत्र में कार्य करना क्यों भूल जाता है, इसका उत्तर संभवतः हिन्दी साहित्येतिहास का नित बढ़ता विस्तार होगा। इस सन्दर्भ में विदेशी भाषाओं के रूप सम्बन्धी साहित्यिक विचारों को ग्रहण करने के अतिरिक्त हिन्दी साहित्येतिहास लेखन अपनी सहचारिणी उर्दू, मराठी, तेलुगु, पंजाबी, तमिल आदि भारतीय भाषाओं से संवाद स्थापित कर रूप सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण में विस्तार कर सकता है।

६.८ हिन्दी आलोचना की सैद्धान्तिकी और साहित्येतिहास लेखन

हिन्दी आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष के विकास में भी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन ने अपना योगदान दिया है। हिन्दी के सैद्धान्तिक आलोचना की नींव दो परम्पराओं के ग्रहण से अपना परिपुष्ट रूप पाने की ओर अग्रसर होती है - एक संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा और दूसरी पाश्चात्य आलोचना की परम्परा। हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना का आरंभ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'नाटक' (सन् १८८३ ई.) निबंध से माना जाता है, जिसकी मान्यताओं में हमें भारतीय और पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों की मान्यताओं का मेल देखने मिलता है। हिन्दी व्यावहारिक आलोचना का आरंभ भी नाटक की आलोचना से ही 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की बालकृष्ण भट्ट द्वारा लिखित 'सच्ची समालोचना' (सन् १८८६ ई.) से होता है। इन दो आरंभिक प्रयासों से होते हुए हिन्दी आलोचना ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर दूर तक अपना विकास किया है। इसमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना में तो कभी भारतीय और विदेशी साहित्य-सिद्धान्तों में कभी साहचर्य तो कभी द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध देखने को मिलते हैं। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन ने भी अपना विस्तार करने के क्रम में इन साहित्य-सिद्धान्तों के सम्बन्धों को अपने में समोने का प्रयास किया है। इस क्रम में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन ने भी कई बार प्रायोगिक स्तर पर सैद्धान्तिक आलोचना के विकास में अपना योग दिया है।

वास्तविक रूप में डॉ.ग्रियर्सन से आरंभ होनेवाली हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा ने अपने आरंभ में ही हिन्दी की आलोचना-दृष्टि को सैद्धान्तिक स्तर पर पोषित करने का कार्य किया। गोस्वामी तुलसीदास जैसे कई-कई कवियों को हमारे यहाँ केवल धार्मिक बाबा या गुरु मानकर पूजने की

परम्परा थी, उन्हें ग्रियर्सन ने अपने इतिहास में साहित्यकार या कवि के रूप में स्थान दिया। इससे साहित्य क्षेत्र में बहुत बड़े साहित्य सिद्धान्त की भले ही स्थापना न हुई हो, किन्तु लोक-मानस में बसनेवाले रचनाकार को ग्रियर्सन ने प्रथम बार साहित्य विमर्श के केन्द्र में लाकर अपनी साहित्य पारखी दृष्टि का परिचय दिया। उन्होंने विशेष रूप से गोस्वामी तुलसीदास के तब तक उपलब्ध सम्पूर्ण साहित्य को न केवल शुद्ध साहित्य की दृष्टि से देखा अपितु मूल्यांकन के सन्दर्भ में लोक-मानस और रचनाकार की पहुँच का भी ध्यान रखा। इससे हिन्दी साहित्य के इतिहास को अपने-आप लगभग एक हजार वर्ष पीछे ले जाकर लिखने की राह परवर्ती इतिहासकारों के लिए डॉ.ग्रियर्सन ने खोल दी। यह उनका पाश्चात्य साहित्य संस्कार अथवा सैद्धान्तिक मान्यताएँ ही थी, जिन्होंने केवल पूजे जाने योग्य रचनाकारों को भी साहित्यकार के रूप में स्थापित करने प्रोत्साहित किया।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में हिन्दी आलोचना को सैद्धान्तिक मान्यताओं के निर्माण के क्षेत्र में भी आचार्य शुक्ल का कोई सानी नहीं है। प्रचलित मान्यताओं के अनुसार आचार्य शुक्ल ने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन तुलसी साहित्य की दृष्टि से किया है। अन्य मान्यताओं के अनुसार आचार्य शुक्ल की दृष्टि मर्यादावादी, रसवादी, परम्परावादी आदि थी। किन्तु हमें आचार्य शुक्ल की सामाजिक मान्यताओं पर नहीं, अपितु उनकी साहित्य सम्बन्धी उन अवधारणाओं पर दृष्टिपात करना है, जिसे उन्होंने प्रतिमानों के रूप में साहित्यिक मूल्यांकन का आधार बनाया और जो बाद में चलकर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन एवं आलोचना में सैद्धान्तिक रूप ग्रहण करते हैं। आचार्य शुक्ल ने स्वयं इन प्रतिमानों को प्रायः सम्पूर्ण साहित्य के मूल्यांकन के लिए प्रयोग में लाया था। आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आलोचना के अतिरिक्त 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में भी कई साहित्यिक सिद्धान्तों का प्रयोग किया है। यहाँ आचार्य शुक्ल द्वारा साहित्येतिहास ग्रंथ में प्रयुक्त सिद्धान्तों की ही चर्चा अपेक्षित है।

आचार्य शुक्ल का साहित्य संस्कार उन्हें सामाण्यीकरण से बचाता है, यही कारण है कि साहित्यिक सैद्धान्तिकरण की प्रक्रिया में वे साहित्य सिद्धान्तों का निर्माण प्रायः अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में ही करते हैं। उनकी आलोचना एवं साहित्येतिहास में सिद्धान्त के रूप में प्रयोग होनेवाली शब्दावली में रसानुभूति, काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था, काव्य में लोकमंगल की सिद्धावस्था, सर्वांगपूर्णता, रचना-कौशल, प्रबंध पटुता, सहृदयता, मार्मिक स्थलों की पहचान, शिष्ट की मर्यादा, लोक जीवन, नवीन प्रसंगों की उद्भावना, प्रसंगानुकूल भाषा, चित्रभाषा, विरुद्धों का सामंजस्य, आदि प्रमुख हैं। अपने सैद्धान्तिक

एकीकरण के क्रम में उन्होंने कवि की जीवन-परिस्थितियाँ, युगीन परिस्थितियाँ, कवि का समाज, युगीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ इत्यादि बातों पर ध्यान केन्द्रित किया। उनके ऐसे भी कुछ सिद्धान्त हैं, जिसके आधार पर उन्होंने रचनाकार की विचारधारा, उसकी भावधारा, सौन्दर्य चेतना, वस्तु और रूप का भी मूल्यांकन किया है। गोस्वामी तुलसीदास के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है - "गोस्वामीजी की भक्ति पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सर्वांगपूर्णता। जीवन के किसी पक्ष को छोड़कर वह नहीं चलती है। सब पक्षों के साथ उसका सामंजस्य है। न उनका कर्म या धर्म से विरोध है, न ज्ञान से। धर्म तो उसका नित्य लक्षण है। तुलसी की भक्ति पद्धति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं।"[70] इसमें इतिहासकार द्वारा तुलसीदास के न केवल रचना-वैविध्य के सौन्दर्य का बखान हुआ है, अपितु उनकी विचारधारा, भावधारा एवं काव्य-वस्तु पर भी प्रकाश डाला गया है।

आचार्य शुक्ल ने तुलसीदास को अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं का लगभग प्रतिमान बना लिया था। जिस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्येतिहास का मूल्यांकन तुलसी साहित्य से निःसृत सिद्धान्तों से किया, उसी प्रकार तुलसीदास के साहित्य की तुलना अन्य कवियों की रचनाओं एवं रचना-युगों से की है। तुलसीदास के काव्य-रूप पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है - "रचनाकौशल, प्रबंध पटुता, सहृदयता इत्यादि सब गुणों का समाहार हमें रामचरितमानस में मिलता है। पहली बार जिस पर ध्यान जाता है, वह है कथा काव्य के सब अवयवों का उचित समीकरण। कथा-काव्य या प्रबंध काव्य के भीतर इतिवृत्त, वस्तुव्यापार-वर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद, ये अवयव होते हैं। न तो अयोध्यापुरी की शोभा, बाललीला, नख-शिख, जनक की वाटिका, अभिषेकोत्सव इत्यादि के वर्णन बहुत लम्बे हो न पाए हैं, न पात्रों के संवाद, न प्रेम, न शोक आदि भावों की व्यंजना। इतिवृत्त की श्रृंखला भी कहीं से टूटती नहीं है।"[71] स्पष्टतः यहाँ तुलसीदास द्वारा न किए गए विस्तृत वर्णनों के अभाव को उन्होंने रीतिकालीन कवियों द्वारा प्रस्तुत अथवा जायसी द्वारा किए गए विस्तृत वर्णनों की ओर इंगित करते करते हुए मानस की विशेषता बतलाई गई है।

आचार्य शुक्ल ने मार्मिक स्थलों की पहचान के लिए जहाँ तुलसी मानस की सराहना की है, वहीं जायसी द्वारा किए गए नागमती विरह वर्णन के प्रसंग में कवि द्वारा किए गए वर्णन में नागमती के रानीपन को भूलने को रेखांकित किया। इसी प्रकार उन्होंने मानवीय भावों के अनुसार प्रकृति चित्रण की भी सराहना

---

[70]. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.७७

[71]. वही, पृ.७७-७८

की है, जिसमें उन्होंने जायसी, सूरदास के विरह वर्णनों की सराहना की है। सूरदास के सन्दर्भ में भी उन्होंने तुलसीदास पर से अपना ध्यान नहीं हटाया है। सूरदास के काव्य की व्यापकता की ओर इंगित करते हुए उन्होंने लिखा है -"सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना। प्रसंगोद्‌भावना करनेवाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी में नहीं पाते। बाललीला और प्रेमलीला दोनों के अन्तर्गत कुछ दूर तक चलनेवाले न जाने कितने छोटे-छोटे मनोरंजक वृत्तों की कल्पना सूर ने की है। जीवन के एक क्षेत्र के भीतर कथावस्तु की यह रमणीय कल्पना ध्यान देने योग्य है।"[72] स्पष्ट रूप में आचार्य शुक्ल को सूरदास के काव्य में तुलसीदास के काव्य की तरह सर्वांगपूर्णता भले ही न मिलती हो, किन्तु उन्होंने तुलसीदास के काव्य में न मिलनेवाली सूरदास की काव्य-विशेषता को भी रेखांकित किया।

आचार्य शुक्ल की सैद्धान्तिक मान्यताओं में काव्य में आनेवाले किसी भी प्रसंग के विस्तृत चित्रण को महत्व नहीं है। उन्होंने प्रकृति, प्रसंग, चरित्र चित्रण आदि के लम्बें चित्रणों को काव्य के लिए दूषण माना है। उन्होंने जायसी द्वारा फलों, वृक्षों, राजदरबार की वस्तुओं के चित्रण के साथ रीतिकालीन कवियों द्वारा किए गए राजदरबार, नायक-नायिकाओं के प्रकार आदि की भी खुलकर आलोचना की है। वास्तव में आचार्य शुक्ल की इस आलोचना के पीछे साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण गुण के रक्षा का भाव है, वह गुण है साहित्य की संश्लिष्टता। उन्होंने साहित्य में हुए संश्लिष्ट चित्रण की अथवा कम-से-कम शब्दों में प्रसंग निर्माण के कवियों की क्षमता की सराहना की है। इसी कारण उन्होंने बिहारी के काव्य को 'गागर में सागर' कहा था। इसी प्रकार आचार्य शुक्ल को काव्य का प्रबंध रूप अधिक रुचिकर था, किन्तु इसी संश्लिष्टता के चलते उन्होंने बिहारी के काव्य को 'रस के छीटें' और 'चुना हुआ गुलदस्ता' कहा था। आचार्य शुक्ल द्वारा बिहारी के काव्य-प्रसंग में रस के छीटें, चुना हुआ गुलदस्ता, गागर में सागर भरने की कला का उपयोग करने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें मात्र प्रबंध-काव्य ही रुचिकर था। उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं में जो काव्य समा जाता था, उसे वे मुक्त भाव से सराहनीय समझते थे।

आचार्य शुक्ल की सैद्धान्तिक मान्यताओं के पीछे उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक सोच भी कार्यरत थी, जो नवजागरण की चेतना और तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रेरित थी। उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं के निर्माण में तुलसी-काव्य की महती भूमिका को स्वीकार किया जा सकता है। उन्होंने तुलसी-

---

[72]. वही, पृ.९४

काव्य की विशेषताओं के एक क्रम में इस प्रकार गिनाया है - "दूसरी बात है कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान। अधिक विस्तार हमें ऐसे ही प्रसंगों का मिलता है, जो मनुष्य मात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले हैं - जैसे, जनक की वाटिका में राम-सीता परस्पर दर्शन, राम-वन-गमन, दशरथ मरण, भरत की आत्मग्लानि, वन के मार्ग में स्त्री-पुरुषों की सहानुभूति, युद्ध में लक्ष्मण को शक्ति लगना, इत्यादि।"[73]

जबकि "तीसरी बात है प्रसंगानुकूल भाषा। रसों के अनुकूल कोमल-कठोर पदों की योजना तो निर्दिष्ट रूढ़ि ही है। उसके अतिरिक्त गोस्वामी जी ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि किस स्थल पर विद्वानों या शिक्षितों की संस्कृत मिश्रित भाषा रखनी चाहिए और किस स्थल पर ठेठ बोली। घरेलू प्रसंग समझकर कैकेयी और मंथरा के संवाद में उन्होंने ठेठ बोली और स्त्रियों में विशेष चलते प्रयोगों का व्यवहार किया है। अनुप्रास की ओर प्रवृत्ति तो सब रचनाओं में स्पष्ट लक्षित होती है।"[74] और "चौथी बात है श्रृंगार की शिष्ट मर्यादा के भीतर बहुत ही व्यंजक वर्णन।"[75]

आचार्य शुक्ल ने अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं की प्रस्तुति के प्रसंग में उदाहरणों पर भी पूर्ण ध्यान रखा। उनके साहित्य सिद्धान्त रचनाओं से निःसृत होकर निकलते थे, न कि वे अपनी साहित्यिक मान्यताओं को साहित्य में से ढूँढ़कर निकालते थे। लगभग इसी बात की पुनरावृत्ति नामवर सिंह की इस मान्यता में देखने को मिलती है - "सामाजिक सत्य कविता से खोज निकालने की चीज़ है, ऊपर से आरोपित करने की नहीं।"[76] ऐसा नहीं है कि आचार्य शुक्ल ने अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका में बने सिद्धान्तों के आलोक में सम्पूर्ण रीतिकालीन साहित्य को ही हिकारत की दृष्टि से देखा और सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य को या यों कहिए कि सगुण साहित्य को प्रशंसनीय माना। उन्हें जहाँ भी साहित्य में मानवीय-दृष्टि की, मानवीय करुणा दिखाई दी, उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं के अनुसार साहित्यिक गुण दिखाई दिए, उस साहित्य की उन्होंने खुलकर प्रसंशा की है। बिहारी पर चर्चा ऊपर हो चुकी है। रीतिकालीन कवि घनानंद के सन्दर्भ में उनकी दृष्टि थी - "विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व ही है। विप्रलंभ श्रृंगार ही अधिकतर इन्होंने लिखा है। ये वियोग श्रृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। 'प्रेम की पीर' ही को लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी

---

[73]. वही, ७८

[74]. वही, पृ.७८

[75]. वही, पृ.७८

[76]. छायावाद-नामवर सिंह, भूमिका, पृ. ६

का ऐसा दावा रखनेवाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।"[77] प्रेम जैसे विषय पर भी आचार्य शुक्ल ने अपनी टिप्पणियाँ स्थान-स्थान पर दी है। उन्हें मानवीय करुणा अधिक आकर्षित करती थी, जिसमें समन्वय एवं लोकमंगल का भाव होता दिखाई देता है। मानवीय करुणा के दर्शन उन्हें साधनावस्था में अधिक दिखाई दिए, जिसे 'नाट्यशास्त्र' में नाटकों के सन्दर्भ में 'प्रयत्न' अथवा 'प्रयास' कहा गया है। आचार्य शुक्ल की सैद्धान्तिक मान्यताओं में इस साधनावस्था का चित्रण साहित्य में अनिवार्य रूप से होना चाहिए। उन्हें इस बात पर कोई आपत्ति नहीं है कि साहित्य में सिद्धावस्था का भी चित्रण किया जाए, किन्तु साधनावस्था को उन्होंने अनिवार्य माना। इसी साधनावस्था के चित्रण के अभाव एवं सिद्धावस्था के अधिक्य के कारण उन्होंने रीतिकालीन दरबारी काव्य की खुलकर आलोचना की थी। और इसी साधनावस्था के चित्रण के कारण उन्हें सगुण काव्य के साथ जायसी आदि का काव्य अधिक प्रशंसनीय लगा। आचार्य शुक्ल की कई सैद्धान्तिक मान्यताएँ इस रूप में एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं।

आचार्य शुक्ल की अधिकांश सैद्धान्तिक मान्यताएँ मध्यकालीन साहित्य के सन्दर्भ में अधिक मान्य हुई हैं। उनकी यही मान्यताएँ बाद में आधुनिक साहित्य पर कार्यरत होती हुई देखी जा सकती है। जैसे देवकीनंद खत्री के उपन्यासों को उन्होंने लगभग आदिकालीन सिद्ध-नाथ साहित्य के सन्दर्भ में कही गई मान्यता के स्वर में ही कहा - "यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटनावैचित्र्य रहा; रस संचार, भाव विभूति या चरित्र चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना प्रधान कथानक किस्से हैं, जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्य कोटि में नहीं आते।"[78]

यह सही है कि आचार्य शुक्ल की अधिकांश मान्यताएँ उनके सामाजिक-सांस्कृतिक चिन्तन की देन हैं। उनके साहित्य चिन्तन में साहित्य की सामाजिकता के साथ-साथ साहित्य के सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों की भी रक्षा करने के प्रयास के अतिरिक्त इनमें सन्तुलन को भी देखा जा सकता है। उनकी अधिकांश सैद्धान्तिक मान्यताएँ कविताओं के सन्दर्भ में ही अभिव्यक्त हुई हैं, जिनमें साहित्य की विचारधारा-भावधारा को प्रायः तरजीह दी गई है। शुद्ध साहित्यिक सिद्धान्तों के निर्माण में उन्होंने संस्कृत साहित्यशास्त्र की परम्परा से प्रेरणा ग्रहण की है। इसी प्रकार उनमें पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों का भी आदर देखने मिलता है। साहित्य की सामाजिकता की रक्षा के क्रम में उन्होंने देशी-विदेशी दोनों प्रकार के साहित्य

---

[77]. वही, पृ.१८६

[78]. वही, पृ.२७३

सिद्धान्तों की आलोचना की है। उनकी साहित्य सन्बन्धी सैद्धान्तिक मान्यताओं ने परवर्ती हिन्दी साहित्येतिहास लेखन ही नहीं आलोचना को भी दूर तक प्रभावित किया। उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं को भले ही गलत सिद्ध करने का प्रयास किया जा सकता है, किन्तु इसके पिछे उन्होंने जो तर्क और उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, उन्हें झुठलाया नहीं जा सकता है। उनके साहित्य सिद्धान्त चिन्तन-मनन का निचोड़ हैं।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन के बाद सैद्धान्तिक विकास-क्रम की दृष्टि से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का इतिहास लेखन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्येतिहास दृष्टि को प्रायः आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि के विरोधी रूप में प्रस्तुत किया जाता है, इसके मूल में इन दो इतिहासकारों-आलोचकों की सैद्धान्तिक मान्यताएँ कार्यरत होती हुई देखी जा सकती हैं। इन दो इतिहासकारों की सैद्धान्तिक मान्यताओं के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए क्रमशः 'जन' और 'लोक' के भेद को प्रस्तुत किया जाता है। वास्तव में इन दो शब्दों में ध्रुवीय विलोमता उतनी नहीं है, जितनी दिखाने का प्रयास किया जाता है। आचार्य शुक्ल ने 'जनता' से तात्पर्य पढ़े-लिखे शिक्षित जन से लिया था और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रस्तावित 'लोक' की अवधारणा में पढ़-अपढ़ सभी का समावेश हो जाता है, ऐसा लगभग मान लिया गया है। किन्तु वास्तविक भेद केवल शाब्दिक स्तर पर है, अर्थ के स्तर पर साहित्य के सम्बन्ध में साहित्य की सामाजिकता से इन दोनों धारणाओं का सम्बन्ध है, जिसमें लिखित साहित्य और मौखिक साहित्य से इन धारणाओं जोड़ा जा सकता है। अतः आचार्य शुक्ल की 'जनता' वाली अवधारणा से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'लोक' की अवधारणा अधिक व्यापक सिद्ध होती है, जिसमें मौखिक-लिखित सभी साहित्य साहित्येतिहास का अंग बन जाता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रायः प्रत्येक साहित्यिक प्रवृत्ति का विकास अपनी परम्परा में खोजने का प्रयास करते हैं, जिसे वे 'परम्परा का स्वाभाविक विकास' मानते हैं। इसके अनुसार कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति अपनी युगीन आवश्यकताओं के चलते निर्मित होती है। उसकी जड़े कहीं-न-कहीं हमारे साहित्यिक परम्परा में उपस्थित होती हैं। आचार्य द्विवेदी परम्परा की खोज के क्रम में संस्कृत साहित्य तक अपना प्रवास करते हैं और कई बार उसे सफलतापूर्वक प्रस्तुत भी करते हैं। इस सम्बन्ध में कई बार उनकी साहित्यिक दृष्टि में लोक-शास्त्र के बीच संघर्ष तो कई बार दोनों को बीच समन्वय देखने को मिलता है।

उन्होंने साहित्य को 'लोक-दृष्टि' से देखने का प्रस्ताव रखा। लोक-दृष्टि, लोक-चिन्ता और 'भारतीय चिन्तनधारा का स्वाभाविक विकास' को स्पष्ट करते हुए डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है - "लोक-चिन्ता' और 'भारतीय चिन्तन का विकास' शब्द-बन्ध में चिन्ता शब्द एक तरह से नहीं है। 'भारतीय चिन्ता' में चिन्ता अनायास ही चिन्तन और चेतना से जुड़कर और सघन हो उठती है, जबकि 'लोक चिन्ता' की चिन्ता पिछड़े वर्ग से लगाव, और उसे उपेक्षा से बचाने के उपक्रम से प्रेरित है। एक रचनात्मक है, दूसरी प्रतिरक्षात्मक।"[79] स्पष्ट है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के यहाँ जैसे सिद्धान्त एक-दूसरे से जुड़कर एक-दूसरे को पूर्ण करने का प्रयास करते हैं, ठीक वही प्रक्रिया आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के यहाँ भी देखी जा सकती है। 'लोक-चिन्ता', 'लोक-दृष्टि' और 'भारतीय चिन्तन धारा का स्वाभाविक विकास' में इसी का कार्यान्वयन देखा जा सकता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जिस प्रकार भक्ति आन्दोलन के उद्भव के सन्दर्भ में अपना मत प्रस्तुत करते समय 'जोर देकर' अपनी बात कही, उसी तरह उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास को बुद्ध के बाद का सबसे बड़ा 'लोकनायक' कहा। यह उनकी तुलसीदास अथवा उनके काव्य के प्रति भावनात्मक प्रतिक्रिया या श्रद्धा मात्र नहीं थी, अपितु व्यावहारिक रूप में परम्परा का समुचित मूल्यांकन करने के पश्चात् सैद्धान्तिक आधार पर दिया गया मत था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की कबीर सम्बन्धी मान्यताओं को प्रायः आचार्य शुक्ल की सम्पूर्ण सैद्धान्तिक मान्यताओं के विरुध्द उपस्थित किया जाता है, बिना यह जाने कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की तुलसीदास सम्बन्धी मान्यताएँ क्या थी और उनकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ कितनी अन्तर्वेशी थी। तुलसीदास के सन्दर्भ में उनका स्पष्ट मत था - "चरित्र चित्रण में तुलसीदास की तुलना संसार के गिने-चुने कवियों के साथ ही की जा सकती है।...भाषा की सृष्टि से भी तुलसीदास की तुलना हिन्दी के किसी अन्य कवि से नहीं की जा सकती है।"[80]

निःसंदेह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'भारतीय परम्परा का स्वाभाविक विकास' दिखाने के क्रम में 'लोक-दृष्टि' को तरजीह दी है, किन्तु उन्होंने वैचारिक स्तर पर कभी साहित्य से हटकर मात्र सांस्कृतिक स्तर पर किसी भी रचनाकार की अवहेलना नहीं की है, न व्यावहारिक स्तर पर और न सैद्धान्तिक स्तर पर। यही कारण है कि उनके सैद्धान्तिक आधारों में कबीर जितना ही महत्व तुलसीदास

---

[79]. हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.२६५

[80]. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.१३३

का भी है, छायावाद जितना महत्व प्रगतिवादी का भी है। उन्होंने जहाँ कबीर की 'संधा भाषा' की सामाजिकता को भी समझा-समझाया है, वहीं जायसी और तुलसीदास की शुद्ध कही जानेवाली लोकभाषा को भी। परम्परा के विकास को ही महत्व देते समय उन्होंने रीतिकाल में मौलिकता के अभाव को बड़ी सावधानी से रेखांकित किया, वहीं उसमें अनुपस्थित लोक-चिन्ता के प्रति भी आलोचनात्मक रवैया अपनाया। उन्होंने साहित्य की सामाजिकता में साहित्य का लोकवादी दृष्टिकोण प्रत्येक कवि एवं रचना-समय में रेखांकित किया, उसी प्रकार सैद्धान्तिक स्तर पर मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया। भले ही आचार्य शुक्ल ने जिस प्रकार रसवादी प्रतिमान के सैद्धान्तिक स्तर पर व्यापक प्रयोग किया है, वैसा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास लेखन में न दिखाई देते हो, किन्तु उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों काव्य-सिद्धान्तों को आलोचनात्मक स्तर पर स्वीकार किया है। लोक और लोक चिन्ता उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं की धुरी है तो परम्परा सिद्धान्तों को पोषण रूप में उपस्थित होती है। सिद्धान्तों को उदाहरण यहाँ भी आचार्य शुक्ल की मान्यताओं की भाँति ठोस आधार-भूमि पर लाकर खड़ा करते हैं। हिन्दी आलोचना को सैद्धान्तिक आधार पर नया मोड़ देने में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सिद्धान्तों ने अपनी महती भूमिका का निर्वहन किया है। इस अर्थ में उनका साहित्येतिहास लेखन इतिहास में दर्ज होने योग्य है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास लेखन के पश्चात् हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में साहित्येतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण का तो विकास हुआ किन्तु साहित्यिक सिद्धांतों के क्षेत्र में प्रायः उदासीनता छायी रही। सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक स्तर पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद के इतिहास लेखन ने हिन्दी साहित्यालोचना को बहुत ही कम सिद्धान्त दिए हैं। इसके कई सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक कारण गिनाए जा सकते हैं। वास्तविक रूप में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद का हिन्दी साहित्येतिहास लेखन तीन वर्गों में विभाजित हो गया। पहला वर्ग उन इतिहासकारों का था, जो आचार्य शुक्ल की साहित्येतिहास और सैद्धान्तिक-वैचारिक मान्यताओं को लेकर आगे बढ़ा। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का साहित्येतिहास लेखन आचार्य शुक्ल की सैद्धान्तिक मान्यताओं की लकीर पर चलता हुआ देखा जा सकता है। उसमें साहित्येतिहास-दृष्टि की कुछ भिन्नता हो सकती है, किन्तु साहित्यिक-सिद्धान्तों के क्षेत्र में वह आचार्य शुक्ल का प्रायः अनुगमन करता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का साहित्येतिहास ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का अतीत' (दो भागों में) आचार्य शुक्ल की मान्यताओं को सिद्ध करनेवाला सिद्ध होता है। उन्होंने आचार्य शुक्ल के साहित्य-सिद्धान्त

'समन्वयवाद' को अपने सम्पूर्ण साहित्येतिहास का आधार बनाया। इसी आधार पर वे कबीर को समाजसुधारक नहीं मानते हैं। दूसरे वर्ग में वे इतिहासकार आते हैं, जो आचार्य शुक्ल के साहित्यिक सिद्धान्तों को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के पूर्णतः विरुद्ध मानते हुए, आचार्य द्विवेदी के साहित्य सिद्धान्तों की सराहना करते हुए साहित्येतिहास लिखने का दावा प्रस्तुत करते हैं। डॉ.रामअवध द्विवेदी ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाँति 'भारतीय परम्परा का स्वाभाविक विकास' सूफी प्रेमाख्यान काव्यों में दिखाने का प्रयास करते हुए, उन्हें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा से जोड़ा। तीसरा वर्ग उन साहित्येतिहासकारों का है, जो इन दो साहित्येतिहासकारों से भिन्न दृष्टि एवं सैद्धान्तिक मान्यताओं के आधार पर साहित्येतिहास लिखने की चुनौती का सामना करना चाहता है। डॉ.बच्चन सिंह का 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' और 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' इस कोटि के इतिहास ग्रंथ हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के समय में ही साहित्येतिहास लेखन करने वाले आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने तो यह भी दावा प्रस्तुत किया था कि - "इस ग्रंथ में मैंने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन प्रायः सब हिन्दी लेखकों की प्रचलित परम्परा का उल्लंघन करके अपने कुछ ऐतिहासिक दृष्टिकोण निर्धारित किए हैं और उनके समर्थन में इतिहास की सामाजिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि की सीमाएँ दी हैं।"[81] इसी प्रकार एक चौथा वर्ग भी था जो आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी की साहित्यिक-सैद्धान्तिक मान्यताओं के बीच समन्वय करना चाहता है, जो इन्हें दो छोरों पर स्थित नहीं मानता बल्कि एक-दूसरे की पूरक, कभी-कभी तो एक ही मानकर साहित्येतिहास की परिकल्पना करता है। इस स्थिति में डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी को माना जा सकता है।

इतिहास क्रम में साहित्यकारों की विचारधारा-भावधारा-रूप आदि में समन्वय दिखाना अलग बात है और अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों की सैद्धान्तिक मान्यताओं को बीच समन्वय साधते हुए साहित्येतिहास लिखना इससे बिल्कुल भिन्न बात है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में डॉ.बच्चन सिंह एवं डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी के इतिहास ग्रंथों में अपने कुछ झुकावों को छोड़कर इस दुसाध्य कार्य को करते हुए देखे जा सकते हैं। इन दोनों इतिहासकारों की दृष्टि में अपने पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा के साथ-साथ अपने से पहले के तमाम इतिहासकारों पर भी थी। उन्होंने इतिहास लेखन के लिए न केवल साहित्य एवं उसकी परम्परा का अपितु हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा एवं उसकी वैचारिक-

---

[81]. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास-आचार्य चतुरसेन शास्त्री, दो शब्द, पृ.०१

सैद्धान्तिक मान्यताओं का भी गहन अध्ययन किया है। इसकी झलक उनके साहित्येतिहासों में स्थान-स्थान पर देखी जा सकती है। इसी प्रकार इन दोनों साहित्येतिहासकारों ने भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों का उपयोग हिन्दी साहित्येतिहासों में प्रयुक्त साहित्य सिद्धान्तों को परखने का प्रयास किया। इस रूप में भले ही इन इतिहासकारों ने नवीन सैद्धान्तिक मान्यताओं की उद्‌भावना नहीं की हो किन्तु उन्होंने पूर्ववर्ती इतिहासकारों के सिद्धान्तों को परखते हुए अपने साहित्येतिहास ग्रंथों को संभव बनाया। जैसे बच्चन सिंह का रीतिकालीन साहित्य के सम्बन्ध में मत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से भिन्न नहीं है, किन्तु इसे उन्होंने पुनर्परिभाषित करने का कुछ यों प्रयास किया - "वर्ण्य विषय की दृष्टि से अनेक ग्रंथों को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि में वे ग्रंथ आएँगें, जिसमें रस तथा उनके भेदों का वर्णन किया गया है। दूसरी कोटि की पुस्तकों में अलंकारों, शब्दशक्तियों आदि को वर्ण विषय बनाया गया है। रीतिकाल के आचार्यों की भाँति लछिराम ने भी काव्यशास्त्र सम्बन्धी कोई मौलिक उद्‌भावना नहीं की है।"[82] स्पष्ट रूप से यहाँ संस्कृत काव्यशास्त्र को ठीक उसी रूप में उपयोग में लाया गया, जिस प्रकार आचार्य शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहास ग्रंथो में लाया गया है।

डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी का साहित्येतिहास लेखन सैद्धान्तिक मान्यताओं के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के माध्यम से संस्कृत काव्यशास्त्र का ऋणी है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा प्रयुक्त सृजनात्मकता, संवेदना, संश्लिष्ट भाव-चित्र या बिम्ब तथा विभावन, विरुद्धों का सामंजस्य, अन्तर्विरोध, काव्यभाषा आदि सैद्धान्तिक मान्यताएँ आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास लेखन से यथावत् स्वीकार कर ली गई है। भाषा एवं रूप पक्ष पर अत्याधिक बल देने के कारण उनका साहित्येतिहास संवेदना के विकास अधिक साहित्य के रूप और उसके भाषिक संवेदना का इतिहास बन गया है। डॉ.चतुर्वेदी साहित्य की संवेदना तक भाषा के माध्यम से पहुँचने का प्रयास करते हैं। कई बार ऐसा लगता है उनके साहित्येतिहास में भाषा संवेदना को ही सैद्धान्तिक स्तर पर स्वीकार किया गया है। वस्तु के रूप में उन्होंने सारे सिद्धान्त आचार्य शुक्ल से तो लिए ही हैं, किन्तु उनके द्वारा साहित्य के वस्तु पक्ष के लिए प्रयुक्त सैद्धान्तिक मान्यता हिन्दी साहित्येतिहास के आधुनिक काल तक सही जान पड़ती है, जिसमें वे कहते हैं, "मनुष्य की अवधारणा के रूप हिन्दी साहित्य के इतिहास में कई बार बदले हैं, और इसी के साथ परम तत्व को लेकर उसके रिश्ते भी। आदिकाल के प्रसंग में हमने परिलक्षित किया था कि यहाँ मनुष्य का ईश्वर की महिमा से युक्त रूप में वर्णन हुआ है, जबकि भक्ति काल में यह चित्रण ईश्वर का मनुष्य के रूप में हुआ है, आगे फिर

---

[82]. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास-डॉ.बच्चन सिंह, पृ. २२८

रीतिकाल में ईश्वर और मनुष्य दोनों का मनुष्य-रूप में चित्रण होता है। आधुनिक काल में आकर मनुष्य सारे चिन्तन का केन्द्र बनता है, और ईश्वर की धारणा व्यक्तिगत आस्था के रूप में स्वीकृत होती है, साहित्यिक या कि कलाओं में उसका चित्रण प्रासंगिक नहीं रह जाता।"[83] इस सैद्धान्तीकरण को हिन्दी साहित्येतिहास के सन्दर्भ में व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो इसमें साधारणीकरण का प्रयास दिखाई देता है। इसमें अव्यापति दोष तो मध्यकाल तक के ही साहित्य के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। यह सही नहीं है कि तमाम रीतिकालीन साहित्य में ईश्वर और मनुष्य दोनों का चित्रण मनुष्य के ही रूप में होता है। कई बार राजाओं के चित्रण में इतनी अति देखी जा सकती है कि उसमें हमें आदिकालीन चित्रण की झलकियाँ देखने को मिलती है। ठीक उसी प्रकार आधुनिक कालीन साहित्य में भी हमें ईश्वर का चित्रण भिन्न अर्थों में हिन्दी साहित्य में देखने को मिलता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के आधार पर सैद्धान्तीकरण के क्रम में इतिहासकार ने सरलीकरण कर दिया है। इस प्रकार डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी के साहित्येतिहास लेखन में आचार्य शुक्ल की मान्यताओं को सफल रूप में कार्यान्वित होते हुए तो देखा जा सकता है, किन्तु जैसाकि हमने पहले प्रस्तावित किया, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास लेखन में बाद हिन्दी साहित्येतिहास लेखन ने सैद्धान्तिक क्षेत्र में बहुत ही कम विकास किया।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में सैद्धान्तिक क्षेत्र के विकास में संस्कृत काव्यशास्त्र, पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों के साथ-साथ कई आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक विमर्शों ने भी अपना योगदान दिया। समय-समय पर उठे विमर्शों के साथ भारतीय चिन्तन परम्परा को भी कई बार पुनर्विचार के लिए प्रस्तुत किया गया। इस रूप में रस, अलंकार, ध्वनि आदि सैद्धान्तिक मान्यताओं का भी पुनर्पाठ किया गया। इस चिन्तन की नवीनता ने भी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन पर अपेक्षित प्रभाव डाला और हिन्दी आलोचना में इसके आधार पर कई सिद्धान्तों का निर्माण भी हुआ, किन्तु हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के सिद्धान्त निर्माण क्षेत्र पर इसका कम ही प्रभाव देखा जा सकता है। दलित एवं आदिवासी विमर्श अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं में अभी साहित्य क्षेत्र में ही स्पष्टता नहीं ला पाए हैं। इस आधार पर हिन्दी में दलित तथा आदिवासी साहित्य पर कई शोधकार्य भी किए गए हैं और स्वतंत्र रूप में इतिहास लिखने के प्रयास भी हुए हैं, किन्तु सिद्धान्त निर्माण में अभी तक इन विमर्शों ने अपनी महती भूमिका नहीं निभाई है। अपने सम्पूर्ण इतिहास को देखने का दृष्टिकोण अवश्य बदला है, किन्तु सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को लेकर किसी सिद्धान्त की स्थापना करने में इतिहासकार अभी तक सफल नहीं हो पाए हैं। इस रूप में देखा जाए तो

---

[83]. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ.७८-७९

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में स्त्री लेखन ने सैद्धान्तिक स्तर पर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को अवश्य प्रभावित किया है। सुमन राजे द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास को नए स्त्रीवादी दृष्टिकोण से बगैर नारेबाज़ी के प्रस्तुत करता है। डॉ.राजे न केवल सैद्धान्तिक मान्यताएँ प्रस्तुत करती हैं, अपितु उन्होंने उदाहरण के रूप में संस्कृत से लेकर आधुनिक साहित्य तक का इतिहास प्रस्तुत कर दिया। इस इतिहास के नामकरण, काल-विभाजन में ही नहीं, सर्वत्र स्त्रीवादी दृष्टिकोण स्पष्ट झलकता है। वैज्ञानिकता और आलोचनात्मक इतिहास लिखने का दावा करनेवाले साहित्येतिहासकार भी दृष्टि की नवीनता तो दिखाते हैं, किन्तु सैद्धान्तिक विकास की दिशा में वे निराश करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद हिन्दी आलोचना ने अपना विकास कई दिशाओं में किया, किन्तु सिद्धान्त निर्माण एवं उसके व्यावहारिक उपयोग में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में नैराश्य ही छाया रहा।

सारांशतः कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास की अवधारणा विकसनशील रही है। इतिहास की धारणा की भाँति साहित्येतिहास की अवधारणा में युगानुरुप परिवर्द्धन-परिवर्तन होते आए हैं, इससे साहित्येतिहास के मूलभूत ढाँचे, लेखन पद्धति, मूल्यांकन पद्धति, दृष्टि आदि में काफी अन्तर आता गया है। इसका श्रेय साहित्येतिहास की परिवर्तित होती हुई अवधारणा को दिया जा सकता है। साहित्येतिहास की अवधारणा एवं उसके व्यावहारिक रूप में आए बदलाव एक ओर साहित्य की गतिमानता की ओर संकेत करते हैं तो दूसरी ओर साहित्येतिहास की व्यापकता की ओर। इस व्यापकता में मानवीय चिन्तन से लेकर ज्ञान-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान के क्षेत्र में हो रहे बदलावों को भी गिनाया जा सकता है। समय के साथ साहित्येतिहास लेखन अधिकाधिक अन्तर्वेशी बनता गया और उसकी अवधारणा में गतिमान विकास होता गया।

साहित्य के विकास के साथ उसके अतीत के सम्बन्ध में शोध भी होते रहते हैं। साहित्य के अतीत सम्बन्धी शोधों की आवश्यकता साहित्येतिहास की आपूर्ति भर के लिए नहीं होती, वरन् वर्तमान साहित्य कई मायनों में अपने अतीत के रचना, रचनाकार या रचना-युग से प्रेरणा पाता रहता है। इस क्रम में साहित्येतिहास के लिए केवल सामग्री ही उपलब्ध नहीं होती है, बल्कि इससे साहित्येतिहास में बदलाव भी होते रहते हैं। साहित्येतिहास अतीत के साथ-साथ वर्तमान मूल्यों के आधार पर भी अपने इतिहास का मूल्यांकन करता है। इस अर्थ में साहित्येतिहास गतिमान होता है और साहित्येतिहास परिवर्तनशील होता है। साहित्येतिहास की अवधारणा में केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नहीं करता, अपितु वर्तमान

भी अतीत को प्रभावित करता है। इसके उदाहरण रूप में हिन्दी साहित्येतिहास में कवियों के महत्व की बदलती हुई को देखा जा सकता है। आचार्य शुक्ल के साहित्यिक मूल्यों में सगुण साहित्य का तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक मूल्यों में कबीर का अतिरिक्त महत्व इन्हीं मूल्यों के चलते स्थापित हो पाया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद हिन्दी साहित्येतिहास लेखन साहित्यिक एवं सामाजिक मूल्यों को लेकर दो भागों में बँट गया। एक प्रकार की साहित्येतिहास दृष्टि का प्रतिनिधित्व आचार्य शुक्ल कर रहे थे तो दूसरे का आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी। आचार्य द्विवेदी के बाद के समय में बहुत सारे इतिहास ग्रंथ इन्हीं दो दृष्टियों को लेकर आगे बढ़ते रहे और कुछ मायनों में अभी भी बढ़ रहे हैं। डॉ.बच्चन सिंह ने 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को नवीन दृष्टि देने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने अपनी साहित्यिक दृष्टि का निर्माण अपने समकालीन साहित्य के आधार पर भी किया, उसी प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्य दृष्टि में उनके समकालीन प्रगतिवादी आन्दोलन के मूल्यों को सक्रिय रूप में देखा जा सकता है। ठीक उसी प्रकार डॉ. बच्चन सिंह ने अपने समय तक इतिहास पर हुए शोधों का आधार अपने साहित्येतिहास लेखन के लिए लिया। इसी क्रम में डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी का नाम भी लिया जा सकता है। हिन्दी साहित्य में चल रहे विमर्शवादी स्वर का प्रभाव ही है जो हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में सुमन राजे के 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' के रूप में सामने आया है। नए मूल्यों के उद्‌भव के साथ हर पीढ़ी को नए साहित्येतिहास की आवश्यकता महसूस होती रहेगी, जिसमें अनिवार्य रूप से पिछली पीढ़ी के साथ मूल्य-संघर्ष निर्माण होगा। इसे नए साहित्येतिहास के माध्यम से ही पूर्ण किया जा सकेगा।

दो पीढ़ियों के बीच साहित्यिक-सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनैतिक मूल्यों में टकराहट और समन्वय साहित्येतिहास की अवधारणा के अतिरिक्त नामकरण एवं काल-विभाजन में भी देखा जा सकता है। अधिकांश काल-विभाजन एवं नामकरण के केन्द्र में काव्य-साहित्य ही रहा है। गद्य साहित्य को केन्द्र में रखकर साहित्य में न तो काल-विभाजन प्रचलित हो पाया है और न ही नामकरण ही। अभी तक एक भी इतिहास ग्रंथ में गद्य एवं पद्य साहित्य में सन्तुलन स्थापित करते हुए नामकरण एवं काल-विभाजन करने में किसी भी साहित्येतिहासकार को सफलता नहीं मिल पायी है। रीतिकाल तक के साहित्य के सन्दर्भ में काल विभाजन को लेकर आचार्य शुक्ल की दृष्टि को सही माना जा सकता है। हिन्दी साहित्य में सन् १८५७ ई. से आधुनिक साहित्य का आरंभ मानना अधिक तर्कसंगत लगता है, जैसाकि बच्चन सिंह ने

सुझाया था। भारतेन्दु युग को पर्याय रूप में 'पुनर्जागरण और परिवर्तन काल' भी कहा जा सकता है, जैसाकि ऐडविन ग्रिब्ज़ ने कहा था। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता आदि नामकरणों एवं उनके आरंभिक वर्षों को लेकर अधिक विवाद नहीं हैं। छायावाद के प्रथम कवि प्रसाद, पंत, निराला में से कौन हैं, इस विवाद को भूलकर सन् १९१८ ई. में 'झरना' के प्रकाशन से छायावाद का आरंभ माना जाना चाहिए। सन् १९३६ ई. में हुए प्रगतिशील साहित्य सम्मेलन से हिन्दी में प्रगतिवाद का आरंभ माना जाए तो बेहतर होगा। वैसे प्रगतिवादी आन्दोलन अपनी प्रौढ़ता में समकालीन साहित्य तक मौजूद है, किन्तु सन् १९४३ ई. में प्रकाशित 'तारसप्तक' से प्रयोगवाद का आरंभ माना जाए। इसके बाद कई काव्यान्दोलन आते हैं, इनका भी समुचित मूल्यांकन हिन्दी साहित्येतिहास के अन्तर्गत किया जाना चाहिए किन्तु उनकी प्रवृतियाँ तय करके नामकरण अथवा काल-विभाजन करना दुभर कार्य है। इधर के समय में हिन्दी आलोचना में साठोत्तरी कविता, सत्तर के दशक के बाद का हिन्दी साहित्य, अन्तिम दशक की हिन्दी कविता आदि नाम प्रचलित हो चले हैं। विमर्शों के चलते समाज की तरह साहित्य को भी बाँटकर उन्हें आदिवासी, दलित, स्त्री आदि कोटियों में विभाजित किया जा रहा है।

नामकरण की भाँति विभिन्न साहित्यिक आन्दोलनों को लेकर भी हिन्दी साहित्येतिहास में मतैक्य नहीं है। आदिकाल के उदय से उसके काल, हिन्दी का प्रथम कवि, भाषा का आरंभ, प्रथम रचना, संदिग्धता-असंदिग्धता जैसे गंभीर प्रश्न जुड़े हुए हैं। भक्ति आन्दोलन के उदय के सम्बन्ध में सर्वाधिक मतभिन्नता देखने को मिलती है। 'भक्ति द्रविडी उपजी' को सभी साहित्येतिहासकार वैदुष्य स्तर पर मान्यता देते हैं, किन्तु उत्तर में उसके प्रवास एवं स्थिर होकर विकसित होने और उसकी रीतिवादी परिणति पर इतिहासकार अपनी-अपनी राय रखते हैं। भक्ति आन्दोलन के उद्भव की जितनी व्याख्याएँ की गई है, उतनी ही उसके विकसित होकर असामाजिक रीतिवादी दरबारी काव्य में बदल जाने की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। यह प्रश्न वैसे ही अनुत्तरित छोड़ दिया गया, जिस प्रकार आचार्य शुक्ल आधुनिक गद्य का प्रवर्तन नाटकों से होने का उल्लेख करते हुए उस पर केवल आश्चर्य व्यक्त करके अनुत्तरित छोड़ देते हैं। छायावादी काव्यान्दोलन हिन्दी साहित्येतिहास में मूल्यांकन सम्बन्धी कई कठिनायियों को लेकर उपस्थित हुआ। रहस्यवाद, काव्य की सामाजिकता, शैली विशेष के प्रयोग, खड़ी बोली में मधुरता, देशी-विदेशी प्रभाव आदि बिन्दुओं को साहित्येतिहासकारों ने उपस्थित किया। प्रयोगवाद को विचारधारा विशेष का पिछलग्गू माना जाए अथवा युग की देन? इस सम्बन्ध में साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में डॉ. बच्चन

सिंह और डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी तक आना पड़ा। हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद के बाद आन्दोलन के रूप में प्रयोगवाद को स्थान दिया जाता है, जिसका आरंभ अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तार सप्तक' (सन् १९४३ ई.) से होता है। इसमें साहित्येतिहासकारों के बीच कोई मतभेद देखने नहीं मिलता। इसके बाद के साहित्यिक आन्दोलनों को, आन्दोलन के रूप में नहीं देखा जा सकता है। क्योंकि कोई भी वैचारिक-सामाजिक आन्दोलन साहित्य में न तो प्रतिफलित हुआ और न वैसी एकल प्रवृत्तियाँ ही साहित्य में देखने को मिलती हैं। कुछ आयातित प्रवृत्तियों के चलते हिन्दी में स्त्रीवाद, दलित, आदिवासी और पसमान्दा आदि विमर्श चले आए हैं, जिन्हें 'आन्दोलन' भी कहा जाता है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में अभी इन्हें स्थान नहीं मिल पाया है, क्योंकि इधर कोई साहित्येतिहास प्रकाश में नहीं आया। इन्हें लेकर हिन्दी आलोचना में खूब बहस-मुबाहिसें जारी हैं, किन्तु अभी हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने इनके सन्दर्भ में कोई मत प्रस्तुत नहीं किया है।

साहित्येतिहास में साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा आन्दोलनों के उद्‌भव एवं उसके विकास के पीछे की परिस्थितियों को प्रस्तुत करने और उन्हें समझने-समझाने की दृष्टियों भी अन्तर देखने को मिलता है। इस दिशा में भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल के सन्दर्भ में अधिक मतवैभिन्य दिखाई देता है। आरंभिक इतिहासकारों ने छायावाद के पलायनवाद, रहस्यवाद तथा शैली विशेष मानते हुए मात्र साहित्यिक आन्दोलन माना था। डा. बच्चन सिंह ने छायावाद की सामाजिक भूमिका पर प्रकाश डाला तो डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'शक्ति काव्य' के रूप सांस्कृतिक-राजनैतिक जड़ों की तलाश करने का प्रयास किया। प्रयोगवादी आन्दोलन को बजाए सामाजिक-राजनैतिक आवश्यकता के रूप में रेखांकित करने के आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसे मात्र मार्क्सवाद से प्रेरित एक राजनैतिक आन्दोलन माना। प्रयोगवाद की सामाजिक भूमिका को रेखांकित करने के क्रम में भी इसे मात्र एक साहित्यिक पहल के रूप में रेखांकित किया गया। डॉ. बच्चन सिंह इसे आधुनिकतावाद से जोड़कर देखते हैं तो डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी 'तार सप्तक' के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का प्रवेश मानते हैं। इसी प्रकार हिन्दी में प्रयोगवादी कविता, नई कविता और उसके बाद आनेवाले साहित्यिक आन्दोलनों, हिन्दी रंगमंच में आनेवाले इप्टा (IPTA), जनवादी नाट्य मंच आदि मंचन मंडलियों, नाट्य साहित्य में आनेवाली पौराणिक-मिथकीय चेतना, काव्य-नाट्य का जोरदार प्रसार, विभिन्न किसान-मज़दूर आन्दोलनों एवं उसके साथ आनेवाले नुक्कड़ नाटक, प्रगतिवाद से भिन्न किन्तु वैचारिक स्तर पर उसी से जुड़नेवाली

जनवादी कविता, दुष्यन्त के माध्यम से हिन्दी में ग़ज़ल का चरमोत्कर्ष आदि को उनकी युगीन परिस्थतियों में सूक्ष्मता से विवेचित करना अभी बाकी है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में सैद्धान्तिक क्षेत्र के विकास में संस्कृत काव्यशास्त्र, पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों के साथ-साथ कई आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक विमर्शों ने भी अपना योगदान दिया। इस रूप में रस, अलंकार, ध्वनि आदि सैद्धान्तिक मान्यताओं का भी पुनर्पाठ किया गया। इस चिन्तन की नवीनता ने भी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन पर अपेक्षित प्रभाव डाला और हिन्दी आलोचना में इसके आधार पर कई सिद्धान्तों का निर्माण भी हुआ, किन्तु हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के सिद्धान्त निर्माण क्षेत्र पर इसका कम ही प्रभाव देखा जा सकता है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में स्त्री लेखन ने सैद्धान्तिक स्तर पर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को आवश्य प्रभावित किया है। सुमन राजे द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास को नए स्त्रीवादी दृष्टिकोण से बगैर नारेबाज़ी के प्रस्तुत करता है। वैज्ञानिकता और आलोचनात्मक इतिहास लिखने का दावा करनेवाले साहित्येतिहासकार भी दृष्टि की नवीनता तो दिखाते हैं, किन्तु सैद्धान्तिक विकास की दिशा में वे निराश करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद हिन्दी आलोचना ने अपना विकास कई दिशाओं में किया, किन्तु सिद्धान्त निर्माण एवं उसके व्यावहारिक उपयोग में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में नैराश्य ही छाया रहा।

हिन्दी साहित्येतिहास की पुस्तकों में आधुनिकता, आधुनिकतावाद, पुनर्जागरण के सन्दर्भ में साहित्य के सम्बन्धों को लेकर कोई मौलिक धारणा की अभिव्यक्ति नहीं हुई है। प्रायः इतिहासकारों ने आधुनिक काल के आरंभ में साहित्येतिहास के क्रम एवं साहित्य में आए बदलावों को नोटिस किया है और मध्यकालीनता से आधुनिक साहित्य की भिन्नता की ओर संकेत किए हैं। डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ.बच्चन सिंह आदि जैसे बहुत कम हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने इस अवधारणा को साहित्य के सन्दर्भ में समझने-समझाने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने आधुनिकता का प्रयोग नए बदलावों के सन्दर्भ में किया था, जो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास लेखन में अवधारणात्मक स्तर पर स्वीकार किया गया। जिस प्रकार हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद का इतिहास लेखन आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी के खेमों में बँट गया था, उस रूप में आधुनिकता की अवधारणा एवं आधुनिक साहित्य में आए मूलभूत बदलावों को लेकर विभाजन की स्थिति नहीं दिखाई देती है। अवधारणात्मक स्तर पर जैसे-जैसे समाज विज्ञान में आधुनिकता सम्बन्धी चर्चा में स्पष्टता आती

गई, उसी अनुपात में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में भी इसके प्रयोग में।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की अवधारणा एवं उसकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ तथा व्यावहारिक रूप में इतिहास लेखन अपने शताधिक वर्षों में कई मायनों में परिवर्द्धित-परिवर्तित होता आया है। वैचारिक एवं भावनात्मक-संवेदनात्मक रूप में सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के साथ भाषा का इतिहास भी प्रस्तुत करने की जिम्मेदारी का वहन करना हिन्दी साहित्येतिहास के लिए अनिवार्य होता जा रहा है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन ने अपने शोध एवं आलोचना से सम्बन्धों को सन्तुलित करने में हमेशा महती भूमिका का निर्वहन किया है।

उपसंहार

इतिहास एवं साहित्येतिहास : अर्थ एवं अन्तर्संबन्ध, इतिहास : व्याख्या एवं अवधारणाएँ, पश्चिम में इतिहास एवं ऐतिहासिक चेतना का विकास, भारत में इतिहास एवं ऐतिहासिक चेतना का विकास और साहित्येतिहास : व्याख्या एवं अवधारणाएँ इन बिन्दुओं पर गहराई से विवेचन करने के पश्चात् सारांश रूप में कहा जा सकता है कि 'इतिहास' शब्द की व्याख्या 'इति+हास' अर्थात 'ऐसा घटित हुआ था' के रूप में की जाती है। इतिहास अब एक अवधारणा का रूप धारण कर चुका है। इतिहास की अवधारणा को कई विद्वानों ने व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। इसमें से कोई भी व्याख्या पूर्ण इसलिए नहीं कही जा सकती है, क्योंकि इतिहास की अवधारणा अत्यन्त गतिशील रही है।

पश्चिम में जिस हिरोदोतस को पहली बार इतिहास लेखन का श्रेय दिया जाता है, उनके अनुसार इतिहास का सम्बन्ध आँखों देखी वर्तमान घटनाओं से था, जिसमें उन्होंने अपने देखे युद्ध आदि का वर्णन किया है। संभवतः हिरोदोतस से ही प्रभावित होकर बेनिदेतो क्रोचे ने इतिहास को परिभाषित करते हुए उसका सम्बन्ध मानव जीवन की गतिशीलता एवं उसमें घटित वस्तु से माना है। प्रो.गालब्रेथ द्वारा दी गई व्याख्या इन दोनों विद्वानों की व्याख्याओं के ठीक विपरित जाती दिखाई देती है। उनके अनुसार इतिहास का सम्बन्ध ज्ञात भूतकाल से है। इस व्याख्या में व्याप्त शोध की संभावना को जिस नकारवादी दृष्टि से देखा गया है, उसे दूर करने के क्रम में इतिहास को व्याख्यायित करते हुए कॉलिंगवुड ने गवेषणा या जाँच-पड़ताल कहा है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार ई.एच.कार ने इतिहास की व्याख्या को व्यापकता प्रदान करते हुए इसे मानव के देश-काल में परिवर्तन के अतिरिक्त इतिहासकार की तत्सम्बन्धी व्याख्या से भी जोड़ने का प्रयास किया। इसी व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए जेम्स हार्वे रॉबिन्सन ने इतिहास को भूतकाल की विस्तृत जानकारी माना है। इन सभी व्याख्याओं को अत्यन्त व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए रेमण्ड विलियम्स ने इतिहास को मात्र भूतकाल मानने की संकुचित दृष्टि कहा और इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण सृष्टि के ज्ञान और जानकारी से जोडा। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई इतिहास की व्याख्याएँ युगानुरूप परिवर्तित-परिवर्द्धित होती रही है, जैसे-जैसे उसकी अवधारणा में बदलाव आते गए।

भारत में इतिहास को देखने की समझ आरंभ में सतही रही है। प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय वृहदारण्यक तथा छन्दोग्योपनिषद में भी इस शब्द का प्रयोग देखा

जा सकता है। महाभारतकार के अनुसार इतिहास द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की स्थापना एवं सुरक्षा में सहायता प्राप्त होनी चाहिए। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी विश्वकोश' के अनुसार इतिहास का सम्बन्ध विगत काल की घटनाओं एवं उसके सम्बन्धी दृष्टिकोण से है। डॉ.पी.एल.शर्मा ने इतिहास को मनुष्य के संघठित जीवन के सभी पहलुओं से जोड़कर देखा है। प्रो.डी.डी.कोसाम्बी ने इतिहास को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उत्पादन के संसाधनों एवं उसके परिवर्तनों की प्रस्तुति से जोड़कर देखा है।

इसके अतिरिक्त इतिहास में इतनी धाराओं का विकास हुआ है कि उन सबको एक व्याख्या में समेटना लगभग असंभव है। जैसे सबाल्टर्न हिस्ट्री नाम से लिखे जा रहे इतिहास केवल राजा-रानी के इतिहास को इतिहास लेखन मानते ही नहीं। केवल तथ्यों के प्रस्तुतिकरण से आगे इतिहास उसे समुचित दृष्टिकोण से व्याख्यायित-विश्लेषित करता है। वह वर्तमान के आलोक में भूत को देखता है और भूतकाल की व्याख्या तथ्यों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। इतिहास लेखन मानव जाति तक ही सीमित नहीं होता बल्कि वह उससे जुड़े तमाम पहलूओं, विचारों एवं स्थावर-जंगम जगत् की व्याख्या करता है, उन्हें प्रस्तुत करता है। इसे इतिहास की व्यापक रूप में विकसित होनेवाली अवधारणाओं में शामिल कर, उसे फिर से व्याख्यायित करने की आवश्यकता है।

ऐतिहासिक चेतना का आरंभ पश्चिम में पहले लिखित रूप में देखने को मिलता है, जहाँ युनानी लेखक हिरोदोतस ने इसे वैज्ञानिक विधा, मानवीय विधा, तर्कसंगत विधा एवं शिक्षाप्रद विधा के रूप में रेखांकित करते हुए अपनी पुस्तक लिखी थी। मिसीदाईदिस ने युद्धों के वर्णन को इतिहास माना। रोमन इतिहास लेखकों में साल्लुस्त, लिवी और तेसिरस् के नाम उल्लेखनीय हैं। तेसिरस् के साथ रोमन इतिहास लेखन का स्वर्णयुग समाप्त होता है।

पुनर्जागरण काल के जर्मन इतिहासकार मैक्यावली और विको नवीन इतिहास लेखन के अग्रदूत थे। मैक्यावली ने धर्म और नीति के अनुशासन से इतिहास को पूर्णतः मुक्त कर उसे पुनः यथार्थ के कठोर और रुक्ष धरातल पर प्रतिष्ठित किया। विको ने इतिहास का अतीत से ही संबंधन मानकर उसे वर्तमान से भी जोड़ने का आयोजन किया। विधेयवादी इतिहासकार इतिहास को कोरा तथ्यपरक और नीतिनिरपेक्ष बनाने के आग्रही थे। इनके ही यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास हमें १९वीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहास लेखन में देखने को मिलता है, इतिहासकार ई.एच.कार का भी लगभग यही मत है।

भारतीय इतिहास लेखन का प्रारंभिक रूप हमें वैदिक साहित्य में दिखाई देता है। बौद्ध पीटक, निकाय और जातकों तथा जैनों के ग्रंथों में भी इसके चिन्ह मिलते हैं। मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, भविष्य,

भागवत और गरुड़ पुराण में विभिन्न वंशों की कथाएँ दी गई हैं। महाभारत में ऐतिहासिक सामग्री की विपुलता को देखकर तो उसे अनेक बार इतिहास की उपाधि प्रदान की गई है। बाणभट्ट ने जहाँ 'कादम्बरी' में अपनी कल्पना को विकास का उन्मुक्त क्षेत्र प्रदान किया, वहीं 'हर्षचरित' में उसे ऐतिहासिक पुट द्वारा अनुशासित रखने का प्रयास किया। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' की रचना में प्राचीन इतिवृत्तों के अतिरिक्त शिलालेखों, प्रशस्तिपट्टों, दानपत्रों आदि से भी सहायता ली थी, जिसमें उन्होंने महाभारत के युग से लेकर अपने समय तक के राजवंशों का वर्णन किया है। सोमेश्वर का 'कीर्तिकौमुदी', अरिसिंह का 'सुकृतसंकीर्तन', मेरुतुंग का 'प्रबंध चिन्तामणि', राजशेखर का 'प्रबंधकोष', जयसिंह का 'हम्मीर मरदेन' तथा 'वस्तुपाल: तेजपाल प्रशस्ति', उदयप्रभ का 'सुकृतकीर्तिकल्लोलिणी', बालचन्द्र का 'वसन्तविलास', हेमचन्द्र का 'कुमारपालचरित' इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। ज्योतिश्वर ठाकुर का 'वर्णरत्नाकर' सामाजिक इतिहास और विद्यापति की 'कीर्तिलता' राजनैतिक इतिहास काव्य की अनूठी कृतियाँ हैं।

मुसलमान इतिहासकारों ने अपेक्षाकृत आधुनिक दृष्टि सम्पन्न राजाओं की योजनाओं के प्रशंसा में इतिहास लेखन किया। इस काल के इतिहासकारों में अल्बरुनी, अमीर खुसरो, फरिश्ता, अबुल फज़ल उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काल में भारतीय इतिहास लेखन कई दिशाओं में प्रगति कर रहा है, कहीं वह विचारधारा के तो कहीं विमर्शों के अनुसार प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका अकादमिक रूप भी अपने चरम पर है। इसके विश्व स्तर पर प्रचलित कई रूप भारत के वर्तमान इतिहास लेखन में देखने को मिलते हैं।

जिस क्रम में इतिहास लेखन के प्रयास होते गए उसी रूप में इसकी अवधारणा को लेकर भी स्पष्टता आती गई। इतिहास की ही भाँति साहित्येतिहास की अवधारणा का भी विकास उसके प्रयोगात्मक स्तर पर विकास के साथ आगे बढ़ता गया। साहित्येतिहास की अवधारणा को विभिन्न युगों में प्रत्येक पीढ़ी ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल के पूर्व किसी भी हिन्दी साहित्येतिहासकार ने साहित्येतिहास को व्याख्यायित करने का प्रयास नहीं किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसका सम्बन्ध जनता की बदलती हुई संचित चित्तवृत्तियों के युगीन परिस्थतियों से सामंजस्य बैठाने से जोड़ा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्येतिहास को अनादि काल-प्रवाह में निरन्तर प्रवाहमान जीवित की विकास कथा कहा है। डॉ.सुमन राजे के अनुसार युग और प्रवृत्तियों के विकास की चेतना का अनुसंधान साहित्येतिहास में होता है। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने साहित्येतिहास को मानव संस्कृति के अध्ययन का माध्यम माना। डॉ.शिवकुमार ने साहित्येतिहास को साहित्य की क्रमवार व्याख्या कहा है। मैनेजर पाण्डेय

ने साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा से साहित्येतिहास को समझने का प्रयास किया है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने साहित्येतिहास को लेखकों व समूह की कृति समष्टि का इतिहास कहा है। डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसकी अपेक्षा साहित्य को संवेदनाओं के विकास से जोड़कर देखा है।

सूक्ष्म रूप में देखा जाए तो प्रत्येक साहित्यकार अपने युग का सामाजिक इतिहास लिखता है, किन्तु उसे उस रूप में इतिहास की मान्यता नहीं दी जा सकती है। साहित्य सामान्य व्यक्ति की कथा कहता है, किन्तु उस रूप में नहीं, जिस रूप में इतिहास कहता है। साहित्य में इतिहास की भाँति तथ्यों, तिथियों, स्थानों के ब्यौरे नहीं होते हैं। साहित्येतिहास साहित्य संवेदनाओं, भावधाराओं एवं विचारधाराओं को साहित्यिक कृति के युगीन एवं अपने समकालीन मूल्यों से परखते हुए उसे परम्परा में मूल्यांकित करता है। इतिहास अपने साधनों में युग विशेष की तिथियों, परिस्थितियों एवं स्थानों को ब्यौरेवार तथ्यों के आलोक में प्रस्तुत करता है। साहित्येतिहास इन्हें साहित्यिक कृतियों में चित्रित स्थानों, चरित्रों, चरित्रों के बर्ताव आदि के माध्यम से समाज को देखने-दिखाने का उपक्रम करता है। इतिहास एवं साहित्येतिहास दोनों में अध्ययन की सुविधा हेतु साहित्यिक प्रवाह को कालों में विभाजित किया जाता है। इतिहास में भी तिथियों, स्थानों के सन्दर्भ में तथ्यों की दरकार होती है, किन्तु इन तथ्यों की व्याख्या प्रत्येक इतिहासकार अपनी दृष्टि के अनुसार करता हुआ देखा जा सकता है। इतिहास एक प्रकार से अतीत का तथ्यों के माध्यम से ज्ञान होता है, किन्तु साहित्येतिहास अतीत की संवेदनाओं के विकास का लेखा-जोखा होता है। साहित्येतिहास विचारों एवं उसके विकास का इतिहास भी होता है। इसके साथ वह साहित्यिक रूपों, विधाओं के विकास का भी इतिहास होता है। इतिहास में विचारों के युद्धों का तो वर्णन होता है, किन्तु प्रायः उनमें विचारों के इतिहास को अनदेखा किया जाता रहा है। इस प्रकार के अन्तर्संबंधों के होने के बावजूद साहित्येतिहास एवं इतिहास अपने में आदान-प्रदान की प्रक्रिया को अंजाम देते हुए अपने अस्तित्वों को आगे बढ़ा रहे हैं।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में निर्विवाद रूप से पहला प्रौढ़ साहित्येतिहास ग्रंथ आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' माना जा सकता है, किन्तु उनसे लगभग पचास पूर्व से हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा का आरंभ होता है। वैसे शुक्लपूर्व अधिकांश इतिहासकारों के ग्रंथ इतिहास लेखन के प्रयास मात्र कहे जा सकते हैं। तासी हिन्दी साहित्य के लिए ऐसे प्रथम पाश्चात्य विद्वान हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य और भाषा को अपने तीन भागों में प्रकाशित 'इस्त्वार-द-ला-लितरेत्यूर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' के माध्यम से वैज्ञानिकता प्रदान की है। उन्होंने अपने इतिहास ग्रंथ में अल्पांश

ही सही, लगभग सभी भारतीय भाषाओं के कवियों का उल्लेख किया है। तासी ने अपने इतिहास ग्रंथ की भूमिका से भारतीय इतिहास लेखन का मार्ग प्रशस्त करके साहित्येतिहास लेखन को दिशा दिखाने का प्रयास किया।

करीमुद्दीन द्वारा सन् १८४८ ई. में लिखित 'तबकातुश्शुअरा' इतिहास लेखन में महत्त्वपूर्ण कृति है, चाहे वह उर्दू का इतिहास हो या हिन्दी का, परन्तु दोनों दृष्टियों से इतिहास की परिसीमा में यह समा नहीं पाती है। हिन्दी के लिए यह दोनों रूप से इतिहास नहीं माना जा सकता है। तासी से करीमुद्दीन में विशेष अन्तर इतना है कि तासी ने अकारादि क्रम से लिखा तो करीमुद्दीन ने कालक्रमानुसार चलने का प्रयास किया, जो इतिहास लेखन की दिशा में एक सार्थक प्रयास कहा जा सकता है।

कविवृत्त संग्रहों में ठाकुर शिवसिंह सेंगर द्वारा लिखित 'शिवसिंह सरोज' का सर्वोपरि स्थान है। यदि तासी ने हिन्दी साहित्य को विदेशी आँख से देखा है तो शिवसिंह ने अति-भारतीय दृष्टि से। साहित्येतिहास की दृष्टि से तथ्यों की प्रामाणिकता एवं प्रामाणिक सूचनाओं से दोनों ही वंचित हैं । फिर भी शिवसिंह सरोज में जैसे - भाषा काव्य संग्रह और कवित्तरत्नाकर का प्रभाव अधिक पड़ा है, ठीक वैसे ही 'शिवसिंह सरोज' का प्रभाव परवर्ती इतिहासकारों के साथ डॉ.ग्रियर्सन और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर अधिक दिखाई देता है।

'मिश्रबन्धु विनोद' के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग का प्रकाशन सर्वप्रथम सन् १९१३ ई. और चतुर्थ भाग का प्रकाशन १९३४ ई. में हुआ था। सामग्री के अभाव के कारण तासी एवं शिवसिंह सेंगर ने इतिहास लेखन में असफलता पायी थी, वह मिश्रबन्धुओं के सम्बन्ध में अब दूर हो चुकी थी। इन्होंने सविस्तर काल-विभाजन का प्रयास किया है, जो साहित्यिक प्रवृत्तियों की अपेक्षा भाषा के विकास पर अधिक निर्भर है। नामकरण में भी कई दोष हैं। भाषा के इतिहास को भी साहित्येतिहास का अंग बनाया गया है। इतिहास लेखन के लिए नागरी प्रचारिणी सभा की शोध-रिपोर्टों का आधार लेने के बावजूद कई असंगतियाँ देखने को मिलती हैं। जैसे सम्पूर्ण इतिहास ग्रंथ में कुल पाँच हजार कवियों में से लगभग ढाई हज़ार से अधिक वर्तमान काल के रचनाकारों का नाम गिनाया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें लेखकों की आलोच्य क्षमता का अभाव दिखाई देता है। परन्तु आलोचना दृष्टि की अपेक्षा मिश्रबन्धुओं में ऐतिहासिक सामग्री संकलन करने की अद्वितीय क्षमता थी। भले ही मिश्रबन्धुओं का इतिहास लेखन आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन के शिखर को छू न सका हो, किन्तु शुक्लपूर्व लिखित इतिहास ग्रंथों में इसका महत्व निर्विवाद है।

ऐडविन ग्रीब्ज़ द्वारा सन् १९१८ ई. में लिखित 'अ स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर' एक दीर्घ लेख है। ग्रिब्ज़ को अधिक महत्व मिलने का कारण तासी और ग्रियर्सन की अपेक्षा इनकी सुस्पष्ट विवेचन एवं निरुपण पद्धति ही है। डॉ.श्यामसुन्दर दास ने इतिहास का वैज्ञानिक आधार ग्रिब्ज से ही ग्रहण किया तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास की आलोचना दृष्टि के सम्बन्ध में भाषा और साहित्य के इतिहास की प्रेरणा ग्रिब्ज़ से ली है। इतना होते हुए भी मूल्यांकन की विशिष्ट पद्धति का विकास उनके यहाँ देखने को नहीं मिलता है। साहित्येतिहास और आलोचना के सम्बन्धों का प्रौढ़ विकास उनके यहाँ भी उस रूप में देखने को नहीं मिलता है, जैसा आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के यहाँ होता है।

सन् १९२० ई. में प्रकाशित फ्रैंक ई.की. के साहित्येतिहास ग्रंथ 'अ हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर' में हिन्दी साहित्येतिहास की परम्परा का मूल्यांकन भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में किया गया तथा भौगोलिक एवं भाषिक दृष्टि को केन्द्रित करके साहित्येतिहास का काल-विभाजन भी प्रस्तुत किया गया है। इन्होंने चन्दबरदाई को हिन्दी का प्रथम कवि माना और भारतेन्दु तक के साहित्येतिहास को प्रस्तुत किया। इनकी मौलिकता का प्रभाव आाचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर भी स्पष्ट दिखाई देता है। जैसे इन्होंने हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल को राम, कृष्ण तथा निर्गुण धाराओं में विभाजित किया था। यह ग्रंथ भी तासी की भाँति पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं है, यथा भारत में आधुनिक साहित्य का आरंभ इन्होंने इसाई धर्म के प्रभाव से माना था।

सन् १९२२ ई.में प्रकाशित 'हिन्दी' शीर्षक पुस्तक को पंडित बदरीनारायण भट्ट ने हिन्दी भाषा का विकास और हिन्दी साहित्य का विकास दो खण्डों में प्रस्तुत किया। उन्होंने स्वीकार किया है कि पूर्ववर्ती कई इतिहास ग्रंथों का उपयोग अपनी पुस्तक के लेखन के लिए किया था। भाषा के सन्दर्भ में उन्होंने ग्रियर्सन की कई मान्यताओं को चुनौती दी है। इसी प्रकार अपभ्रंश को मिश्रित भाषा कहते हुए, हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग माना गया है, किन्तु चन्दबरदाई को इसका पहला कवि मानने से इनकार कर दिया। उसी प्रकार खुसरो को भी खड़ी बोली का पहला कवि कहा जाना इन्हें मान्य नहीं है। इनका इतिहास अति-संक्षेप में हिन्दी साहित्य के एक हज़ार वर्षों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है, जिसके भीतर इन्होंने कई मौलिक स्थापनाएँ देने का प्रयास किया है। इस क्रम में उन्होंने इतिहास का न तो कालों में विभाजन किया है और न प्रवृत्तियों के विकास-क्रम पर ही ध्यान दिया है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में भट्ट जी राष्ट्रवादी धारा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, जो एक प्रकार से विदेशी इतिहासकारों द्वारा लिखित इतिहासों का प्रतिरोध भी माना जा सकता है। उन्होंने तत्कालीन वर्तमान स्थितियों को दृष्टि में रखकर अपने

साहित्येतिहास को लिखने का प्रयास किया, जिसका आगे चलकर प्रभाव अथवा जिसकी दृष्टि-साम्यता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में देखने को मिलती है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ने एक ऐतिहासिक मोड़ उपस्थित किया। गार्सा दा तासी, ग्रियर्सन आदि पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्येतिसकारों के ग्रंथों की सामग्री का उपयोग करते हुए भी आचार्य शुक्ल ने उनके दोषों को टालते हुए हिन्दी साहित्येतिहास लेखन संभव बनाया। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन को योग्य आलोचना दृष्टि देने का कार्य आचार्य शुक्ल ने किया। उनके अनन्तर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दशा और दिशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन आए। उन्होंने तुलनात्मक, आलोचनात्मक आदि पद्धतियों का प्रयोग कर एक ओर कवियों को स्थापित किया तो दूसरी ओर अपनी गहन अध्ययन शैली का उपयोग करते हुए हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को अधिक तार्किकता प्रदान की। तथ्यों की साहित्य मूल्यों के अनुरूप व्याख्या प्रस्तुत कर आचार्य शुक्ल ने बाद के साहित्येतिहास लेखन के लिए संभावनाओं के द्वार खोल दिए।

आचार्य शुक्ल के इतिहास के प्रकाशन के बाद हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में शिप्रता देखी जा सकती है, जिनमें बाबू श्यामसुन्दर दास, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', सूर्यकान्त शास्त्री, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', डॉ.रामकुमार वर्मा के साहित्येतिहास ग्रंथ आए। इन साहित्येतिहास ग्रंथों में या तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इतिहास-दृष्टि का समावेश हुआ है अथवा वे उनके विरोध के रूप में लिखे गए हैं। आचार्य शुक्ल का इतिहास इन ग्रंथों का या तो आदर्श बनकर प्रस्तुत हुआ है अथवा वे उन्हें रचनात्मक किन्तु विरोधी ऊर्जा देनेवाला सिद्ध हुआ है। जहाँ बाबू श्यामसुन्दर दास आचार्य शुक्ल से भिन्न दृष्टि अपनाकर साहित्येतिहास लेखन में प्रवृत्त हुए थे, वहीं हरिऔध राष्ट्रवादी धारा का प्रतिनिधित्व करने की ईच्छा से। हरिऔध के इतिहास में इतिहास से अधिक वर्तमान का दबाव देखा जा सकता है। इसी दबाव के चलते उन्होंने भक्तिकालीन साहित्य को नवीन दृष्टि प्रदान करने का प्रयास किया। डॉ.रामकुमार वर्मा एक प्रकार से आचार्य शुक्ल द्वारा उपेक्षित कवियों को इतिहास में स्थान दिलवाने का प्रयास करते देखे जा सकते हैं।

आचार्य शुक्ल का इतिहास जहाँ छायावाद तक के साहित्य का विवेचन-विश्लेषण करता है, वहीं बाद के इतिहासकारों ने प्रगतिवाद आदि साहित्य को भी साहित्येतिहास में स्थान दिया है। भक्तिकाल, हिन्दी के आरंभिक उपन्यास, छायावाद आदि के प्रति आचार्य शुक्ल की दृष्टि की भी आलोचना करने का प्रयास बाद के इतिहासकारों ने किया। जैसे कबीर या रीतिकालीन कवियों के प्रति आचार्य शुक्ल की

दृष्टि को लेकर अधिकांश इतिहासकारों ने विरोध जताया है, किन्तु उनकी दृष्टि में आचार्य शुक्ल के पसन्दीदा कवियों के प्रति भी कोई पूर्वाग्रह नहीं देखा जा सकता है। यह बाद के समय में हुआ। जैसे आचार्य शुक्ल युग के प्रत्येक साहित्येतिहासकार ने तुलसीदास के प्रति आचार्य शुक्ल की दृष्टि की न सिर्फ सराहना की बल्कि उसे यथावत, कहीं-कहीं तो उनसे भी बढ़कर स्वीकार किया। अतः इस युग के साहित्येतिहासों में साहित्य के प्रति मूल्यों के टकराव को कम ही मात्रा में संभव होते हुए देखा जा सकता है। यह आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय के बाद के साहित्येतिहास लेखन में देखा जा सकता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में आने के बाद का समय हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के लिए अत्यन्त फलदायी रहा है। इसमें जहाँ एक ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में अभिव्यक्त साहित्येतिहास दृष्टि को चुनौतियों का सामना करना पड़ा वहीं इसे विस्तार भी देने का प्रयास कुछ साहित्येहासकारों ने किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शास्त्र की अपेक्षा लोक एवं पराजित मानसिकता की अपेक्षा स्वाभाविक विकास की अवधारणा के रूप में मानवतावादी एवं सांस्कृतिक इतिहास लेखन की परम्परा को स्थापित किया। इसके बाद के साहित्येतिहासकारों ने या तो आचार्य शुक्ल की दृष्टि से साहित्येतिहास लेखन किया अथवा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के। कहीं-कहीं नामकरण एवं काल-विभाजन में मौलिकता तो दिखाई पड़ती है, किन्तु उनमें प्रायः समुचित इतिहास दृष्टि एवं साहित्येतिहास-आलोचना का योग्य संयोग दिखाई नहीं देता है। आचार्य शुक्ल ने जिस विधेयवादी प्रणाली के द्वारा वस्तुवादी इतिहास को जन्म दिया, वह वस्तुवादी ऐतिहासिक दृष्टि आदर्शोन्मुख समाजनिष्ठ या उससे कुछ भिन्न रूप में साहित्य, संस्कृति और इतिहास को मानवतावादी दृष्टिकोण से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने परखकर उसे मानवतावाद की व्यापक चिन्तन परम्परा के रूप स्थापित किया है। जिसके मूल में मनुष्य की समता और सामूहिक स्वातंत्र्य की लोकमंगलकारी भावना थी। इसलिए उनके साहित्येतिहास दर्शन में सामाजिकता अनुस्यूत है, वैयक्तिकता नहीं। इसमें वह सामाजिक नैतिकता और स्वाधीनता की भावना एक साथ समन्वित है, जिसमें मानव कल्याण सर्वोपरि है।

डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद महत्त्वपूर्ण इतिहासकार के रूप में अपना नाम दर्ज करवाया। उन्होंने साहित्य एवं भाषा को संवेदनाओं एवं उसके विकास से तौलने का प्रयास करते हुए साहित्येतिहास का सैद्धान्तिक रूप प्रस्तुत किया। उनके साहित्येतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्येतिहास का अनुगमन भले ही दिखाई देता हो, किन्तु उन्होंने आचार्य शुक्ल द्वारा अनदेखे किए गए कवियों पर समुचित ध्यान दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने

साहित्येतिहास में आलोचना की तुलनात्मक पद्धति का योग्य एवं सार्थक प्रयोग किया है, जिससे उनके साहित्य मूल्यांकनमें सारगर्भिता एवं संश्लिष्टता आयी है। उनका साहित्येतिहास केवल हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं है, इससे आगे वह हिन्दी भाषा एवं हिन्दी जनता की संवेदनाओं का इतिहास भी है। आचार्य शुक्ल से भिन्न उन्होंने युगीन परिस्थितियों का अलग से प्रस्तुतीकरण नहीं किया, बल्कि उसे साहित्य के साथ संयोजित कर प्रस्तुत किया।

डॉ.बच्चन सिंह ने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की दूसरी ज़मीन तलाशने का प्रयास किया और अपने प्रण के साथ हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आचार्य शुक्ल की मान्यताओं की गहरी समीक्षा कर उससे 'संग्रह' और 'त्याग' दोनों किया। डॉ.बच्चन सिंह में अपनी पूर्ववर्ती साहित्येतिहास लेखन की परम्परा से ग्रहण के साथ विद्रोह का भाव भी दिखाई देता है। उन्होंने न केवल साहित्येतिहास के नामकरण और काल-विभाजन के क्षेत्र में अपना मौलिक दृष्टिकोण दिखाया, अपितु मूल्यांकन एवं साहित्येतिहास और आलोचना के सम्बन्धों को भी नयी दृष्टि प्रदान की।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के समय में सर्वाधिक हिन्दी साहित्य के इतिहास दर्ज किए गए हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री, बाबू गुलाबराय, रामअवध द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, राजकिशोर त्रिपाठी, गणपति चन्द्र गुप्त, रामखेलावन पाण्डेय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि का साहित्येतिहास लेखन अपनी युगीन परिस्थितियों एवं साहित्याभिरुचि से परिचालित है। इनके साहित्येतिहास लेखन ने अपने युगीन आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य की किन्तु साहित्येतिहास लेखन के इतिहास में वे वह अन्तर न उपस्थित कर पाए, जिसकी साहित्येतिहास लेखन में सदा आवश्यकता होती है। गणपति चन्द्र गुप्त ने इतिहास लेखन की विधेयवादी प्रणाली और आचार्य द्विवेदी की मानवतावादी संस्कृतिमूलक प्रणाली से भिन्न विकासवादी पद्धति के द्वारा हिन्दी साहित्य का नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया, जिसे वे वैज्ञानिक प्रणाली कहते हैं। साहित्येतिहास लेखन के क्रम में हिन्दी साहित्येतिहासों के अनन्तर हिन्दी भाषा का भी इतिहास प्रस्तुत किया जाता रहा है, जिससे इस काल का साहित्येतिहास लेखन मात्र साहित्य का इतिहास बनकर नहीं रह गया, अपितु वह सामाजिक-सांस्कृतिक और तो और राजनीतिक इतिहास भी होता चला गया। हिन्दी साहित्य का इतिहास कभी भी मात्र साहित्य का इतिहास नहीं रहा, वह किसी-न-किसी रूप में समाज का भी इतिहास रहा है। इस काल में यह प्रवृत्ति अधिक उभरकर सामने आयी, जिसने सामाजिक इतिहास के लेखन को भी साहित्येतिहास लेखन का अंग बनाकर अधिक सफल और सार्थक बनाया।

साहित्येतिहास लेखन में साहित्य एवं अन्य सामग्री की उपलब्धता के अनुसार प्रणालियों के प्रयोग में बदलाव आते गए। प्रणालियों में साहित्येतिहास लेखन के लिए आवश्यक ऐतिहासिक चेतना के अभाव ने एक प्रकार से साहित्यिक शोध एवं तथ्य संकलन के लिए प्रेरित भी किया। यदि आवश्यक तथ्य एवं सामग्री होती तो, संभवतः आरंभिक हिन्दी साहित्येतिहास लेखक वर्णानुक्रम और कालानुक्रम प्रणालियों का उपयोग ही नहीं करते। जब साहित्येतिहास लेखन के लिए आवश्यक सामग्री जुट गई तो अपने-आप इन पद्धतियों को तिलांजलि देकर साहित्येतिहास की विधेयवादी पद्धति को अपनाया गया। इसे सर्वप्रथम अपनाने का श्रेय तो डॉ.ग्रियर्सन को दिया जाना चाहिए, किन्तु इसका सफल प्रयोग पहले-पहल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास ग्रंथ में देखा जा सकता है।

वास्तव में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विधेयवादी पद्धति का उपयोग अपने साहित्येतिहास में किया किन्तु उनका सम्पूर्ण साहित्येतिहास मात्र इसी प्रणाली पर आधारित नहीं है। जहाँ-जहाँ उन्होंने विधेयवादी पद्धति को साहित्य की व्याख्या एवं इतिहास लेखन के लिए अपूर्ण पाया, वहाँ उन्होंने स्वतंत्र दृष्टि अपनाकर अपने साहित्येतिहास के माध्यम से विधेयवादी पद्धति की सीमाओं पर विजय पायी। व्यापक रूप में देखा जाए तो आाचार्य शुक्ल के हाथों में आकर साहित्येतिहास लेखन की विधेयवादी पद्धति अपनी सीमाओं को पार करती हुई देखी जा सकती है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में वैज्ञानिक पद्धति नामक पद्धति का भी उपयोग देखा जा सकता है। इसे वास्तव में अकादमिक पद्धति कहना अधिक समीचीन होगा, क्योंकि इस पद्धति का विकास अकादमिक जगत् द्वारा किया गया। जिसमें किसी पुष्ट सिद्धान्त या प्रतिष्ठित नियम के आधार पर वस्तु की तथ्यपरक, सर्वांगीन एवं बौद्धिक व्याख्या सुस्पष्ट शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। वास्तव में यह स्वतंत्र प्रणाली के रूप में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में कायम न हो सकी।

साहित्येतिहास लेखन की समाजशास्त्रीय प्रणाली अधिक तर्कसंगत एवं उपयोगी रूप में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में स्वीकृत हुई। यह प्रणाली जहाँ एक ओर अपनी पूर्ववर्ती सभी प्रणालियों को अपने में समा लेती है, वहीं दूसरी ओर उनके दोषों का समाधान भी प्रस्तुत करती है। विधेयवादी प्रणाली में साहित्य एवं परिस्थितियों में कार्य-कारण सम्बन्ध अनिवार्य रूप में स्थापित किया जाता था। समाजशास्त्रीय प्रणाली में यह सम्बन्ध विधेयवादी प्रणाली की भाँति यांत्रिक न रहकर अधिक तर्कसंगत और व्यावहारिक बनकर साहित्य की वर्गीय चेतना से जोड़कर देखा जाता है। संभवतः यही कारण है कि आचार्य हजारी प्रसाद के साहित्येतिहास लेखन में कबीर के साथ-साथ तुलसीदास को भी उचित स्थान दिया गया।

साहित्येतिहास लेखन की इन प्रणालियों के अतिरिक्त उसमें कई पद्धतियों का भी प्रयोग किया जाता है, जिसमें कोई भी पद्धति पूर्णतः सही नहीं कही जा सकती है। इसमें से किसी भी पद्धति से भले ही सम्पूर्ण इतिहास संभव नहीं होता, अपितु यह साहित्येतिहास लेखन का एक भाग मात्र है। साहित्येतिहास में कई बार एक साथ कई पद्धतियों का प्रयोग भी देखा जा सकता है। जैसे विधा-केन्द्रित पद्धति में साहित्येतिहासकार आलोचनात्मक और तुलनात्मक दोनों पद्धतियों का एक साथ प्रयोग कर सकता है। ठीक यही प्रक्रिया हमें रचनाकार केन्द्रित पद्धति में भी देखने को मिलती है। उसी प्रकार साहित्येतिहास लेखन की पद्धतियाँ ठहरी हुई नहीं होती हैं, इनका उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। जैसे इधर विमर्श-केन्द्रित पद्धति ने जोर पकड़ा है। इसके साथ ही हिन्दी में आते हुए विमर्शों के बाढ़ में दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्शों के अतिरिक्त अन्य भी विचारधाराओं-भावधाराओं से इतिहास लेखन के प्रयास निकट भविष्य में हो सकते हैं। इसी क्रम में तुलनात्मक पद्धति भी ठीक वही नहीं रह गई है, जो "बिहारी बड़े कवि हैं या देव?" के समय में थी। आज हिन्दी साहित्येतिहासकार केवल हिन्दी या भारतीय रचनाकारों से तुलना करके संतुष्ट नहीं हो जाते हैं, बल्कि उनकी दृष्टि योरोपीय, लैटिन अमरिकी के साथ कई पूर्वी देशों के साहित्यकारों पर भी जा रही है। अब विधा-केन्द्रित पद्धति मात्र किसी विधा-विशिष्ट पर ही केन्द्रित नहीं रह गई है, अपितु उस विधा के समकालीन कई अन्य विधाओं के विकास को भी इसके अन्तर्गत रेखांकित किया जा रहा है। जैसे प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा, मुक्तिबोध आदि के साहित्य को समझने के लिए अनिवार्यतः उनके द्वारा लिखित सभी विधाओं को समझना भी आवश्यक हो जाता है। विधा-केन्द्रित इतिहास अधिक व्यापक रूप में हमारे सामने आते हैं। ऐसे में अनिवार्यतः यह समझना होगा कि साहित्येतिहास लेखन की पद्धतियों की संख्या को इतने में सीमित करके नहीं देखना चाहिए। इनका उत्तरोत्तर विकास होता रहेगा। वर्तमान पद्धतियों में विकास होकर उनका रूप बदलेगा और नई पद्धतियाँ सामने आती रहेगी तथा पूर्णतः नवीन पद्धतियों का भी विकास होगा। इस विकास के साथ ही साहित्येतिहास अधिक-से-अधिक रचनात्मक एवं सार्थक होता जाएगा।

साहित्येतिहास की अवधारणा विकसनशील रही है। इतिहास की धारणा की भाँति साहित्येतिहास की अवधारणा में युगानुरुप परिवर्द्धन-परिवर्तन होते आए हैं, इससे साहित्येतिहास के मूलभूत ढाँचे, लेखन पद्धति, मूल्यांकन पद्धति, दृष्टि आदि में काफ़ी अन्तर आता गया है। इसका श्रेय साहित्येतिहास की परिवर्तित होती हुई अवधारणा को दिया जा सकता है। साहित्येतिहास की अवधारणा एवं उसके

व्यावहारिक रूप में आए बदलाव एक ओर साहित्य की गतिमानता की ओर संकेत करते हैं तो दूसरी ओर साहित्येतिहास की व्यापकता की ओर। इस व्यापकता में मानवीय चिन्तन से लेकर ज्ञान-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान के क्षेत्र में हो रहे बदलावों को भी गिनाया जा सकता है। समय के साथ साहित्येतिहास लेखन अधिकाधिक अन्तर्वेशी बनता गया और उसकी अवधारणा में गतिमान विकास होता गया।

साहित्य के विकास के साथ उसके अतीत के सम्बन्ध में शोध भी होते रहते हैं। साहित्य के अतीत सम्बन्धी शोधों की आवश्यकता साहित्येतिहास की आपूर्ति भर के लिए नहीं होती, वरन् वर्तमान साहित्य कई मायनों में अपने अतीत के रचना, रचनाकार या रचना-युग से प्रेरणा पाता रहता है। इस क्रम में साहित्येतिहास के लिए केवल सामग्री ही उपलब्ध नहीं होती है, बल्कि इससे साहित्येतिहास में बदलाव भी होते रहते हैं। साहित्येतिहास अतीत के साथ-साथ वर्तमान मूल्यों के आधार पर भी अपने इतिहास का मूल्यांकन करता है। इस अर्थ में साहित्येतिहास गतिमान होता है और साहित्येतिहास परिवर्तनशील होता है। साहित्येतिहास की अवधारणा में केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नहीं करता, अपितु वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। इसके उदाहरण रूप में हिन्दी साहित्येतिहास में कवियों के महत्व की बदलती हुई स्थिति को देखा जा सकता है। आचार्य शुक्ल के साहित्यिक मूल्यों में सगुण साहित्य का तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक मूल्यों में कबीर का अतिरिक्त महत्व इन्हीं मूल्यों के चलते स्थापित हो पाया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद हिन्दी साहित्येतिहास लेखन साहित्यिक एवं सामाजिक मूल्यों को लेकर दो भागों में बँट गया। एक प्रकार की साहित्येतिहास दृष्टि का प्रतिनिधित्व आचार्य शुक्ल कर रहे थे तो दूसरे का आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी। आचार्य द्विवेदी के बाद के समय में बहुत सारे इतिहास ग्रंथ इन्हीं दो दृष्टियों को लेकर आगे बढ़ते रहे और कुछ मायनों में अभी भी बढ़ रहे हैं। डॉ.बच्चन सिंह ने 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को नवीन दृष्टि देने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने अपनी साहित्यिक दृष्टि का निर्माण अपने समकालीन साहित्य के आधार पर भी किया, उसी प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्य दृष्टि में उनके समकालीन प्रगतिवादी आन्दोलन के मूल्यों को सक्रिय रूप में देखा जा सकता है। ठीक उसी प्रकार डॉ.बच्चन सिंह ने अपने समय तक इतिहास पर हुए शोधों का आधार अपने साहित्येतिहास लेखन के लिए किया। इसी क्रम में डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी का नाम भी लिया जा सकता है। हिन्दी साहित्य में चल रहे विमर्शवादी स्वर का प्रभाव ही है, जो हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में सुमन राजे का स्त्री विमर्श के स्वर से युक्त 'हिन्दी साहित्य

का आधा इतिहास' सामने आया है। नए मूल्यों के उद्‌भव के साथ हर पीढ़ी को नए साहित्येतिहास की आवश्यकता महसूस होती रहेगी, जिसमें अनिवार्य रूप से पिछली पीढ़ी के साथ मूल्य-संघर्ष निर्माण होगा। इसे नए साहित्येतिहास के माध्यम से ही पूर्ण किया जा सकेगा।

दो पीढ़ियों के बीच साहित्यिक-सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनैतिक मूल्यों में टकराहट और समन्वय साहित्येतिहास की अवधारणा के अतिरिक्त नामकरण एवं काल-विभाजन में भी देखी जा सकती है। अधिकांश काल-विभाजन एवं नामकरण के केन्द्र में काव्य-साहित्य ही रहा है। गद्य साहित्य को केन्द्र में रखकर साहित्य में न तो काल-विभाजन प्रचलित हो पाया है और न ही नामकरण ही। अभी तक एक भी इतिहास ग्रंथ में गद्य एवं पद्य साहित्य में सन्तुलन स्थापित करते हुए नामकरण एवं काल-विभाजन करने में किसी भी साहित्येतिहासकार को सफलता नहीं मिल पायी है। रीतिकाल तक के साहित्य के सन्दर्भ में काल विभाजन को लेकर आचार्य शुक्ल की दृष्टि को सही माना जा सकता है। हिन्दी साहित्य में सन् १८५७ ई. से आधुनिक साहित्य का आरंभ मानना अधिक तर्कसंगत लगता है, जैसाकि बच्चन सिंह ने प्रस्तावित किया है। भारतेन्दु युग को पर्याय रूप में 'पुनर्जागरण और परिवर्तन काल' भी कहा जा सकता है, जैसाकि ऐडविन ग्रिब्ज़ ने कहा था। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता आदि नामकरणों एवं उनके आरंभिक वर्षों को लेकर अधिक विवाद नहीं हैं। छायावाद के प्रथम कवि प्रसाद, पंत, निराला में से कौन हैं, इस विवाद को भूलकर सन् १९१८ ई. में 'झरना' के प्रकाशन से छायावाद का आरंभ माना जाना चाहिए। सन् १९३६ ई. में हुए प्रगतिशील साहित्य सम्मेलन से हिन्दी में प्रगतिवाद का आरंभ माना जाए तो बेहतर होगा। वैसे प्रगतिवादी आन्दोलन अपनी प्रौढ़ता में समकालीन साहित्य तक मौजूद है, किन्तु सन् १९४३ ई. में प्रकाशित 'तारसप्तक' से प्रयोगवाद का आरंभ माना जाए। इसके बाद कई काव्यान्दोलन आते हैं, इनका भी समुचित मूल्यांकन हिन्दी साहित्येतिहास के अन्तर्गत किया जाना चाहिए किन्तु उनकी प्रवृतियाँ तय करके नामकरण अथवा काल-विभाजन करना दुभर कार्य है। इधर के समय में हिन्दी आलोचना में साठोत्तरी कविता, सत्तर के दशक के बाद का हिन्दी साहित्य, अन्तिम दशक की हिन्दी कविता आदि नाम प्रचलित हो चले हैं। विमर्शों के चलते समाज की तरह साहित्य को भी बाँटकर उन्हें आदिवासी, दलित, स्त्री आदि कोटियों में विभाजित किया जा रहा है।

नामकरण की भाँति विभिन्न साहित्यिक आन्दोलनों को लेकर भी हिन्दी साहित्येतिहास में मतैक्य नहीं है। आदिकाल के उदय से उसके काल, हिन्दी का प्रथम कवि, भाषा का आरंभ, प्रथम रचना,

संदिग्धता-असंदिग्धता जैसे गंभीर प्रश्न जुड़े हुए हैं। भक्ति आन्दोलन के उदय के सम्बन्ध में सर्वाधिक मतभिन्नता देखने को मिलती है। 'भक्ति द्रविडी उपजी' को सभी साहित्येतिहासकार वैदुष्य स्तर पर मान्यता देते हैं, किन्तु उत्तर में उसके प्रवास एवं स्थिर होकर विकसित होने और उसकी रीतिवादी परिणति पर इतिहासकार अपनी-अपनी राय रखते हैं। भक्ति आन्दोलन के उद्भव की जितनी व्याख्याएँ की गई है, उतनी ही उसके विकसित होकर असामाजिक रीतिवादी दरबारी काव्य में बदल जाने की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। यह प्रश्न वैसे ही अनुत्तरित छोड़ दिया गया, जिस प्रकार आचार्य शुक्ल आधुनिक गद्य का प्रवर्तन नाटकों से होने का उल्लेख करते हुए उस पर केवल आश्चर्य व्यक्त करके अनुत्तरित छोड़ देते हैं। छायावादी काव्यान्दोलन हिन्दी साहित्येतिहास में मूल्यांकन सम्बन्धी कई कठिनाइयों को लेकर उपस्थित हुआ। रहस्यवाद, काव्य की सामाजिकता, शैली विशेष के प्रयोग, खड़ी बोली में मधुरता, देशी-विदेशी प्रभाव आदि बिन्दुओं को साहित्येतिहासकारों ने उपस्थित किया। प्रयोगवाद को विचारधारा विशेष का पिछलग्गू माना जाए अथवा युग की देन? इस सम्बन्ध में साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में डॉ.बच्चन सिंह और डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी तक आना पड़ा। हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद के बाद आन्दोलन के रूप में प्रयोगवाद को स्थान दिया जाता है, जिसका आरंभ अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तार सप्तक' (सन् १९४३ ई.) से होता है। इसमें साहित्येतिहासकारों के बीच कोई मतभेद देखने नहीं मिलता। इसके बाद के साहित्यिक आन्दोलनों को, आन्दोलन के रूप में नहीं देखा जा सकता है। क्योंकि कोई भी वैचारिक-सामाजिक आन्दोलन साहित्य में न तो प्रतिफलित हुआ और न वैसी एकल प्रवृत्तियाँ ही साहित्य में देखने को मिलती हैं। कुछ आयातित प्रवृत्तियों के चलते हिन्दी में स्त्रीवाद, दलित, आदिवासी और पसमान्दा आदि विमर्श चले आए हैं, जिन्हें 'आन्दोलन' भी कहा जाता है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में अभी इन्हें स्थान नहीं मिल पाया है, क्योंकि इधर कोई साहित्येतिहास प्रकाश में नहीं आया। इन्हें लेकर हिन्दी आलोचना में खूब बहस-मुबाहिसें जारी हैं, किन्तु अभी हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने इनके सन्दर्भ में कोई मत प्रस्तुत नहीं किया है।

साहित्येतिहास में साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा आन्दोलनों के उद्भव एवं उसके विकास के पीछे की परिस्थितियों को प्रस्तुत करने और उन्हें समझने-समझाने की दृष्टियों में भी अन्तर देखने को मिलता है। इस दिशा में भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल के सन्दर्भ में अधिक मतवैभिन्य दिखाई देते हैं। आरंभिक इतिहासकारों ने छायावाद को पलायनवाद, रहस्यवाद तथा शैली विशेष से जोड़ते हुए मात्र

साहित्यिक आन्दोलन माना था। डॉ.बच्चन सिंह ने छायावाद की सामाजिक भूमिका पर प्रकाश डाला तो डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'शक्ति काव्य' के रूप सांस्कृतिक-राजनैतिक जड़ों की तलाश करने का प्रयास किया। प्रयोगवादी आन्दोलन को बजाए सामाजिक-राजनैतिक आवश्यकता के रूप में रेखांकित करने के आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसे मात्र मार्क्सवाद से प्रेरित एक राजनैतिक आन्दोलन माना। प्रयोगवाद की सामाजिक भूमिका को रेखांकित करने के क्रम में भी इसे मात्र एक साहित्यिक पहल के रूप में रेखांकित किया गया। डॉ.बच्चन सिंह इसे आधुनिकतावाद से जोड़कर देखते हैं तो डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी 'तार सप्तक' के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का प्रवेश मानते हैं। इसी प्रकार हिन्दी में प्रयोगवादी कविता, नई कविता और उसके बाद आनेवाले साहित्यिक आन्दोलनों, हिन्दी रंगमंच में आनेवाले इप्टा (IPTA), जनवादी नाट्य मंच आदि मंचन मंडलियों, नाट्य साहित्य में आनेवाली पौराणिक-मिथकीय चेतना, काव्य-नाट्य का जोरदार प्रसार, विभिन्न किसान-मज़दूर आन्दोलनों एवं उसके साथ आनेवाले नुक्कड़ नाटक, प्रगतिवाद से भिन्न किन्तु वैचारिक स्तर पर उसी से जुड़नेवाली जनवादी कविता, दुष्यन्त के माध्यम से हिन्दी में ग़ज़ल का चरमोत्कर्ष आदि को उनकी युगीन परिस्थतियों में सूक्ष्मता से विवेचित करना अभी बाकी है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में सैद्धान्तिक क्षेत्र के विकास में संस्कृत काव्यशास्त्र, पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों के साथ-साथ कई आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक विमर्शों ने भी अपना योगदान दिया। इस रूप में रस, अलंकार, ध्वनि आदि सैद्धान्तिक मान्यताओं का भी पुनर्पाठ किया गया। इस चिन्तन की नवीनता ने भी हिन्दी साहित्येतिहास लेखन पर अपेक्षित प्रभाव डाला और हिन्दी आलोचना में इसके आधार पर कई सिद्धान्तों का निर्माण भी हुआ, किन्तु हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के सिद्धान्त निर्माण क्षेत्र पर इसका कम ही प्रभाव देखा जा सकता है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में स्त्री लेखन ने सैद्धान्तिक स्तर पर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन को अवश्य प्रभावित किया है। सुमन राजे द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास को नए स्त्रीवादी दृष्टिकोण से बगैर नारेबाज़ी के प्रस्तुत करता है। वैज्ञानिकता और आलोचनात्मक इतिहास लिखने का दावा करनेवाले साहित्येतिहासकार भी दृष्टि की नवीनता तो दिखाते हैं, किन्तु सैद्धान्तिक विकास की दिशा में वे निराश करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद हिन्दी आलोचना ने अपना विकास कई दिशाओं में किया, किन्तु सिद्धान्त निर्माण एवं उसके व्यावहारिक उपयोग में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में नैराश्य ही छाया रहा।

हिन्दी साहित्येतिहास की पुस्तकों में आधुनिकता, आधुनिकतावाद, पुनर्जागरण के सन्दर्भ में साहित्य के सम्बन्धों को लेकर कोई मौलिक धारणा की अभिव्यक्त नहीं हुई है। प्रायः इतिहासकारों ने आधुनिक काल के आरंभ में साहित्येतिहास के क्रम एवं साहित्य में आए बदलावों को नोटिस किया है और मध्यकालीनता से आधुनिक साहित्य की भिन्नता की ओर संकेत किए हैं। डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ.बच्चन सिंह आदि जैसे बहुत कम हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने इस अवधारणा को साहित्य के सन्दर्भ में समझने-समझाने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने आधुनिकता का प्रयोग नए बदलावों के सन्दर्भ में किया था, जिसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास लेखन में अवधारणात्मक स्तर पर स्वीकार किया गया। जिस प्रकार हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद का इतिहास लेखन आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी के खेमों में बँट गया था, उस रूप में आधुनिकता की अवधारणा एवं आधुनिक साहित्य में आए मूलभूत बदलावों को लेकर विभाजन की स्थिति नहीं दिखाई देती है। अवधारणात्मक स्तर पर जैसे-जैसे समाज विज्ञान में आधुनिकता सम्बन्धी चर्चा में स्पष्टता आती गई, उसी अनुपात में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में भी इसके प्रयोग होते हैं।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की अवधारणा एवं उसकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ तथा व्यावहारिक रूप में इतिहास लेखन अपने शताधिक वर्षों में कई मायनों में परिवर्द्धित-परिवर्तित होता आया है। वैचारिक एवं भावनात्मक-संवेदनात्मक रूप में सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के साथ भाषा का इतिहास भी प्रस्तुत करने की जिम्मेदारी का वहन करना हिन्दी साहित्येतिहास के लिए अनिवार्य होता जा रहा है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन ने अपने शोध एवं आलोचना से सम्बन्धों को सन्तुलित करने में हमेशा महती भूमिका का निर्वहन किया है।

आधार ग्रंथ

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ.बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-01, संस्करण : 2010.
2. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दी परिषद, इलाहाबाद, संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण : 1954.
3. इतिहास क्या है? – ई.एच.कार, अनुवाद अशोक चक्रधर, मैकमिलन एण्ड कम्पनी लि., प्रथम संस्करण : 1976.
4. मिश्रबन्धु विनोद - मिश्रबन्धु, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, संस्करण : 1956.
5. शिवसिंह सरोज - शिवसिंह सेंगर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण : 1970.
6. हिन्दी – पण्डित बदरीनारायण भट्ट, गंगा पुस्तक, लखनऊ, संस्करण : 1945.
7. हिन्दी का दूसरा इतिहास – डॉ.बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दरियागंज, नई दिल्ली, चौथी आवृत्ति : 2005.
8. हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका – डॉ.शंभुनाथ, चौखम्बा प्रकाशन, वारणसी, संवत् 2023.
9. हिन्दी काव्य संवेदना का विकास – डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, बाइसवां संस्करण-2009.
10. हिन्दी गद्य विन्यास और विकास – डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-01, पुनर्मुद्रण : 2014.
11. हिन्दी भाषा और साहित्य – बाबू श्यामसुन्दर दास, इंडियन प्रेस, प्रयाग, दसवाँ संस्करण : 1956.
12. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास - आचार्य चतुरसेन शास्त्री, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, लाहौर, संस्करण : 1943.
13. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास - अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', किताब महल, प्रयाग, संस्करण : 1934.
14. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.,1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-02, तेरहवीं आवृत्ति : 2014.

15. हिन्दी साहित्य : एक ऐतिहासिक समीक्षा - पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, लोक चेतना प्रकाशन, जबलपुर, संस्करण : 1979.

16. हिन्दी साहित्य : एक रेखांकन – ऐडबिन ग्रिब्ज़, अनुवाद, डॉ.किशोरीलाल गुप्त, हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग, (अ स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर-ऐडबिन ग्रिब्ज़-1918).

17. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-01, उन्नीसवाँ संस्करण : 2006.

18. हिन्दी साहित्य का अतीत (दो भाग) – आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण : 2006.

19. हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास – डॉ.मोहन अवस्थी, सरस्वती सदन प्रकाशन, प्रयाग, संस्करण : 1970.

20. हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास - डॉ.मोहन अवस्थी, सरस्वती सदन प्रकाशन, प्रयाग, संस्करण : 1970.

21. हिन्दी साहित्य का आदिकाल – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2006.

22. हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास – डॉ.सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2004.

23. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – डॉ.रामकुमार वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-01, आठवाँ संस्करण : 2010.

24. हिन्दी साहित्य का इतिहास – फ्रैंक.ई.के, अनुवाद डॉ.सदानन्द साही, लोकायत प्रकाशन, गोरखपुर, प्रथम संस्करण 1920 (हिन्दी अनुवाद 1998).

25. हिन्दी साहित्य का इतिहास – लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-01, संस्करण : 2009.

26. हिन्दी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सड़क, नई दिल्ली-06, संस्करण-2002.

27. हिन्दी साहित्य का नया इतिहास – रामखेलावन पाण्डेय, अनुपम प्रकाशन, पटना, प्रथम संस्करण : 1969.

28. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास - जॉर्ज ग्रियर्सन, अनुवाद-किशोरीलाल गुप्त, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण : 1961.

29. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास – सूर्यकान्त शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, प्रथम संस्करण : 1932.

30. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास - डॉ.रामअवध द्विवेदी, भारतीय भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण : 1953.

31. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास - राजकिशोर त्रिपाठी, अरुण प्रकाशन, कोलकाता, संस्करण : 1963.

32. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास - राजनाथ शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, संस्करण :1968.

33. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (दो भाग) – डॉ.गणपति चन्द्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-01, बारहवाँ संस्करण : 2010.

34. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास – बाबू गुलाबराय, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, संस्करण : 1952.

35. हिन्दी साहित्य की भूमिका – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.,1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-02, संस्करण : 2006.

36. हिन्दी साहित्य साहित्य का इतिहास - डॉ.रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', रामदयाल अग्रवाल, शान्ति प्रेस, प्रयाग, संस्करण : 1931.

37. हिन्दी साहित्यानुशीलन - डॉ.स्नातक सत्यकाम वर्मा, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, संस्करण : 1962.

38. हिन्दी साहित्यानुशीलन - सत्यकाम वर्मा, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1962.

39. हिन्दुई साहित्य का इतिहास – गार्सा द तासी, अनुवाद डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग, संस्करण : 1953.

सन्दर्भ ग्रंथ

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : मूल्यांकन और मूल्यांकन– खगेन्द्र ठाकुर, नीलाभ प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-01, प्रथम संस्करण : 2007.
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना - डॉ.रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण : 1987.
3. आचार्य शुक्ल का इतिहास पढ़ते हुए– डॉ.बच्चन सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण : 1989.
4. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य - डॉ.चौथीराम यादव, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण : 1981.
5. आदिग्रंथ में संग्रहित सन्त कवि – डॉ.महिप सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-03, पहला संस्करण 2003.
6. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ – नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-01, नवीन संस्करण : 2008.
7. आलोचना की धारणाएँ – रेनेवेलेक, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, द्वितीय संस्करण : 1980.
8. इतिहास और आलोचना – नामवर सिंह, सत्साहित्य प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण : 1956.
9. इतिहास और साहित्येतिहास - डॉ.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, भारतीय साहित्य प्रकाशन, 286, चाणक्यपुरी, सदर, मेरठ-01, प्रथम संस्करण : 1984.
10. इतिहास और साहित्येतिहास -लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, भारतीय साहित्य प्रकाशन, चाणक्यपुरी, सदर, मेरठ-1, प्रथम संस्करण : 1984.

11. एक साहित्यिक की डायरी - गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड़, नई दिल्ली, ग्यारहवाँ संस्करण : 2011.

12. काव्यभाषा पर तीन निबंध – डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1989.

13. छायावाद – नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.,1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-02, दसवीं आवृत्ति : 2010.

14. जायसी - विजयदेव नारायण साही, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, संस्करण : 1983.

15. पल्लव, भूमिका – सुमित्रानन्दन पंत, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.,1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-02, संस्करण 2006.

16. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य – मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, चुतर्थ संस्करण : 2003.

17. भक्ति का समाजदर्शन - डॉ.प्रेमशंकर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2000.

18. रीतिकाव्य की भूमिका - डॉ.नगेन्द्र, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, छठा संस्करण : 1969.

19. वाङ्मय विमर्श – आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण : 1999.

20. साहित्य और इतिहास दृष्टि – मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-02, संस्करण : 2005.

21. साहित्य का इतिहास दर्शन – आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, संस्करण : 1960.

22. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण : 1989.

23. साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप – डॉ.सुमन राजे, ग्रंथम्, रामबाग़, कानपुर-12, प्रथम संस्करण : 1975.

24. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग - नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1952.

25. हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल विभाजन एवं नामकरण – डॉ.रमेशचन्द्र गुप्त, निर्मल बुक एजन्सी, सी-42, विश्वविद्यालय परिसर, कुरुक्षेत्र-19, संस्करण : 2002.

26. हिन्दी साहित्य का इतिहास : कालविभाजन एवं नामकरण – डॉ.रमेशचन्द्र गुप्त, निर्मल बुक एजेन्सी, कुरुक्षेत्र, संस्करण : 2002.

27. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पाश्चात्य स्रोतों का अध्ययन – डॉ. हरमेन्द्र सिंह बेदी, प्रतिभा प्रकाशन, होशियारपुर, प्रथम संस्करण : 1985.

28. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएँ – सम्पादन श्याम कश्यप, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, ई.ए/ 6 मॉडल टाउन, दिल्ली-09, प्रथम संस्करण : 1994.

29. हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन – आनन्द नारायण शर्मा, अनुपम प्रकाशन, पटना, प्रथम संस्करण : 1987.

30. हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन – डॉ.शिवकुमार, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1978.

31. हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन – डॉ.रूपचन्द पारीक, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, प्रथम संस्करण : 1972.

32. हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास – डॉ.किशोरीलाल गुप्त, बिभू प्रकाशन, साहिबाबाद, संस्करण : 1978.

33. हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक प्रक्रिया - डॉ.हरिश्चन्द्र मिश्र, श्यामा प्रकाशन संस्थान, दारागंज, इलाहाबाद, प्रथम आवृत्ति : 1996.

34. हिन्दी साहित्येतिहास में युग निर्धारण - डॉ.सुधा अग्रवाल, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण : 1989.

कोश

1. हिन्दी साहित्य कोश (दो भाग) – सम्पा.धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल लिमिटेड, सन्त कबीर रोड़, वारणसी-01, पुनर्मुद्रण: मई 2007.
2. भारतीय मिथक कोष - डॉ.उषापुरी वाचस्पति, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, 2/35, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-02, चौथा संस्करण-2004.

पत्र-पत्रिकाएँ

1. आलोचना, इतिहास विशेषांक, 1952.
2. धर्मयुग, अगस्त 1964.
3. समीक्षालोक, हिन्दी साहित्य का इतिहास अंक, जुलाई-अक्तूबर, 1972.
4. सरस्वती, 1901.
5. हिमप्रस्थ, मार्च-अप्रैल, 1975.